१९०-९२
फरवरी-अप्रैल १९८७
वर्षं १६
अंक १०-१२

NO-057648
LO-43015

तीर्थंकर

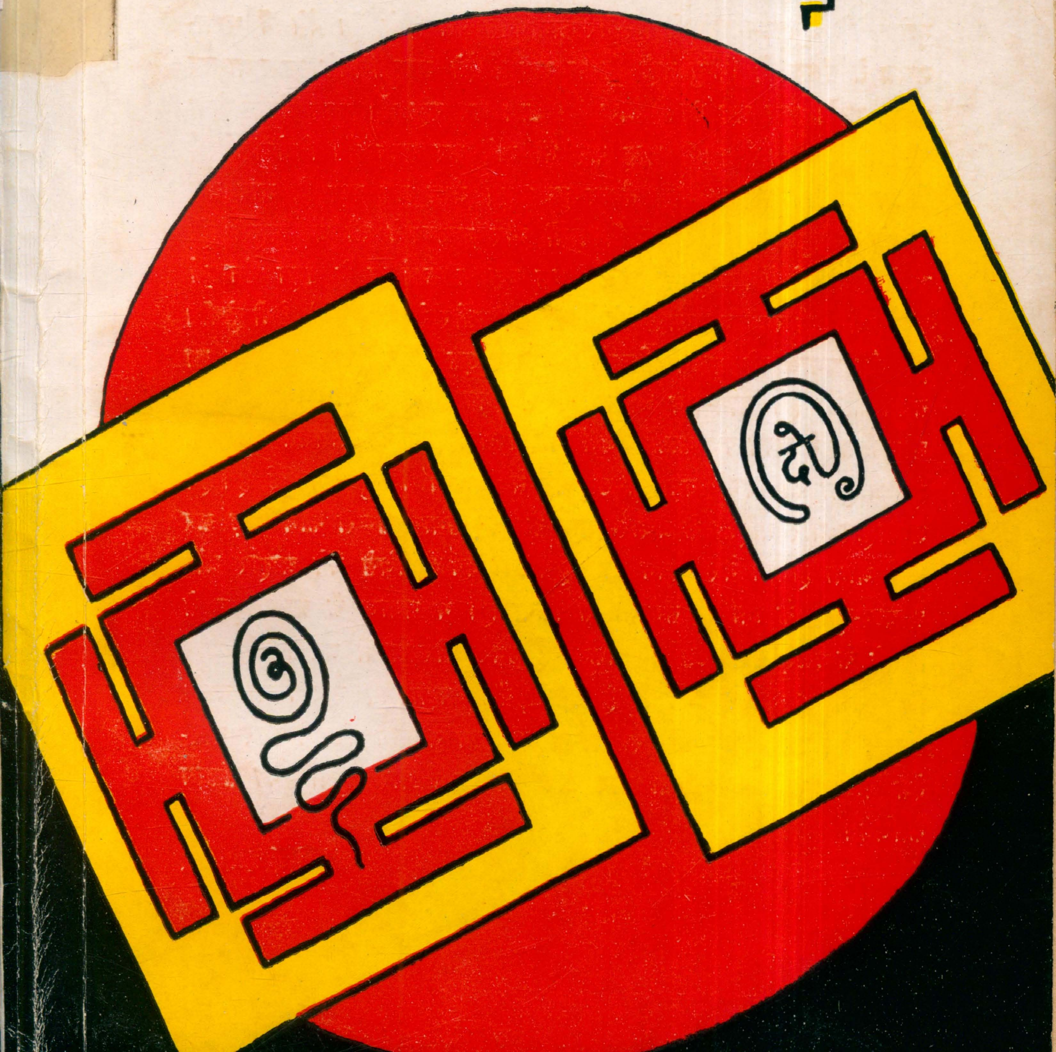

कृतज्ञता और आह्वान

आज से दो मास पूर्व इसी पृष्ठ पर मैंने अपने दाहिने हाथ में गहन चोट आने के समाचार अपने प्रिय पाठकों/मित्रों/हितैषियों को दिये थे; फलस्वरूप मुझे उनके शुभकामनाओं से हरे-भरे अनगिनत पत्र मिले हैं। वैसे मैं भाषा-शास्त्र से संबद्ध हूँ; किन्तु नहीं ढूंढ़ पा रहा हूँ ऐसे शब्द जिनके द्वारा आभार व्यक्त करूँ। हाथ अब काफी ठीक है। काम कर रहा हूँ। सुस्त बैठना मेरा संस्कार नहीं है। वैसा : मैं चाह कर भी नहीं कर सका हूँ। विशेषांक कई विषम परिस्थितियों के बीच तैयार हुआ है। जैसा बन पड़ा है, आप तक निःसंकोच पहुँच रहा है। अन्धविश्वासों और आडम्बरों की जड़ें गहरी हैं। उनसे सभी मोर्चों पर जूझना होगा। एक व्यापक कार्यक्रम के तहत जैन धर्म और दर्शन की सही जानकारी लोगों को (खासतौर से जैनों को) देनी होगी। पूरे जैन समाज को आपसी विवाद छोड़ कर एक होना होगा। अस्तित्व का संघर्ष तीखा है। खान-पान और रहन-सहन काफी अशुद्ध हुए हैं। मांसाहार और हिंसा ने अपने पंजे काफी तेज किये हैं। शाकाहार का प्रतिशत घट गया है। अहिंसा की 'चर्चा' बढ़ी है, उस पर से 'आस्था' किन्तु कम हुई है। हमें शाकाहार और अहिंसा के प्रचार-प्रसार के लिए तमाम जरूरी काम छोड़ कर आगे आना होगा। मेरे जीवन का यह साठवाँ वर्ष है, जिसे मैंने आहार और आचार-शुद्धि के निमित्त समाजार्पित किया है। मैं समाज के आबालवृद्ध से मिलने के लिए उत्कण्ठित हूँ ताकि उन्हें उनके गौरवशाली अतीत की, और जिस धर्म के मानने वाले वे हैं उसकी, वैज्ञानिकता की याद दिला सकूँ। आइये, मेरे इस मिशन और रचनात्मक अभियान में हाथ बँटाइये और सारे-देश में जन-जन तक अहिंसा और शाकाहार का विचार पहुँचाने का संकल्प कीजिये।

—नेमीचन्द जैन

तीर्थंकर

विचार-मासिक

सद्विचार की वर्णमाला में सदाचार का प्रवर्तन

टोना - टोटका / जंतर - मंतर विशेषांक

वर्ष १६; अंक १०-११-१२; फरवरी-मार्च-अप्रैल १९८७
माघ-फाल्गुन-चैत्र वि. सं. २०४३-४४; वी. नि. सं. २५१३

संपादक : डॉ. नेमीचन्द जैन
प्रबन्ध संपादक : प्रेमचन्द जैन
आकल्पन : संतोष जड़िया
छायांकन : विश्वास जैन

हीरा भैया प्रकाशन
६५, पत्रकार कॉलोनी, कनाड़िया मार्ग,
इन्दौर-४५२ ००१, मध्यप्रदेश

दूरभाष : ५८०४

वार्षिक शुल्क : पैंतीस रुपये
प्रस्तुत अंक : पन्द्रह रुपये
आजीवन : तीन सौ रुपये
विदेशों में वार्षिक : दो सौ रुपये

नईदुनिया प्रिंटरी, इन्दौर-४५२००९ द्वारा हीरा भैया प्रकाशन, इन्दौर के लिए मुद्रित

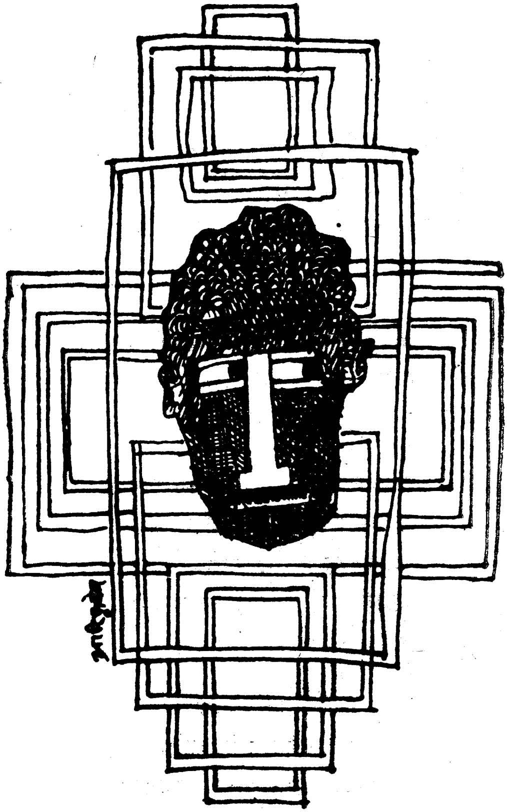

छोड़ दे, जो कुछ बचे हैं तीर वह भी छोड़ दे ।
टूट जाए जो तिलिस्मे जीस्त[1] आबोगिल[2] में है ।।

---

1. जीवन का मायाजाल 2. मनुष्य का ढांचा ।

क्या / कहाँ

माणव-विद्या
—संपादकीय ५
टोने-टोटके के जाल में ११
आरोपित संशय १२
विरोधाभास १३
भ्रमित मन की भूलें १४
अन्धविश्वास की फसल १५
(कविताएँ)
—दिनकर सोनवलकर ११-१५
नहीं चल सकते अँधेरों में अब हम
—डॉ. दौलतसिंह कोठारी १६
सार्थकता तभी होगी शब्दों की (कविता)
—रघुनन्दन चिले १९
जैन तन्त्र-परम्परा : उद्भव और विकास
—नेमीचन्द जैन २१
अन्धविश्वास : एक व्याख्या यह भी
—डॉ. रनवीर सक्सेना ३१
'सिद्ध' : कितने अर्थ ?
—प्रलयंकर ३३
प्राचीन मन्त्र-साहित्य ३९
शकुन, स्वप्न, रमल, निमित्त आदि से संबन्धित प्राचीन साहित्य ४१
मैं : प्रेरणा : प्रक्रिया : विशेषांक ४५
भट्टारक-संस्था और मन्त्र-तन्त्र (बातचीत)
—श्री चारुकीर्ति भट्टारक (श्रवणबेलगोल)/डॉ. नेमीचन्द जैन ६९
मिट्टी-जैसी विनम्रता (बोधकथा)
—शेख सादी ८१
'लघुविद्यानुवाद' उर्फ़ कुन्थु-कथा-सागर
—प्रलयंकर ८२
लोक-विश्वास के आईने में शकुन-अपशकुन
—डॉ आदित्य प्रचण्डिया 'दीति' ९७
केन्वस नया, रंग पुराने
—डॉ. एम.पी. पटैरिया १०२
स्वप्न : हवाई किले या ठोस धरती
—डॉ. रवीन्द्रकुमार जैन ११३

टोने-टोटके : विकृत मन की परछाँहियाँ
—डॉ. अनिलकुमार जैन ११९
साधु-संत विद्वान् बुद्धिजीवी तक इस चक्कर में हैं (कविता)
—राजमल पवैया १२५
काठ ज्यों कटत है
ठानि-ठानि श्रमभूमि—
(कविता)
—बनारसीदास १२८
जैनधर्म के आराध्य देवता
—डॉ. कन्छेदीलाल जैन १२९
साधु-संस्था और चमत्कार
—नरेन्द्र प्रकाश जैन १३५
तन्त्र-मन्त्र : प्रासंगिक कितने ?
—कन्हैयालाल सरावगी १३९
देखें; जब कभी; इनमें-से, आगे और
—नेमीचन्द जैन १४३
जैन स्वप्न शास्त्र : एक तुलनात्मक अनुप्रेक्षण
—डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री, ज्योतिषाचार्य १५७
निरर्थक आशंका (कविता)
—कन्हैयालाल सेठिया १६४
तन्त्र शब्द-कोश (शब्द-संख्या ३२३) १६५
मुस्लिम समाज में जादू-टोना
—डॉ. निजामउद्दीन १८५
जन्तर-मन्तर : एक अनुचिन्तन
—सुरेश 'सरल' १८९
जंतर-मंतर : लग गया तो तीर, नहीं तो तुक्का (ख़त : जो अन्तिम नहीं है)
—गणेश ललवानी १९३
कसौटी (पुस्तक-समीक्षा) १९५
पत्र-पत्रांश २००
समाचार-परिशिष्ट २११
तीर्थंकर : सोलहवाँ वर्ष (मई १९८६ – अप्रैल १९८७) २१५
ज्ञान मल्लाह : ध्यान वायु : चारित्र नौका आव. ३

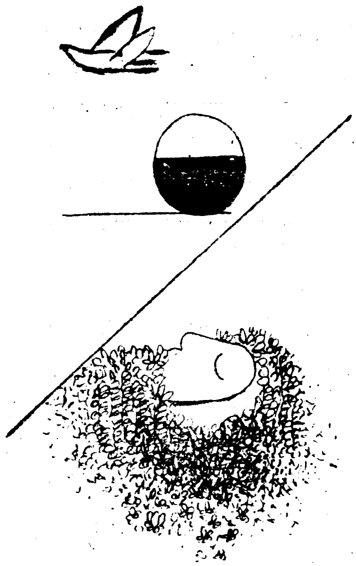

संपादकीय

माणव-विद्या

परम्परा में जादू-टोने/जंतर-मंतर की विद्या को 'माणव-विद्या' कहा गया है । 'माणव' शब्द के कई मायने हैं । मानव के अलावा इसका अर्थ है सोलह साल का बालक, एक अपरिपक्व बुद्धि वाला बच्चा । 'माणवक' और 'माणव' दोनों लगभग यर्यायवाची हैं । 'माणवक' के अर्थ हैं, हीन मनुष्य, नाटा या बौना आदमी, बालक, लड़का । कहीं भी माणव-विद्या को ऐसी विद्या नहीं कहा गया है, जिससे परमार्थ की सिद्धि होती, या बनती हो । सर्वत्र उसे लौकिक स्थितियों से ही संबद्ध माना गया है ।

जंतर-मंतर/टोना-टोटका माणव-विद्या के अन्तर्गत आते हैं । जिसे अंग्रेजी में विचक्राफ्ट, मैजिक, सॉर्सरी आदि कहा गया है, वह यही है । ईसा की प्रथम सदी में हुए दिगम्बर आचार्य धरसेन ने इसे 'बालतन्त्र' कहा है', 'पण्डिततन्त्र' नहीं । जो फर्क बाल मरण और पण्डित मरण के बीच है, वही बालतन्त्र और पण्डिततन्त्र के बीच है । सब जानते हैं कि अध्यात्म से बढ़ कर कोई शास्त्र या कोई विद्या नहीं है और सम्यक्त्व से बड़ी कोई तकनीक नहीं है । जिसके द्वारा हम सारे संदेहों से मुक्त हो कर असंदिग्धताओं के बीच आ खड़े होते हैं; उसका नाम है सम्यक्त्व । सत्य और असत्य, सच और झूठ, सम्यक्त्व और मिथ्यात्व; प्रकाश और अन्धकार; देह और आत्मा को अलगाने का जो विज्ञान है, जो रसायन-शास्त्र है, उससे बड़ा कोई विज्ञान नहीं है । संसार के सारे धर्मों का नाभिकेन्द्र यही है । विश्व के समस्त विचारकों ने इसी पर जोर दिया है ।

धर्म के कई अर्थ हैं, किन्तु परमअर्थ है–वस्तु-स्वरूप । वस्तु के अस्मित्व को धर्म कहा गया है । जैन धर्म और दर्शन वस्तु-स्वरूप की खोज़-कला को प्रतिपादित करने वाले क्षेत्र हैं । वस्तु क्या है ? क्या वह पूर्णतया स्वाधीन है ? क्या वह अपनी सत्ता के लिए किसी पर अवलम्बित है ? क्या दूसरे अस्तित्व उस पर आश्रित हैं– उसके सहारे खड़े हैं ? क्या कोई वस्तु किसी अन्य वस्तु के जीवन को बाधित करने में समर्थ है ? इन प्रश्नों के सुचिन्तित उत्तर जब हमारे सम्मुख आते हैं, तब धर्म की इबारत खड़ी होती है ।

धर्म कोई ठोस पदार्थ नहीं है, वह सूक्ष्मतर अनुभूति है । जब तक हम खुद-में-गहरे नहीं उतरेंगे, हमारी मुट्ठी में सार्थक कुछ आने वाला नहीं है । तृष्णा और भ्रान्ति का कोई अन्त नहीं है । तृष्णा का काम है स्थापित भ्रम को प्रगाढ़ करना। वीततृष्ण हो कर हम जीवन को जितनी निर्मलता और दिगम्बरता में समझ सकते हैं, सतृष्ण हो कर नहीं; इसलिए जो वस्तु-स्वरूप को जानता है– उसे जानने या खोज़ने की साधना करता है, वही देह और अ-देह के संबन्धों की असली समीक्षा कर सकता है । जैनागम में तन्त्र-मन्त्र की कोई जगह नहीं है । ये सब आगमोत्तर परिशिष्ट या परिवर्द्धन हैं; इनका जैन धर्म/दर्शन की मौलिकताओं से कोई सरोकार नहीं है ।

कोई युग था जब आदमी स्थूलताओं में साँस लेता था और तथ्यों को उनके बाहरी चेहरों से जानता था । वह सोचता था : जो जीते जी है, वही मरणोपरान्त भी संभव है । आज से पचास हज़ार साल पहले के जो विवरण मिलते हैं या जिन्हें जमींदोज़ तथ्यों से हासिल किया गया है उनसे पता चलता है कि हमारे आदिम कबीले मृतक के साथ भरपूर खाद्य सामग्री और कई उपकरण भी रख दिया करते थे ताकि उसे मरणोपरान्त न तो भूखा ही रहना पड़े और न ही किसी असुविधा का सामना करना पड़े । मनुष्य के जीवन में अन्धविश्वास इस सीमा तक घुल गया था कि राजाओं के शवों के साथ उनकी बीवियाँ और उनके नौकर-चाकरों भी ज़िन्दा दफना दिये जाते थे ताकि उन्हें मृत्यूपरान्त किसी तरह का कोई कष्ट न हो और वे उतने ही राजसी ठाठ-बाट से रह सकें । यहाँ चिन्तन नहीं है, स्थूल तजबीज है । इसके बाद शुरू होती है आदमी-के-भीतर-की-वह-खोज़ जिसे हम 'मैं कौन हूँ' (डिस्कव्हरी ऑफ द सेल्फ) कह सकते हैं । स्वयं को पहचानने की जो प्रक्रिया आगे आयी उसमें से तर्क-बुद्धि का जन्म हुआ । विज्ञान ने मनुष्य को विश्लेषण और निष्कर्षण की क्षमता दी । तर्क ने उसे कार्य-कारण-पद्धति से सोचना सिखाया । वह सोचने लगा : क्या इस जीवन के बाद कोई जीवन है ? क्या जीवन की कोई निरन्तरता है ? क्या मृत्यु जीवन का अन्त है ? क्या मृत्यु के बाद केवल

शून्य है, या कोई सार्थकता है? क्या भंगुरता के बीच कोई ध्रुवता है? ऐसे बहुत सारे सवाल सामने आये और अन्धविश्वास के पाँव डगमगाने लगे। जादू-टोनों और अन्धविश्वासों से हट कर जब आदमी ने विज्ञान और तर्क के जगत् में छलाँग लगायी तब उसके जीवन में एक भारी हलचल हुई। इस हलचल ने उसके व्यक्तित्व को मथ डाला और उसमें उत्तरोत्तर परिवर्तन होने लगे। हम उसकी इस यात्रा को अन्धविश्वास-से-सम्यक्विश्वास-की-यात्रा कह सकते हैं। यद्यपि उसकी यह यात्रा आज भी समाप्त नहीं है, शायद आधी भी नहीं हुई है, इसीलिए उपाध्याय श्रीनेमी-सागरजी को बम्बई की सुखानन्द धर्मशाला में भूत-पीड़ा हुई और कुसुबा ग्राम में श्रीपुष्पदन्तसागरजी ने उसका मन्त्रोपचार किया। वस्तुतः ऐसा कुछ है नहीं (होता नहीं है), जो है (या हुआ है) वह सब पौद्गलिक गड़बड़ी है – नितान्त भौतिक है। असल में जब हम तथ्यों के समीचीन विश्लेषण में असमर्थ होते हैं, तब कुतूहल में चले जाते हैं और सीधा रास्ता छोड़ कर ग़लत सड़क अख्तियार कर लेते हैं। अध्यात्म के क्षेत्र में इन सारी अन्धी मान्यताओं के लिए कोई जगह नहीं है। यदि स्थितियों का सम्यक्, संतुलित, और साहसपूर्ण समीक्षण किया जाए तो वे सिर्फ मतिभ्रम या दैहिक विकृतियाँ ही होती हैं, उनका वस्तु की मौलिकता से कोई सीधा प्रयोजन नहीं होता है। जब हम मानते हैं कि हर वस्तु स्वाधीन है और कोई किसी की स्वाधीनता को बाधित नहीं कर सकता, तब फिर यह सब ऊलजलूल कैसे संभव है?

जब तक हम मिथ्यात्व और सम्यक्त्व के बीच एक स्पष्ट भेद-रेखा नहीं डालेंगे, तब तक कोई तथ्यान्वेषण संभव नहीं है। हमें देखना होगा कि मिथ्यात्व क्या है (कई बार हम अपनी कच्ची मनोभूमिका के कारण मिथ्यात्व को सम्यक्त्व मान कर एक झूठे अभिमान में जीने लगते हैं)? वस्तुतः सम्यक्त्व जिसे उपलब्ध हुआ है उसके लिए भूत, पिशाच, डाकन आदि बेमतलब हैं। उसके लिए जादू-टोनों/जंतर-मंतर में भला कोई सम्यक्त्व कैसे हो सकता है? क्या कोई माणव-विद्या अध्यात्म-विद्या या स्वरूपाचरण-के-विज्ञान का मुकाबला कर सकती है? असंभव। ये तन्त्र-मन्त्र जितने/जो हैं, कुछ होशियार लोगों द्वारा दुर्बल चित्त लोगों की ठगी और शोषण के साधन हैं – हाथ की सफाई या किन्हीं संयोगों के कारण फैलाये गये भ्रम।

जो लोग विचक्राफ्ट या जादू-टोने के इतिहास को जानते हैं, वे जानते हैं कि इनका काला-धोला क्या है? इनमें कितनी झूठ और कितना सच है? जैनधर्म का ज़ोर प्रतिपल सम्यक्त्व पर रहा है। उसे यानी जैनधर्म को जानते जाने, या जानने के बाद कुछ और जानना शेष नहीं रह जाता – जो लोग मिथ्यात्व की यात्रा

पर हैं वे चमत्कार के बल पर लोगों को चक्कर में डालते हैं, उन्हें बरगलाते हैं, उनका दोहन करते हैं। अब तो यह काला काम मुनि भी करने लगे हैं। आश्चर्य है कि हम जैन हो कर मिथ्यात्व और सम्यक्त्व के सही रूप को नहीं जानते और कभी मिथ्यात्व की जगह सम्यक्त्व को और कभी सम्यक्त्व की जगह मिथ्यात्व को अभिनन्दन-पत्र या अभिनन्दन-ग्रन्थ भेंट करने लगते हैं। जैनाचार्यों ने सम्यक्त्व की जो चर्चा की है, उससे जादू-टोने का कहाँ कोई प्रयोजन है?

जैन दर्शन में तर्क को सबमें बड़ी कसौटी माना गया है। जो इस कसौटी पर खरा नहीं है, वह खोटा है – शतप्रतिशत खोटा; फिर इस जानी हुई खोट के साथ किसी तरह के समझौते की कोई गुँजाइश नहीं है। तर्क के मायने जैनदर्शन में कार्य-कारण-नियम (लॉ ऑफ काजेशन) है। संपूर्ण जैनदर्शन एक इसी पाये पर खड़ा है। जैनदर्शन मानता है कि ऐसी कोई घटना नहीं हैं, जो अकारण है; या जो कुछ सामने है वह अकारण है – यह असंभव है। जैन कर्मसिद्धान्त की संपूर्ण इमारत इसी कार्य-कारण-नियम की नींव पर खड़ी है। यह बात जुदा है कि हम संबन्धित गणितीय सूत्रों को न जानते हों और किसी तृष्णा या किन्हीं स्वार्थों के वशीभूत हो तथ्यों को अनुकूलित करने की कोशिश में हों, उन्हें ठीक से पहचानने का प्रयत्न न कर रहे हों; किन्तु जैनदर्शन तो इन सबकी अन्तिमताओं तक गया है, अतः वहाँ किसी तर्कहीन स्थिति को रोपने की कोशिश का कोई मतलब नहीं है। जैनदर्शन की ये उपलब्धियाँ उसे किन्हीं साधारण व्यक्तियों से प्राप्त नहीं हुई हैं बल्कि उन लोगों से मिली है जिन्हें केवली कहा जाता है; जो, 'वह' रहे हैं, जो मूलतः हैं, या जो अब ज्ञानमात्र हैं; जिन्होंने परमार्थ को उसकी संपूर्णता में पा लिया है। आप ही सोचें कि जादू-टोने या जंतर-मंतर क्या दे सकते हैं उन्हें, जिन्होंने स्वयं को पा लिया है, या जो स्वयं को पाने के राजमार्ग पर पूरी गति से प्रस्थित हैं? क्या ऐसा कोई तन्त्र-मन्त्र है जो मोक्ष प्राप्त करा सके, या मृत्यु के किसी पल को इधर-उधर खिसका सके? नहीं है; फिर हम अपने सारे महत्त्व के काम छोड़ कर इनके पीछे क्यों पड़े हैं/क्यों पड़ते हैं? हमें तो उस अमृत की खोज करनी चाहिये जो अन्धविश्वासों से परे सत्य की नींव पर सिर उठाये मुस्कराता खड़ा है।

'उत्तराध्ययन' के बीसवें अध्ययन में 'कुहेडविज्जा' (कुहेटक विद्या) का उल्लेख आया है। वहाँ इसे आस्रवद्वार कहा गया है। यह कुहेडविज्जा और कुछ नहीं है, जादू-टोने की विद्या है, तन्त्रशास्त्र है – आदमी को उसकी आदमियत या उसकी असलियत से गिराने वाली विद्या है। इसे ही बौद्ध ग्रन्थों में तिर्यक्विद्या कहा गया है; वह विद्या जिसका संबन्ध अंग-निमित्त, उत्पाद, स्वप्न, लक्षण आदि विद्याओं से

है तिर्यक्‌विद्या है । जो टेढ़ा है/तिरछा है, उसमें-से किसी सीधेपन या किसी ऋजुता को पाना संभव नहीं है । मुक्ति ऋजुता है, उसे तिर्यक् में-से न तो देखा ही जा सकता है और न ही पाया जा सकता है; अतः जिसे माणव-विद्या, कुहेडविज्जा, या तिर्यक्-विद्या कहा गया है, वह न तो व्यक्ति का हित करने वाली है और न ही लोकहित करने वाली, बल्कि आदमी को उसके सच्चे मार्ग से स्खलित/विचलित करने वाली है । जैनागम में ऐसी विद्याओं की न सिर्फ उपेक्षा की गयी है वरन् इनसे बचने को भी कहा गया है । आज जो भी जैन शास्त्रों में इस संबन्ध में मिलता है, वह बाद का अपमिश्रण है, उसका उसकी मौलिकताओं से कोई रिश्ता नहीं है ।

जादू-टोनों की चर्चा करते हुए एक प्रश्न बार-बार उठ खड़ा होता है कि क्या मृत्यु जीवन का अन्त है, या मृत्यु-के-बाद भी कोई जीवन है? क्या तन्त्र-मन्त्र, जादू-टोने मृत्यु पर कोई प्रकाश डालते हैं, या सिर्फ मृत्यु-भय से आतंकित लोगों का शोषण ही करते हैं? मृत्यु एक ऐसा रहस्यपूर्ण तथ्य है, जिसे जानने के लिए आदमी सदियों से प्रयत्न करता रहा है कि वह इस बात का पता लगाये कि वह क्या है और उस स्वयं का तथा अन्य प्राणियों का मृत्यूपरान्त क्या होता है? क्या मनुष्य या प्राणी भंगुरता और अमरता के बीच लगातार भटकता रहता है या इसके पार भी कुछ है? क्या आत्मा जो अजर-अमर है देहरूपी क़ैदखाने में हमेशा बन्द रहेगी या इसका कहीं कोई अन्त भी है? क्या इस पिंजरे-के-भीतर-जितने-पिंजरे हैं उन सबसे इसकी मुक्ति संभव है? क्या जो दिखायी दे रहा है उस कारावास के अलावा और-और सूक्ष्म कारावास इस कारावास में हैं, या यह स्वयं में अन्तिम और अवास्तविक है? क्या मृत्यु अन्तिम पड़ाव है या इसके आगे और भी पड़ाव हैं? क्या ऐसा कोई उपाय है, जिससे मृत्यु-की-मृत्यु संभव हो? क्या जादू-टोने/जंतर-मंतर यहाँ आ कर नाटे/बौने नहीं पड़ जाते हैं? क्या इनके पास मृत्यु का कोई समाधान है? इन ऐसे सवालों की खिड़कियों में-से देखा जा सकता है जादू-टोनों की व्यर्थता को और देखा जा सकता है उनके द्वारा हुए हज़ारों-हज़ार साल के शोषण को । ईसापूर्व का यूरोप क्या था? जादू-टोनों का नर्क । नेमिनाथ, पार्श्वनाथ, और महावीर के पूर्व का भारत क्या था? तंत्र-मंत्र/जादू-टोनों की चक्करबाजियों का एक भीषण/हिंसक रणक्षेत्र । यह सब इतिहास में-से साफ-साफ देखा जा सकता है ।

एक सवाल है कि मृत्यु पीड़ादायी है, या उसका भय? असल में मृत्यु उतनी पीड़ाजनक नहीं है, जितना यह तथ्य कि 'यदि मैं मर गया तो'। 'मरना है' इस अनिवार्यता को संसार के तमाम अस्तित्वों के चेहरे पर लिखा देखा जा सकता है; किन्तु इससे भयभीत होने की ज़रूरत कहाँ है? वस्तुतः यह जानना ज़रूरी है कि मृत्यु के बाद भी कोई निरन्तरता है, जो विकास का अगला क़दम है । ध्यान

रहे : मृत्यु के क्षणों में या उसके बाद भी वैयक्तिकता (इन्डिविज्युएलिटी) का अन्त नहीं है; वही एक ऐसा तत्त्व है जो पुनर्जन्म के लिए उत्तरदायी है । यदि बीज-में-बीज है तो हर जन्म में पुनर्जन्म है; यदि हर बादल में आगामी बादल है तो निश्चय ही पुनर्जन्म है । कुछ ऐसे दृश्य इस धरा पर हैं, जो पुनर्जन्म-की-संपूर्ण-कथा बड़ी सफाई से संक्षेप में हमारे सामने रखते हैं ।

मृत्यु को कई-कई नचिकेताओं ने खोजा है और जाना है कि वह तकिये के लिहाफ को बदलने या किसी किताब के मैले कव्हर को बदलने की प्रक्रिया से अधिक कुछ नहीं है । वह एक ऐसी पाण्डुलिपि है, जिसकी भूमिका और जिसका उपसंहार परोक्ष में कहीं है । वह एक ऐसा जीवन-वाक्य है, जिसमें जन्म और मरण दो अर्द्धविरामों की तरह बिराजमान हैं । उसे यानी देह को एक जीर्ण-जर्जर वस्त्र की तरह जब उतार फेंका जाता है, तब उस घटना को मृत्यु कहते हैं अर्थात् मृत्यु एक पड़ाव है, एक सोपान है; वह न तो मंज़िल है, और न अन्तिम सीढ़ी ।

हमारे पुरखों ने आत्मा और शरीर के संबन्धों की गणितीय व्याख्या की है और प्रतिपादित किया है कि आत्मा अमर है, शरीर क्षणवर्ती है । आत्मा और शरीर के स्वरूप भिन्न हैं; आत्मा शरीर में है, किन्तु शरीर नहीं है; शरीर आत्मा का अस्थायी निलय है, किन्तु वह खुद यानी शरीर आवासी नहीं है । यहाँ हम घोंसले को चिड़िया समझने की भूल करने लगते हैं; किन्तु ऐसा है नहीं । समस्या शरीर को आत्मरूप मान लेने की है । टोने-टोटकों की सफलता इस भ्रम की संतति होने के आलावा और कुछ नहीं है । इस तथ्य की कि 'शरीर शरीर है' और 'आत्मा आत्मा' छानबीन का नाम तप है। तप का सीधा अर्थ है शरीर और आत्मा को दो स्वतन्त्र रूपों में खोज़ना और खोज़ कर अनुभव करना ।

उक्त विवेचन में-से अब हम एक ऐसे पड़ाव पर आ गये हैं, जहाँ खड़े हो कर हम यह देख सकें कि जादू-टोने/तन्त्र-मन्त्र मात्र मतिभ्रम हैं, उनका अपना कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है । यहाँ हमारा इशारा उन तमाम अवैज्ञानिकताओं की ओर है जो आदमी के साथ कपट करने के लिए खड़ी की गयी हैं; ये ऐसी अवैज्ञानिकताएँ हैं, जिन्होंने अपनी उपयोगिता और प्रासंगिकता की व्याख्या करने के लिए वैज्ञानिकता के छद्मवस्त्र अक्सर पहने हैं । जादू-टोने हमारी तृष्णा के लिए सिर्फ मृग-मरीचिका सिद्ध हुए हैं; वस्तुतः उनका अपना कोई मौलिक अस्तित्व या महत्त्व नहीं है । वे झूठी उम्मीदें जगाते हैं और मात्र संयोग में जीते हैं । ये हमारे उन अधकचरे आदिम संस्कारों की उपज हैं, जिनसे प्रेरित हो कर हम मृतकों के शव के साथ खाना रख दिया करते थे और उनके हाथ-पाँव रस्सियों से बाँध दिया करते थे

(शेष पृष्ठ ३८ पर)

कविताएँ : दिनकर सोनवलकर

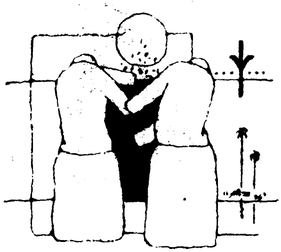

टोने-टोटके के जाल में

यार, तुम तो बड़े 'आधुनिक'
बनते हो –

नवीनतम डिज़ाइन के वस्त्र
पहिनते हो ?
इक्कीसवीं सदी की क़समें
खाते हो
सीधे-सादे, ग्रामीण जनों को
पिछड़ा बताते हो ?

मगर खुद
उलझ रहे हो
जन्तर-मन्तर
टोने-टोटके के जाल में
गण्डे-तावीज़ों के जंजाल में ?
यानी
भीतर कहीं तुम खुद
बेहद कमजोर हो
या तो मेहनत से डरते हो
या फिर काम-चोर हो ।

संयमित साधना से डरते हो
और बगैर कर्म किये
फल पाने की आशा में
भटके-भरमाये
फिरते हो । □

आरोपित संशय

घर से बाहर निकले
और तभी बिल्ली रस्ता काट गयी –
रुक गये तुम झटके से
अनिष्ट या दुर्घटना के खटके से ।
हक़ीक़त ये है
कि तुम्हारे अचेतन में ही
छिपा है संशय-का-मूल
मगर तुम ढूँढ़ रहे हो कारण
बाहर की दुनिया में – फिज़ूल ।

अपनी कमज़ोरी को
आरोपित मत करो
बेचारी बिल्ली पर –
मुमकिन है :
वो भूखी हो और निकली हो
  चूहे की खोज में
या दौड़ रही हो खुले में
  अपने ही मन-की-मौज में ।

क्या तुम्हारा संकल्प
  इतना क्षुद्र है
जो एक बिल्ली से
  हार गया – ?
तुम्हारे भीतर-का-चोर खुद
  तुमको ही मार गया ? □

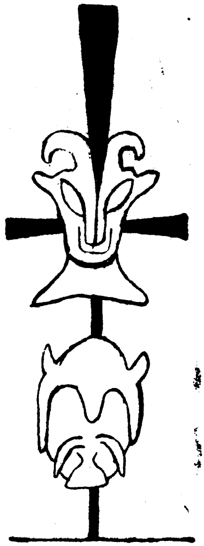

विरोधाभास

कभी इस विरोधाभास ने
छुआ आपको !
विज्ञान के युग में
ऐसी अ-वैज्ञानिक समझ का
अहसास हुआ आपको ?
कि औपचारिकता के शिकंजे में
कैसे घिर गये हैं आप—
आडम्बर के दलदल में
जान-बूझ कर गिर गये हैं आप ?

धर्म के नाम पर
बुना जा रहा है
निरर्थक कर्मकाण्ड-का-जाल
बाबाओं/भगवानों/ओझाओं/
और तन्त्र-मन्त्र का जंजाल ?

जाहिर है कि
भीतर-ही-भीतर खोखला
हो गया है इन्सान—
प्रगति के बड़े-बड़े दावों के बावजूद
खूँखार हो रहा है

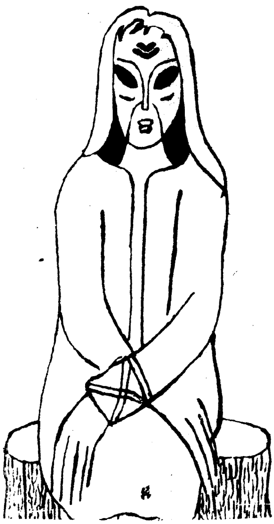

'उसके भीतर-का-हैवान' ।
भूल गया है वह
कि बाहर के सभी आश्वासन
हैं केवल छल
जो निभाता है साथ अन्तिम क्षण तक,
वह है हमारा आत्म-बल ? □

भ्रमित मन की भूलें

हर दिन
एक नया अवसर है काम का
(और क्या पता
यही दिन आखरी हो जीवन का)
कोई क्षण नहीं है आराम का ?
किसी 'बेचारे' मनुष्य को देख कर
'अपशकुन' मानना
अ-मानवीयता की घिनौनी
अभिव्यक्ति है
वह भी तुम-जैसा ही व्यक्ति है।
उसे हिक़ारत की नज़र से नहीं,
देखो करुणा की दृष्टि से ।
भूलो मत कि तुम्हारी नियति—
जुड़ी है संपूर्ण सृष्टि से ।
कर्मयोगी के लिए
खुली हैं दसों दिशाएँ
जिसे कहते हो 'दिशाशूल'
वह है भ्रमित मन की भूल ।
और 'छींक' तो
किसी भी कारण से आ सकती है
उसे बहाना मत बनाओ
दायित्व से बचने का—
'हर दिन हो सकता है सार्थक'
अगर बे-ख़ौफ़ पागलपन हो—
कुछ रचने का । □

ख़तरनाक ध्वनि-प्रदूषण

रात-रात-भर
फुल वॉल्यूम पर चला कर माइक्रोफोन
भजन-कीर्तन करना—
'भक्ति' नहीं
भद्दा प्रदर्शन है
और ध्वनि का ख़तरनाक प्रदूषण है !
आखिर किसे सुना रहे हो
यह सब
दुनिया को
या परमेश्वर को ?
वह तो है 'सर्वज्ञ'
सब पर है उसकी नज़र
हर-एक के काम का
हिसाब है उसके पास ।
'प्रभु-स्मरण'
सार्वजनिक प्रदर्शन की चीज नहीं—
एकान्त की साधना है
मौन जप ही
सबसे बड़ी साधना है ।
मुमकिन है :
आस-पास कोई मरीज़ हो
जो रात-भर सो न पाये
आराम से
या मेधावी छात्र हो—
जो पढ़ न पाये एकाग्र मन से—
तुम्हारे हो-हल्ले—
बे-सुरे शोर की वजह से ।

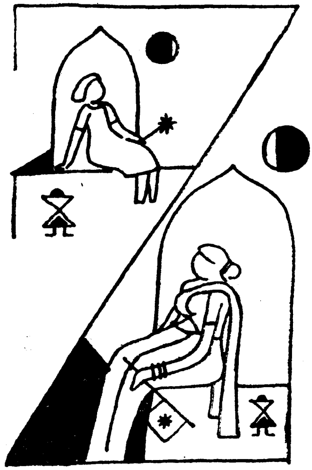

अन्धविश्वास की फसल

सपनों से मत डरो –
अनिष्ट की आशंका से –
जिन्दा होते हुए भी
सोच-सोच कर मत मरो।
संभव है
सच हो जाता हो
कोई एक सपना –
ऐसे उदाहरणों का प्रतिशत
हजारों में एक ही होता है –
और जो बनाता है 'अपवाद' को 'नियम'
वह फकत अन्धविश्वास बोता है।
और 'अन्धविश्वास' की फसल
बगैर मेहनत किये
फलती-फूलती है –
जो रूपान्तरित होती है
'रूढ़ि' में –
फिर ज़ंजीरें बन कर
बांध देती है
हमारी प्रगति-का-चरण
फिर संकुचित घेरे में
कोल्हू-के-बैल की तरह
घूमता रहता है
हमारा चिन्तन/हमारा आचरण। □

डॉ. दौलतसिंह कोठारी

नहीं चल सकते अँधेरों में अब हम

हमारे सामने कोई भी समस्या हो और हम उसका हल निकालना चाहें तो आजकल उसमें विज्ञान और टेक्नालॉजी की परम आवश्यकता होती है। भारत के इतिहास में पहली बार ऐसा युग आया है, जिसका आधार विज्ञान और टेक्नालॉजी है। चाहे आर्थिक समस्या हो, खेती की कठिनाइयाँ हों, या सुरक्षा का सवाल हो—सब का हल खोजने के लिए प्रगति एवं विकास के लिए हमें विज्ञान और टेक्नॉलॉजी का सहारा लेना पड़ता है; लेकिन एक बात गहरी चिंता जगाती है। एक ओर तो मानव-इतिहास में पहले कभी न तो इतना विज्ञान था, न टेक्नॉलॉजी थी; दूसरी ओर, मानव-मानव के बीच जितना अविश्वास, जितनी घृणा और जितनी हिंसा आज दिखायी देती है उतनी पहले कभी नहीं थी। यह हिंसा बहुत व्यापक है। भाई-भाई का गला काटने को तैयार है। ऐसा लगता है जैसे पूरे समाज में, पूरे देश में हिंसा के खूनी दाग लगते ही जा रहे हैं—हर रोज।

इसका कारण क्या है? यही कि विज्ञान और जनता के बीच खाई है, जो बड़ी तेजी से बढ़ती जा रही है। इसलिए कि विज्ञान भयंकर रफ्तार से बढ़ रहा है; हर दस साल में उसका परिमाण पहले से दुगना हो जाता है। इस तरह : आदमी तो पिछड़ रहा है और विज्ञान बढ़ रहा है। आम आदमी की ज़िंदगी में विज्ञान को जिस तरह से रच-बस जाना था, वह नहीं हुआ। चंद सुविधाओं का मिल जाना विज्ञान नहीं है। विज्ञान का असली लाभ तो तब है, जब वह हमारी ज़िंदगी में पूरी तरह उतर जाए, उसका हिस्सा बन जाए।

यह तभी संभव है, जब हम विज्ञान को जनता के निकट ले जाएँ और उसे अहिंसा और गाँधी के साथ जोड़ कर ले जाएँ। यह प्रयास केवल किसी विज्ञान-दिवस पर ही नहीं, हर दिन होना चाहिये, निरन्तर। तभी विज्ञान और जनता के बीच की खाई कम हो सकती है। खासतौर से बच्चों को अपने देश के महान् वैज्ञानिकों के जीवन और कार्य से परिचित कराना ज़रूरी है। २८ फरवरी के दिन १९२८ में हमारे एक महान् वैज्ञानिक डॉ.सी.बी. रमण ने अपनी महान् खोज़ "रामन् इफेक्ट" की घोषणा

की थी । और भी बहुत-से महान् वैज्ञानिक हुए हैं । इस देश में – प्रफुल्लचंद राय, जगदीशचंद्र बोस, मेघनाथ साहा – इन सब के बारे में आम जनता को बताना चाहिये । आज़ादी मिले चालीस साल हो गये; अब भी नहीं बतायेंगे, तो कब बतायेंगे ?

इन महान् वैज्ञानिकों के बारे में बताने की सब से बड़ी बात यह है कि विज्ञान एक साधना है । इन वैज्ञानिकों के जीवन से हमें सब से बड़ा पाठ यही मिलता है कि जीवन में संयम बरतना ज़रूरी है; विज्ञान के प्रति ही नहीं मानव में भी अटूट श्रद्धा रखना अत्यावश्यक है, और हमें घोर परिश्रम करना चाहिये । संयम, श्रद्धा और परिश्रम या तप के बिना आप न तो जीवन को अच्छी तरह जी सकते हैं, न जीवन से कुछ पा सकते हैं और न कहीं पहुँच सकते हैं । हमें नवयुवकों तक यह संदेश पहुँचाना होगा कि विज्ञान एक तरह की तपस्या है, साधना है ।

एक और बात जो इन वैज्ञानिकों के जीवन और कार्य से सीखनी है, वह यह है कि जो समस्याएँ हमें बेहद जटिल और डरावनी लगती हैं, असल में उनकी जड़ बड़ी मामूली होती है । हमें वे मुश्किल इसलिए लगती हैं कि ठीक से नज़र नहीं आ रही हैं । उनकी तह तक पहुँचने के लिए हमें विज्ञान का तरीका अपनाना होगा । विज्ञान का तरीका यही है – खोज़बीन, जाँच-पड़ताल, और सोच-विचार ।

उदाहरण के लिए, 'रामन् इफेक्ट' या 'रमण प्रभाव' की ही खोज़ को लें । उसकी जड़ है इस सवाल में कि आसमान का रंग आसमानी है तो सही, पर यह रंग आसमान में आया कहाँ से ? हर बच्चे के मन में यह सवाल उठता है । रमण ने इसी पर सोचा, चिन्तन किया । उनसे पहले भी लोग इस ऊहापोह में लगे थे कि आसमान को उसका

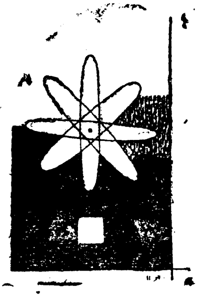

रंग कहाँ से मिला? तो एक जवाब मिला कि हवा से मिला; पर हवा में तो कोई रंग नहीं होता । सो, चिंतन जारी रहा । तब इस प्रश्न की एक और गुत्थी सुलझी कि सूरज की किरणें जब हवा के परमाणुओं से टकराती हैं तो उनमें-से जो नीले रंग की किरणें हैं वे ज्यादा बिखर जाती हैं और लाल रंग की किरणें कम बिखरती हैं; इसीलिए उगता और डूबता सूरज लाल दिखता है और बाकी आसमान नीला ऐसी ही बातों पर चिन्तन करते-करते रमण अपनी महान् खोज़ तक पहुँचे ।

रमण की खोज़ की महानता इस बात में है कि वह बुनियादी वैज्ञानिक संकल्पनाओं से भी जुड़ी है और व्यावहारिक उपयोगों से भी । विज्ञान के इस समय के सब से महान् सिद्धान्त से भी उसका सीधा तालमेल बैठता है । वह मूल सिद्धान्त यह है कि कोई भी परमाणु हो वह तरंग भी है और कण भी ; यानी एक ही तत्त्व, एक ही साथ, एक ही समय में दो रूपों में विद्यमान है – तरंग भी, कण भी । अब तरंग तो यहाँ भी तरंग है और आगे भी तरंग रहेगी यानी उसमें अभिन्नता है; परन्तु दूसरी ओर कण एक यहाँ है तो दूसरा वहाँ है । यानी कणों में भिन्नता है । इस भिन्नता और अभिन्नता का समन्वय विज्ञान का सब से बड़ा मूल सिद्धान्त है । इसी को

अंग्रेजी में कहते हैं – कॉम्प्लीमेंटेरिटी ऑफ आइडेंटिटी एंड नॉन आइडेंटिटी; यानी परस्पर-विरोधी होते हुए भी एक-दूसरे का पूरक होना !

अब इसी बात को अगर जीवन में उतार लें तो सारे भेद मिट जाएँ। देश अलग हो, जाति अलग हो, भाषा और वेश-भूषा अलग हो, रंग-रूप और खान-पान भिन्न हो, संप्रदाय भिन्न हो – तो भी मानव एक-दूसरे का पूरक है। वह भिन्न होते हुए भी अभिन्न है। अपने आस-पास की तमाम चीजों को, घटनाओं को आप इसी कसौटी पर परखिये और आपके मन में बसी तमाम घृणा, द्वेष गुस्सा और झुँझलाहट यानी हिंसा पलभर में काफूर हो जाएगी।

विज्ञान के इसी मूल सिद्धान्त को भारतीय दर्शन ने भी अनुभव के आधार पर अपनी तरह से प्रस्तुत किया था। जैसे कि आप और हम हैं। शरीर की दृष्टि से हम भिन्न हैं; लेकिन आत्मा की दृष्टि से हम अभिन्न हैं। यहीं से उदय होता है प्रेम का। मानव ही नहीं, जीव-मात्र के प्रति प्रेम। यहीं से पनपती है यह भावना कि जियो और जीने दो। परमाणु के अंदर प्रोटॉन के चारों ओर चक्कर लगाते इलेक्ट्रॉन भला कहाँ जानते हैं कि वे अभिन्न हैं। बस, उनके कार्यों से उनकी अभिन्नता प्रकट होती है। इसी आधार पर सब कुछ टिका हुआ है– इलेक्ट्रॉन से बने परमाणु, परमाणुओं से बने तत्त्व, तत्त्वों से बने यौगिक, यौगिकों से बने पदार्थ, जीव-जन्तु, पेड़-पौधे, हम सब और यह धरती, ग्रह तारे और यह संपूर्ण ब्रह्माण्ड। दूसरी ओर, हम मानव जानते तो हैं कि आत्मा की दृष्टि से हम अभिन्न हैं, पर अपने जीवन में, आचार में हम इस बात को उतारते नहीं हैं। इसी कारण सारी समस्याएँ हैं।

तो विज्ञान की यह बात हमें आज भारत के जन-जन तक पहुँचानी है; बल्कि भारत में ही नहीं, संपूर्ण विश्व में फैलानी है। भारत की इसमें एक बड़ी निश्चित देन हो सकती है कि विज्ञान के इस युग को विज्ञान और अहिंसा का युग बनाया जाए।

यहाँ मुझे महान् वैज्ञानिक आइन्स्टाइन की याद आ रही है। प्रिंस्टन में उनका जो अनुसंधान संस्थान था, उसमें अपने कमरे में उन्होंने केवल दो चित्र लगा रखे थे। इनमें से एक उनके जर्मनी के मित्र संगीतकार का था दूसरा चित्र न तो न्यूटन का था और न किसी और वैज्ञानिक का, बल्कि ऐसे व्यक्ति का था जिससे आइन्स्टाइन स्वयं कभी मिले नहीं थे। वह महात्मा गाँधी का चित्र था। जब कोई उनसे मिलने जाता तो वे गाँधी के चित्र की ओर इशारा करके कहते – "द ग्रेटेस्ट मैन ऑफ द एज" (इस युग का सब से बड़ा महा पुरुष)। युग के सब से महान् वैज्ञानिक का यह कथन ही मानो उस भविष्य का संकेत दे रहा है, जो विज्ञान और अहिंसा का युग होगा।

सन् १९५१ में मैंने आइन्स्टाइन को एक पत्र लिखा था कि दिल्ली विश्वविद्यालय के भौतिकी विभाग के रजत जयंती समारोह के लिए कृपया एक संदेश भेजिये। उन्होंने छोटा, पर कितना सारगर्भित संदेश भेजा ! उन्होंने लिखा : "भाईचारा रखो और लगन से, बिना किसी पूर्वग्रह के काम में जुटे रहो। तुम्हें अपने कार्य में आनन्द भी आयेगा और सफलता भी मिलेगी।"

यही चीज हर देश को सिखानी है।

□ □

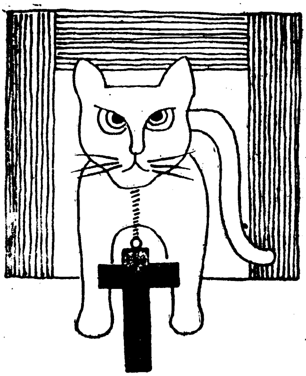

सार्थकता तभी होगी शब्दों की

—रघुनन्दन चिले

हम अपनी सुविधा से
शब्द गढ़ते हैं।
अर्थ अपने मतलब का निकाल कर,
बहस में अड़ते हैं।
शब्दों की मिट्टी-पलीद,
सबसे ज्यादा
राजनीतिकों ने (तथाकथित धार्मिकों ने
भी) की है।
आश्वासनों और नारों की
अर्थहीन शब्दावली
भाषा को दी है।
शब्द उनसे नाराज़ हैं,
पर विवश हैं वे,
उनकी लाचारी है;
क्योंकि जिन्हें वे अपना
संरक्षक समझे थे,
वे राजनीतिकों-के (धर्म-के-ठेकेदारों-के)
दरबारी हैं।

उनकी क़ैद से निकलना मुश्किल है,
क्योंकि उनके मुँह में
शब्द की जगह
सत्ता का रस लग चुका है।
शब्दों के साथ
हमने हर बार छल किया है।
उन्हें अर्थवत्ता देना तो दूर,
उनका वाजिब हक़ तक
नहीं दिया है।
तुम्हें मालूम है
शब्द नष्ट नहीं होते।
विलीन हो जाते हैं—
अनन्त आकाश में।
सुरक्षित रहते हैं—
तरंगों के रूप में;
इसलिए मैं कहता हूँ
बहस करना बेमानी है।
न कोई सुनता है।
न कोई गुनता है।
तुम शब्दों को
व्यर्थ मत जाने दो।
उन्हें एकाग्र कर
बनाओ शब्द-बम।
जिसका विस्फोट—
उड़ा सके-परखचे
विसंगतियों वाली व्यवस्था के।
जिसके लिए और कोई नहीं,
मैं, तुम, और वे जिम्मेदार हैं।
सार्थकता तभी होगी
शब्दों की। □□

जैन तन्त्र-परम्परा : उद्भव और विकास

तन्त्र-की-चर्चा करते हुए कई पेचीदा सवाल हमारे सामने आ खड़े होते हैं। सबमें पहला यह कि क्या ऐसी रहस्यमय शक्तियाँ हैं जो आत्मा की सहज/स्वाभाविक सत्ता को बाधित या आच्छादित कर सकें? क्या जैनधर्म द्वारा प्रतिपादित द्रव्य-की-स्वाधीनता के तथ्य को झुठलाया जा सकता है? क्या हमारे चारों ओर खड़ी वैज्ञानिकता को छोड़ कर हम किन्हीं गुह्य ताक़तों के आगे अपना मत्था टेक सकते हैं? क्या जिन्हें भूत, प्रेत, पिशाच, डाकन आदि कहा जाता है उन्हें पीड़ित करने वाली रहस्यपूर्ण शक्ति के रूप में स्वीकार किया जा सकता है? क्या वे किसी को सता सकती हैं? क्या भावाविष्ट व्यक्ति किसी स्नायविक असंतुलन के शिकार नहीं होते हैं? क्या हम सदियों पूर्व की अन्धी आदिम मानसिकता से अभी तक नजात नहीं पा सके हैं? क्या आदिम अज्ञान और अन्धविश्वास को हम अपने समकालीन जीवन के शोषण का और अधिकार दे सकते हैं? क्या यह बहुत ज़रूरी नहीं है कि हम अध्यात्म की वास्तविक शक्ति को समझें और इन अन्धविश्वासों को सदा-सर्वदा के लिए बिदा कर दें? ये/ऐसे बहुत सारे प्रश्न हैं जिनके उत्तर अध्यात्म-विज्ञों ने दिये हैं और कार्य-कारण-पद्धति से सिद्ध किया है कि धर्म के सामाजिक संस्करण और उसकी मौलिकताओं में कोई खास रिश्ता नहीं है।

जब हम जैन धर्म और दर्शन के मूल सिद्धान्तों को उक्त प्रश्नों के आमने-सामने खड़ा करते हैं, तब लगता है कि हम रास्ता भटक गये हैं और एक बियावान जंगल में आ खड़े हुए हैं। इतिहास साक्षी है कि ईसा के जन्म से लगभग ६०० वर्ष पूर्व जैनधर्म ने यज्ञों और बलियों का ज़बर्दस्त विरोध किया था और अहिंसा-पर-आधारित एक शान्तिपूर्ण जीवन-शैली का प्रवर्तन किया था। माना : नेमिनाथ (२२), पार्श्वनाथ (२३), और महावीर (२४) तक हम तन्त्र-मन्त्र के सूत्र को खींच कर ले जा सकते हैं। उस समय भी योगियों और तापसों का एक बहुत बड़ा जाल देश में बिछा हुआ था। पार्श्वनाथकालीन कमठ तान्त्रिक था। पार्श्वनाथ को (मारंगकुरु= पहाड़ों-के-देवता) खुद तापसों से संघर्ष करना पड़ा था। कुण्डलिनी का प्रतीक सर्प इसी का प्रतीक है। वाराणसी और उसके इर्द-गिर्द तान्त्रिकों के अड्डे थे, जहाँ लोगों

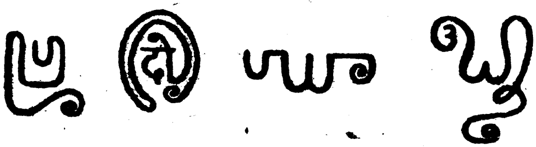

की सहज मति का जम कर शोषण होता था। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने 'नीमनाथी' और 'पारसनाथी' तान्त्रिकों का उल्लेख किया है (चारुचन्द्रलेख; पृष्ठ ५)। इस तरह ईसापूर्व शताब्दियों में जैनेतरों पर ही नहीं जैनों पर भी तन्त्र-मन्त्र का भरपूर प्रभाव था। तत्कालीन लोक-जीवन इनकी भीषण जकड़ में तड़प रहा था।

जहाँ तक जैन और बौद्ध धर्मों की दार्शनिक बनावट का प्रश्न है, तन्त्र-मन्त्र आदि की कोई स्पष्ट संगति वहाँ नहीं है। असल में ये हुए ही इसलिए कि बढ़ते हुए कर्मकाण्ड को रोका जाए और धर्म-के-विज्ञान (साइंस ऑफ रिलीजन) का समुदय हो – क्योंकि धर्म कोई अन्धा बोगदा नहीं है कि व्यक्ति उसमें आँखों-पर-पट्टी बाँधे, बिना कोई सवाल पूछे चलता जाए बल्कि एक ऐसा राजमार्ग है जिस पर रोशनी है और जिस पर कोई भी पूरे विवेक के साथ चल सकता है। धर्म के असली ढाँचे में ठगी और तस्करी के लिए कोई गुंजाइश नहीं है। महावीर और गौतम बुद्ध ने धर्म के आदिम रहस्यों में गुँथे-उलझे रूप को रूढ़ियों के कीचड़ से निकाला और आम जनता को उसी की भाषा में उस तक पहुँचाया। उनकी यह देन इतिहास में सुनहरे हर्फ़ों में लिखी मिलती है।

यह बताना बहुत कठिन है कि मन्त्र-तन्त्र अस्तित्व में कब आये; किन्तु इतना अवश्य कहा जा सकता है कि जैनों और बौद्धों के आविर्भाव से उनकी विकरालता और बर्बरता में कमी आयी। यह सच है कि जैनों और बौद्धों की तर्कमत्ता पर हमले हुए और उन्हें कई कड़ुवे समझौते करने पड़े; किन्तु जैनाचार्यों ने (और एक लम्बे समय तक बौद्ध श्रमणों ने भी) धर्म की मौलिकताओं को विकृत नहीं होने दिया। उन्होंने बड़ी सूझबूझ से काम लिया और भारत से श्रमण-संस्कृति को पूरी तरह लुप्त होने से बचा लिया।

ईसा की दूसरी सदी तक ऐसा कुछ नहीं हुआ जिसे इन धर्मों की रीढ़ पर हमला कहा जाए; किन्तु छठी शताब्दी में इन्हें पथभ्रष्ट, हिंसक, नृशंस शक्तियों की चुनौती झेलने के लिए एक बार फिर अपनी कमर कसनी पड़ी। उत्तर और दक्षिण दोनों हिस्सों में संघर्ष हुए/झड़पें हुईं, बौद्धधर्म पराजित हुआ; किन्तु जैनधर्म इनका मुकाबला करता रहा और एक विलीन-होती क्षीण धारा के रूप में ही सही, लगातार बना रहा।

हम देखते हैं कि ईसा की छठी शताब्दी से अठारहवीं शताब्दी तक उन शक्तियों ने जो रहस्य और गुह्य भाव से जुड़ी रहीं धर्म-के-आवरण में सामान्य मनुज का भारी शोषण किया। ऐसी शक्तियों का एक मजबूत जाल उत्तर-से-दक्षिण और पूर्व-से-पश्चिम तक बिछा रहा और आम आदमी उसमें तड़पता रहा। इन शक्तियों को राज्याश्रय भी मिला जिससे इनके वर्चस्व में वृद्धि हुई। संयोगवश कुछ प्रज्ञावान् साधकों

की तपश्चर्या और अनुसंधान के फलस्वरूप कुछ ऐसे रसायनी और वानस्पतिक नुस्खे भी इनके पास थे, जिनसे ये अपने फरेब और छल को प्रभावशाली बनाये रखने में सफल हुए। इन शताब्दियों में विज्ञान और धर्म के गठजोड़ ने भारतीय समाज का कल्पनातीत शोषण किया।

वे लोग जो महावीर और बुद्ध के पूर्व हुए या उनके समकालीन थे और जिन्हें अराजक/अनुशासनहीन जीवन जीने की आदत हो गयी थी, बुद्ध के परिनिर्वाण के तुरन्त बाद सिर उठाने लगे। बुद्ध के ऐसे षड्यन्त्रकारी शिष्यों में 'देवदत्त' का नाम आता है (कई यन्त्रों में 'देवदत्त' नाम मिलता है, यह उसी देवदत्त का अवशेष है; जिसने बुद्ध के देहावसान के बाद बगावत की और बौद्धधर्म के ढाँचे को बदल डालने की कोशिश की)! तब महाश्रमण सुभद्र ने कहा था: 'अब मत रोओ, हमें छुट्टी मिल गयी। उस महाश्रमण से तंग ही रहा करते थे। अब हम जो चाहेंगे, करेंगे। कोई कहने वाला नहीं है कि तुम्हें यह करना चाहिये, यह नहीं।'—(तान्त्रिक बौद्ध साधना और साहित्य; पृ. २७)। ये शब्द ईस्वीपूर्व पाँचवीं सदी के उत्तरार्द्ध के हैं। इसके बाद बौद्ध भिक्षुओं की कम-से-कम पाँच संगीतियाँ हुईं जिनमें हर बार वह टुकड़ों में बँट गया। चौथी संगीति ७८ ई. में कश्मीर के कुंडलवन में हुई। ऐसा लगता है कि बुद्ध-परिनिर्वाण के पाँच सौ वर्ष बाद महायान पूर्णतया प्रतिष्ठित हो गया था और उसमें वज्रयानी शाखा के प्रस्फुटन के बीज पड़ गये थे।

इसके बाद बुद्ध का देवपरक रूप सामने आ गया। उनकी मूर्तियाँ बनने लगीं। उनके साथ तंत्र-मंत्र जुड़ गये। महायान में उनकी भैषज्यगुरू के रूप में प्रतिष्ठा हो ही चुकी थी; बौद्ध प्रतिमा-विज्ञान ने रही-सही कमी को पूरा कर दिया। बुद्ध की प्रतिमाएँ धड़ल्ले से बनने लगीं। नागार्जुन, आर्यदेव, असंग, सुबन्धु, वसुबन्धु, दिङ्नाग, धर्मकीति, गुणप्रभ और शाक्यप्रभ भिक्खुओं की कृतियों में बौद्ध धर्म के बदलते हुए रूपाकारों को देखा जा सकता है।

तन्त्रशास्त्र को ले कर नागार्जुन का नाम सभी धर्मों में बार-बार आता है। जैन मन्त्रों में भी यह नाम आता है। नागार्जुन कई हुए; किन्तु दो बहुत प्रसिद्ध हैं। यह कहना मुश्किल है कि दोनों तान्त्रिक थे अथवा नहीं; किन्तु दोनों इतने प्रभावशाली थे कि इतिहास ने दोनों को गड्डमड्ड कर दिया। प्रथम नागार्जुन माध्यमिक था। वह १६६-१९६ ई. के बीच कभी हुआ। उसने नालन्दा में राहुलभद्र

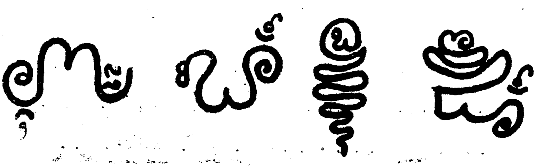

का शिष्यत्व ग्रहण किया और आन्ध्र की ओर चला गया। कुछ लोग उसे 'आद्य तान्त्रिक' मानते हैं। यह असंदिग्ध है कि इस नागार्जुन ने प्रज्ञापारमिता को प्रवर्तित किया था और गुह्योपदेश दिये थे; किन्तु शताब्दियों के अन्तर को मात्र इतना कह देने से मिटाया नहीं जा सकता। द्वितीय नागार्जुन ईसा की शताब्दी सातवीं में हुआ। कहा जाता है वह रसायनशास्त्री था और वनस्पतियों की उसे विशेष/गहन जानकारी थी। वह जैनाचार्य पादलिप्तिसूरि के पास गगनगामिनी विद्या सीखने गया था। उसे वनस्पतियों का इतना ज्ञान था कि पादलिप्ति जिस लेप को अपनी पगतलियों में लगा कर आकाश-गमन किया करते थे, उनके आचमन से ही उसने १०८ में-से १०७ को स्वाद द्वारा जान लिया था। वह तान्त्रिक भी था। नागार्जुन 'कितने हुए, कितने नहीं' इस विवाद में न पड़ते हुए हम इस निष्कर्ष तक अवश्य पहुँच सकते हैं कि छठी, सातवीं, और आठवीं शताब्दियों के तन्त्रशास्त्र पर नागार्जुन के व्यक्तित्व का काफी गहरा प्रभाव पड़ा था। बौद्धधर्म ने भी मंगोल, तिब्बत, नेपाल आदि देशों से लौट कर तन्त्र की जो काली छाया तन्त्रशास्त्र पर डाली थी उसके अवशेष भी हम तत्कालीन तन्त्र पर देख सकते हैं। आज का तन्त्रशास्त्र उसी कीलित शक्ल का बदला हुआ रूप है।

ईसा की सातवीं शताब्दी तक आते-आते बौद्ध धर्म का सूर्य अस्त हो चुका था। दक्षिण भारत से तो वह नखशिख बिदा हो गया था, उत्तर भारत में भी उसने अपना असबाब बाँधना शुरू कर दिया था। आठवीं से बारहवीं के कालखण्ड में सिद्धों-का-साहित्य मिलता है। 'सिद्ध' शब्द जैनों में तो प्रचलित है ही, तन्त्र में भी प्रतिष्ठित है। बौद्ध सिद्धों के चर्यापदों में वज्रयानी तन्त्र को अपने पूरे यौवन पर देखा जा सकता है। चौरासी सिद्धों की परम्परा मत्स्येन्द्रनाथ (मत्स्यान्त्राद=मछलियों की आँतें खाने वाला) तथा गोरखनाथ की तन्त्रकथा में-से भी तन्त्र के विकास की रूप-रेखा को जाना/समझा जा सकता है। नाथों और सिद्धों में-से छन कर जो रूप जैन तन्त्र को मिला, वह समीक्ष्य है। यह निश्चित है कि जैनदर्शन में तन्त्रविद्या की कोई प्रतिष्ठा कभी नहीं रही; असल में यह धर्म का बाह्य सामाजिक संस्करण ही था ठीक उस तरह का जैसा किसी फल का छिलका होता है, अन्दर जो कुछ है उसकी रक्षा के लिए धारण किया हुआ सामयिक रक्षा-कवच। स्तोत्र/स्तुति (पार्श्वनाथ स्तोत्र, विषापहार स्तोत्र, सहस्रनाम स्तोत्र, भक्तामर स्तोत्र, कल्याण मंदिर स्तोत्र, एकीभाव स्तोत्र आदि)हैं; किन्तु तन्त्र का हिंसक रूप जो शैवागम/शाक्ततन्त्र में मिलता है, वह यहाँ उपलब्ध नहीं है।

जैन दृष्टि से नागार्जुन और पादलिप्तिसूरि की कथाओं में जो सचाई है, उसे अभी कसौटी पर कसा जाना है; किन्तु जैन तन्त्रशास्त्र में 'नागार्जुन' के नाम का आना एक जटिल सवाल है, जिसका समाधान ढूंढ़ना ज़रूरी लगता है। शाबरतन्त्र में

भी नागार्जन प्रतिष्ठित है। जैन तन्त्रशास्त्र का जो रूप इधर के दो दशकों में सामने आया है, वह उसका पूर्ण सात्त्विक रूप नहीं है, उसमें वामाचार की मिलावट है। मौजूदा शक्ल में इसका जैनधर्म की मूल संरचना से कोई तालमेल नहीं है। वैसे भी जब हम जैन धर्म और दर्शन की छाया में जैन तन्त्रशास्त्र का तुलनात्मक अध्ययन करते हैं, तब हमें दोनों में परस्पर कोई सीधा संबन्ध नहीं दिखायी पड़ता है। लगता है जैसे यह सब किसी पके घड़े पर लगायी गयी मिट्टी है।

लगता है जैनतन्त्र का बीज उधर कहीं ईस्वीपूर्व नवीं शताब्दी में पड़ा होगा। पार्श्वनाथ के समय मूलतः तीन परम्पराएँ विद्यमान थीं – वैदिक, तापस, भौतिकतावादी। तापस प्रायः पंचाग्नि तपा करते थे और शरीर को तरह-तरह के कष्ट दे कर तन्त्रसिद्धि में लगे रहते थे। कहा जाता है नागार्जुन ने 'सुवर्णरसायन' की सिद्धि के लिए पार्श्वनाथ की किसी रत्न-प्रतिमा की उपासना की थी। जैन तन्त्र में पार्श्वनाथ को शीर्ष स्थान प्राप्त है। उनकी यक्षी की भी इस दृष्टि से प्रतिष्ठा है। इतिहास से हम जान पाते हैं कि पार्श्वनाथ के समय ध्यान की परम्परा प्रतिष्ठित थी, तन्त्र का जो रूप उनके परवर्ती काल में चल निकला उसे उससे जोड़ पाना कठिन लगता है। पार्श्वनाथ ने अपनी कुमारावस्था में जिस कमठ नामक व्यक्ति को चुनौती दी थी, वह तापस ही था; अतः यह संभव है कि पार्श्वनाथ ने युगानुरूप तन्त्र का कोई सरलीकृत रूप प्रतिपादित किया हो ताकि ठगी का मुकाबला ठगी से किया जा सके; किन्तु इस सबका कोई ऐतिहासिक सुबूत उपलब्ध नहीं है।

जैन कथा-साहित्य में विद्याधरों के प्रचुर उल्लेख आये हैं। आखिर ये विद्याधर कौन थे? क्या तान्त्रिक थे? 'वसुदेव हिण्डी' आदि में विद्याओं के वर्णन आये हैं; अतः यह कहना मुश्किल ही होगा कि जैनों का तन्त्र-धारा से कोई सरोकार नहीं था – उतना तो निश्चित ही था जितना अस्तित्व-के-संघर्ष में होना चाहिये; क्योंकि भारतीय सामाजिकता से जैनों को अलग छान कर देखना संभव नहीं है। जैनों के सुरक्षित/अक्षत (कुछ क्षति तो हुई) बने रहने का एकमेव कारण यही है कि उन्होंने अपनी मौलिकताओं को बचाया और अच्छी-बुरी सभी प्रवृत्तियों से सामयिक समझौते किये। इससे नुकसान हुआ; किन्तु इस क्षति को यथासमय हुए सुधारवादी आन्दोलनों ने पूरा कर दिया। भगवान् महावीर ने पार्श्वनाथ के काल में अंशतः स्वीकृत तन्त्र को, जो अन्धी डगर पर चलने लगा था, दुरुस्त किया। वामाचार में पाँच मकारों की

स्वीकृति है। पार्श्वनाथ के काल में चातुर्याम व्रत थे। महावीर ने जब 'मैथुन' के तन्त्र-रूप को देखा तो 'ब्रह्मचर्य' को सम्मिलित किया और पाँच महाव्रतों का एक स्वस्थ ढाँचा सामने आया। ब्रह्मचर्य ने जहाँ एक ओर नारी को एक नयी सामाजिक प्रतिष्ठा दी, वहीं दूसरी ओर उसने तन्त्र के वाममार्गी रूप को नियन्त्रित किया। मांस, मद्य, मधु के त्याग पर तो बल था ही, ब्रह्मचर्य के द्वारा मैथुन भी नियन्त्रित हुआ। मुद्रा का संबन्ध ध्यान से था, अतः उसे बना रहने दिया गया।

जैन सरस्वती-भाण्डारों में तन्त्र-मन्त्र संबन्धी हस्तलिखित ग्रन्थों के ढेर लगे हैं। आज हम कानजी स्वामी के ग्रन्थों को सरस्वती-भाण्डारों से निकाल फेंकने पर आमादा हैं; किन्तु इन ग्रन्थों का क्या होगा जो शकुन, स्वप्न, रमल, निमित्त, आय, कोष्ठक, अर्घ्य, सामुद्रिक, लक्षण, तन्त्र आदि से संबन्धित हैं? इनमें-से अधिकांश ऐसे हैं, जिनका जैन धर्म और दर्शन की बुनियादी बनावट से कोई संबन्ध नहीं है।

दिगम्बर आचार्य धरसेन ने वीर-निर्वाण के छह सौ साल बाद 'जोनिपाहुड' (योनिप्राभृत) ग्रन्थ की रचना की थी। 'जोपा' को निमित्तशास्त्र का शिरोमणि ग्रन्थ माना जाता है। कहा जाता है कि आचार्य धरसेन ने इसकी रचना अपने शिष्य पुष्पदन्त और भूतबलि के लिए की थी। 'जोपा' को समस्त विद्याओं और धातुवाद का मूलभूत कारण माना गया है। 'धवला' टीका में वर्णन है कि 'योनि-प्राभृत' में मन्त्र-तन्त्र की शक्ति की चर्चा है, जिसके द्वारा पुद्गलानुभाग जाना जा सकता है। आगमिक व्याख्याओं के अनुसार आचार्य सिद्धसेन ने 'जोपा' के आधार पर अश्व बनाये थे। इनके बल से महिषों को बेहोश किया जा सकता था और धन पैदा किया जा सकता था। विशेषावश्यक भाष्य (गाथा १७७५) में मलधारी हेमचन्द्रसूरिकृत टीका में अनेक विजातीय द्रव्यों के संयोग से सर्प, सिंह आदि और मणि, सुवर्ण आदि अचेतन पदार्थों को पैदा करने का उल्लेख है। कुवलयमालाकार के कथनानुसार 'जोपा' में कही गयी बातें कभी असत्य नहीं हो सकतीं (जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग ५, पृष्ठ २००-०१)।

'जोपा' के बारे में पढ़ते हुए दक्षिण के 'ओडियों' की याद आती है। वहाँ के पणण और पर्याण आदिम लोगों में वृकोन्माद (लाइकेन्थ्रोपी) तन्त्रविद्या का प्रचलन है। इस जाति के कई लोग पेशेवर वृकोन्मादी (लाइकेन्थ्रोप) हैं, जो मारणतन्त्र का प्रयोग करते हैं। इस तन्त्र में दो क़िस्म के लेपों का इस्तेमाल होता है; ये हैं – पिल्ला थैलम (भ्रूण तैल) और अंगोला थैलम (अंगोला तैल)। प्रथम 'थैलम' तैयार करने का तरीका बड़ा क्रूर और बर्बर है। इसे प्रथमप्रसवा के ६-७ मास के भ्रूण से निकाला जाता है और उसके टुकड़े कर भभकों से उसका तरल निकाला जाता है। इस तरल को नर-कपाल के चूर्ण में अंगराग के रूप में

तैयार किया जाता है और ओडियाँ इसे पहले ललाट पर और फिर अन्यान्य शरीरावयवों पर मलता है। कहा जाता है कि ऐसा करने के बाद वह किसी भी जानवर की शक्ल धारण कर सकता है (सीक्रेट्स ऑफ सॉर्सरी स्पेल्स एंड प्लेजर कल्ट्स ऑफ इंडिया, पृष्ठ २९-३०)। प्रश्न यह है कि क्या यह सब संभव है? 'लघुविद्यानुवाद' में, न सही इतने क्रूर; किन्तु इससे मिलते-जुलते प्रयोगों का वर्णन आया है। क्या जैनाचार्यों ने अपनी शक्ति मोक्षमार्ग में न लगा कर उसे इन/ऐसे कार्यों में विनियुक्त की थी? क्या यह सब 'मिथ्यात्व' से परे कुछ है? क्या इससे 'सम्यक्त्व' की हानि नहीं होती? सवाल बुनियादी हैं, जिनके जवाब ज़रूरी हैं।

सोचें हम : ऐसे कौन-से संकट थे कि जैनाचार्यों को अपनी मौलिक चर्या छोड़ कर चमत्कारों और तान्त्रिक तकनीकों को अपनाना पड़ा? वस्तुतः जैनों की आत्मरक्षा का और अपने अस्तित्व-को-कायम-रखने का प्रश्न सातवीं सदी से अँग्रेजों के आने तक निरन्तर उग्र बना रहा।

सातवीं सदी तक आते-आते श्रमण-संस्कृति के चारों ओर तान्त्रिकों का एक सघन जाल बिछ गया था और अन्धविश्वासों/जादू-टोनों का एक काला तम्बू तन गया था। मारण, मोहन, स्तम्भन, विद्वेषण, उच्चाटन, आकर्षण, वशीकरण आदि के प्रयोग सामान्य थे। बीमारियाँ थीं; किन्तु उन्हें दूर करने, या उन पर काबू पाने का कोई तर्कसंगत उपाय नहीं था। तन्त्र-मन्त्र आदि के प्रयोगों से ही 'तीर नहीं तो तुक्का' के आधार पर काम चल रहा था। लूट-खसोट, हमले, पशुओं का खो जाना, संबन्धियों का यात्राओं पर से लौट कर न आना, रोजगार-धंधों का न चलना, उनमें नुकसान होना, राजकोप, बंदीगृह से छूटना आदि कई समस्याओं के हल उन दिनों जादू-टोनों या तान्त्रिक प्रयोगों से होने लगे थे। माना, कई रसायनशास्त्र-संबन्धी अथवा वानस्पतिक प्रयोग तर्कसंगत और सफल रहे होंगे; किन्तु इन सफल प्रयोगों को बुनियाद बना कर कई काले काम भी शुरू हो गये थे। इस घनघोर धुएँ में-से असलियत को जान पाना कठिन था।

श्वेताम्बर (अकबर-कालीन जिनचन्द्रसूरि) और दिगम्बर (विद्यासागर, कोल्हापुर, १३१६ ई.) मुनियों ने कई तान्त्रिक चमत्कार किये थे। मुनि विद्यासागर तो एक मान्त्रिक प्रयोग से श्रावक-समुदाय के साथ रातोंरात दिल्ली पहुँच गये थे (दे. लघुविद्यानुवाद)। मध्यकाल के साहित्य में इस तरह के कई वर्णन मिलते

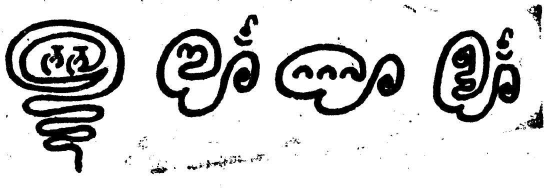

हैं। भारतीय गाँव तो अन्धविश्वास और टोने-टोटकों के कर्दम में गले तक डूबा हुआ था। आज भी इस तरह की कई घटनाएँ सुनने/पढ़ने को मिल जाती हैं। एक युग था जब ऐसी विषम स्थिति से जूझना ज़रूरी था; किन्तु आज ऐसा कुछ नहीं है। बीमारियाँ हैं तो उनकी स्पष्ट/प्रयोगसिद्ध औषधियाँ हैं; यात्राएँ निरापद हैं; लूट-खसोट, आक्रमण आदि का कोई आतंक नहीं है; अतीत की तुलना में हमारा जीवन काफी निष्कण्टक है; अतः हमें विशेषज्ञों की मदद से, प्रचलित तान्त्रिक प्रयोगों में-से प्रामाणिक प्रयोगों को छाँटना चाहिये और बाकी को सदा-सर्वदा के लिए नष्ट कर देना चाहिये। हमें देखना चाहिये कि इन प्रयोगों में-से ऐसे कौन-से हैं जो रसायनशास्त्र, वनस्पतिशास्त्र, ध्वनिशास्त्र, भौतिकी आदि की कसौटियों पर खरे हैं, या-जिनका कोई तर्कसंगत आधार है – बाकी जो फिज़ूल हैं और जिनका जैन धर्म और दर्शन के मूलभूत ढाँचे से कोई संबन्ध नहीं है उन्हें एक अधिकृत वक्तव्य के साथ तिलांजलि दे देना चाहिये।

एक बात समझ से बिलकुल परे है कि जबकि सारा संसार विज्ञान की नींव पर खड़े होने की कोशिश कर रहा है; जैनधर्म-की-संरचना-के कार्य-कारण-चिन्तन से संबद्ध होते हुए भी, ऊलजलूल तर्कहीन तथ्यों के प्रचार-प्रसार में हम अपनी शक्ति का निरर्थक व्यय क्यों कर रहे हैं? जो भी ग्रन्थ प्रकाश में आये हैं, फिर वह चाहे करणीदान सेठिया का हो या आचार्यश्री कुन्थुसागरजी का, उनमें यह देख लेना होगा कि जैनत्व का ठीक से निर्वाह हो रहा है/हुआ है, या नहीं?

ठीक है : जैनाचार्यों ने वक्त के दबाव से या समाज-रक्षा के निमित्त या जैन धर्मानुयायियों के स्थिरीकरण के लिए समय-समय पर जो समझौते किये वे उनकी व्यवहार-कुशलता और समायोजिका शक्ति के प्रतीक थे, शायद यदि वे ऐसा नहीं करते तो या तो जैनधर्मानुयायियों की संख्या बहुत घट जाती या फिर वे भी बौद्धों की तरह विलुप्त हो जाते; किन्तु अब ऐसे क्षण हैं कि हम अपने 'प्रज्ञा-श्रमणों' के इस रहस्य को समझें और दुर्भाग्य से हमने मूल की जगह जिस मुलम्मे को कभी अन्तिम मान लिया था उस भूल और भ्रान्ति को ठीक करें। अब हमें ऐसे ग्रन्थों के प्रकाशन पर बंदिश लगानी होगी जिन पर टिप्पण किया गया हो कि 'क्या करें इनका जैनधर्म की मूल मान्यताओं से कोई तालमेल नहीं है किन्तु चूँकि यह तन्त्र का क्षेत्र है अतः हमें ग्रन्थ में इन्हें सम्मिलित करना पड़ रहा है' या इस तरह कि 'यद्यपि जो भी प्रकाशित किया जा रहा है वह अधिकृत है; किन्तु यदि किसी साधक को इसमें सफलता नहीं मिलती है तो इसकी जिम्मेदारी लेखक पर नहीं होगी'। हमें इस तरह की छलपूर्ण टिप्पणियाँ दे कर निश्चित ही जैनधर्म के निष्कलुष मुख पर कालिख नहीं लानी चाहिये।

जिन लोगों ने वामाचारी तन्त्र-प्रयोगों का अध्ययन किया है, वे जानते हैं कि यह रास्ता कितना बीभत्सक और भयावह, क्रूर और कुत्सित है । इसमें क्या नहीं है ? इसमें वह सब है जो हमारे सामाजिक शील को ऐड़ी-से-चोटी तक दूषित कर सकता है ।

जिन पाँच मकारों को वाममार्ग में स्वीकार किया गया है, जैनधर्म में उसे आरम्भ में ही अस्वीकार कर दिया गया है । अहिंसा को ले कर जैनाचार्यों ने कभी कोई समझौता नहीं किया । जैन तन्त्रशास्त्र में जहाँ भी अहिंसा का मुँह काला हुआ है, उसके पीछे यतियों और भट्टारकों की दूरदर्शिता या व्यवहार-कुशलता (हम नहीं सोच पा रहे हैं कि उसे क्या कहें) ही कहा जाएगा । इतना होने पर भी ऐसी टिप्पणियाँ और निर्देश देखने को मिले हैं, जिनमें जैन धर्म / दर्शन की निर्मलताओं को स्पष्ट कर दिया गया है ।

वामाचार के प्रभाव से मांस, मत्स्य, मदिरा, मुद्रा और मैथुन का प्रचार बढ़ गया था । मैथुन और तन्त्रशास्त्र का गठजोड़ इतना अधिक हो गया था कि उसका लोकशील पर दुष्प्रभाव पड़ने लगा था । श्रमण-संस्कृति जैसी निवृत्तिपरक संस्कृति को इस भोगवादी वृत्ति (एपीक्यूरियनिज्म) का कड़ा मुकाबला करना पड़ा था – इस संघर्ष के निशान आज भी उसके वदन पर दिखायी देते हैं । वामाचार के छींटे जैनधर्म पर भी आए थे; उस वामाचार के जिसमें कहा गया है : "पीत्वा पीत्वा पुनः पीत्वा यावत् पतति भूतले । पुनरुत्थाय वै पीत्वा पुनर्जन्म न विद्यते ।।" इस तरह की भोगवादी वृत्तियों और उक्तियों से सारा तन्त्र-साहित्य भरा पड़ा है ।

तन्त्र की यह लहर व्यापक थी और लगभग पूरे देश में फैल गयी थी । दक्षिण भारत में शैवों के प्रभाव ने जैनधर्म के पाँव उखाड़ दिये थे । कर्नाटक और तमिलदेश जैनों के बहुत बड़े गढ़ थे; किन्तु शैवों के पुनरुद्भव ने उसे वहाँ से उन्मूलित कर दिया । जैन धर्म और दर्शन का जो रूप दक्षिण में प्रतिष्ठित था, उसे युगानुरूप नये मोड़ पर आना पड़ा । वह भी तन्त्र-मन्त्र के गर्त में फँस गया ।

ईसा की छठी सदी से जो दौर शुरू हुआ, उसे हम दक्षिण भारत में जैन-धर्म के सूर्यास्त का युग कह सकते हैं । तन्त्र-मन्त्र की मार ने बौद्धधर्म को तो दक्षिण से पूरी तरह खदेड़ ही दिया; किन्तु जैनधर्म अपनी शक्ति-संपन्नता और लोच के कारण टिका रहा । ११५० ई. में शैव संतों से संबन्धित कथा-किंवदंतियों

का जो संकलन 'पेरियपुराणम्' के नाम से बना उसमें जैनों के पतन का जनश्रुतिगत उल्लेख मिलता है। 'पेरियपुराणम्' में ६३ शैव संतों की जीवनियाँ हैं, जिनमें जैनों के मंत्रों और जैनधर्म को निरर्थक/प्रभावहीन बताया गया है। इसमें ऐसी कई घटनाओं का उल्लेख मिलता है, जिनमें जैनों को अनेक अग्निपरीक्षाओं से गुज़रना पड़ा था। उत्तर भारत के प्रसंगों में आचार्य मानतुंग की कारावास-कथा और 'लघुविद्यानुवाद' की आवरण-कथा इसी तरह के संकटों और अग्नि-परीक्षाओं के प्रमाण हैं।

यक्षी संस्कृति, जिसका अन्दर कई जगह उल्लेख हुआ हैं, दक्षिण भारत से रेंग कर उत्तर में आयी। मूर्तिकला और शिलालेख-संबन्धी जो सुबूत मिलते हैं, उनसे पता चलता है कि तमिलदेश में यक्षिणी/यक्षी को एक स्वतन्त्र पद प्राप्त था, जिसकी स्थिति जिनेन्द्र के तुल्य मानी जाती थी : लगता है यह मात्र सामयिक व्यवस्था थी जो आगे चल कर जैन उपासना-पद्धति और प्रतिमाविज्ञान की अनिवार्यता बन गयी। पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री नें लिखा है : 'इतना ही नहीं किन्तु ऐसे उदाहरण हैं जिनमें यक्षिणी की स्थिति जिनदेव से भी अधिक महत्त्वपूर्ण बना दी गयी और यक्षिणी के महत्त्व के सामने जिनदेव का महत्त्व घटा दिया गया'— (दक्षिण भारत में जैनधर्म, पृष्ठ २९-३०)। उत्तरभारत में भी नेमिनाथ, पार्श्वनाथ, और महावीर की यक्षणियों, क्रमशः अम्बिका, पद्मावती और सिद्धायिका, को ले कर यह हुआ। दक्षिण में नेमिनाथ की यक्षिका को सर्वोपरि महत्त्व मिला है। ज्वालामालिनी भी एक यक्षिणी है, जिसे पोन्नूर के हेलाचार्य ने आविष्कृत किया और जैनधर्म में रोप दिया। चूँकि अन्य धर्मों के साधु/आचार्य तन्त्र-मन्त्र के अभ्यासी होते थे अतः जैन साधुओं को भी अपनी प्रतिष्ठा बनाये रखने के लिए तन्त्र-मन्त्र में सिद्धहस्तता प्राप्त करनी पड़ी। श्रवणबेगोला के कई शिलालेखों में जैन मुनियों और आचार्यों के साथ मन्त्रवादी विशेषण लगा मिलता है, जो जैनों में तन्त्रविद्या की लोकप्रियता का परिचायक है। ग्यारहवीं शताब्दी के प्रथम चरण में मल्लिषेण हुए। वे वादिराज के समकालीन थे। मल्लिषेण के तन्त्र-मन्त्र-संबन्धी अनेक ग्रन्थ मिलते हैं; जिनमें मारण, विद्वेषण, उच्चाटन, वशीकरण आदि के प्रयोग भी हैं। यदि विशेषांक के पृष्ठ ३९ से ४४ तक दी गयी ग्रन्थ-सूची का सर्वेक्षण किया जाए, तो पता चलेगा कि जैनाचार्यों ने तन्त्र-मन्त्र को ले कर क़िस्म-क़िस्म की साहित्य-रचना की थी; जब, जो भी, भारतीय क्षितिज पर आया (यहाँ तक कि अरब की रमल विद्या भी) उसे उन्होंने अपना लिया; किन्तु अपने अनुयायियों की निष्ठा को बनाये रखा।

इस तरह प्रतीत होता है कि तन्त्र-मन्त्र की जड़ें जैनधर्म में किन्हीं कारणों से इतनी गहरी चली गयी थीं कि अब उन्हें उखाड़ पाना मुश्किल हो रहा है। कहीं ऐसा तो नहीं है कि इन दिनों इतिहास स्वयं को दुहराने की मुद्रा में है?

—नेमीचन्द जैन

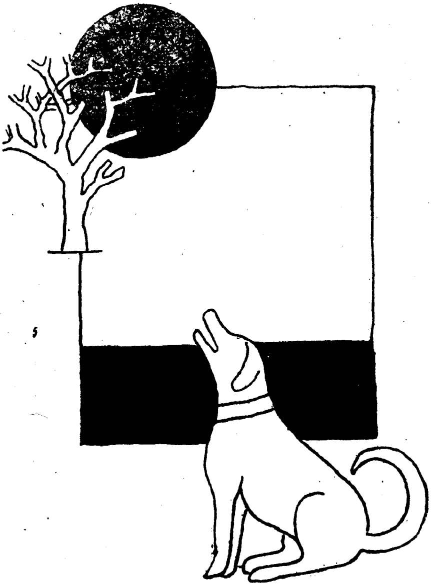

अन्धविश्वासों की एक व्याख्या यह भी

रनवीर सक्सेना

अन्धविश्वासों का दायरा काफी विशाल है। पश्चिमी देशों को आमतौर पर अन्धविश्वासों से मुक्त माना जाता है; पर बात दरअसल ऐसी नहीं है। पश्चिम के बड़े नामी-गिरामी लोग अन्धविश्वास पालने के लिए मशहूर हैं। अँगरेजी के प्रसिद्ध कोशकार डॉ. सैम्युअल जॉनसन सड़क पर चलते समय हर लैम्पपोस्ट को हाथ लगाना शुभ मानते थे; अगर भूल से किसी खम्भे को हाथ लगाना रह जाता तो वे लौट कर पीछे आते और अनछुए खम्भे को छू कर फिर आगे बढ़ते । स्टेज तथा फिल्म-अभिनेता पीटर सैलर्स किसी कलाकार को पीले रंग के कपड़े पहने देखते तो उदास हो जाते थे। दीपक वाली देवी (द लेडी विद द लैंप) के नाम से विख्यात प्रसिद्ध समाज-सेविका फ्लोरेंस नाइटेंगेल अपनी जेब में हमेशा पालतू उल्लुओं का जोड़ा रखा करती थीं। अंग्रेजी उपन्यासकार चार्ल्स डिकेंस का विश्वास था कि नींद तभी अच्छी आती है जब पलंग का रुख उत्तर-दक्षिण रहता है।

खिलाड़ियों की अन्धविश्वास-प्रियता असीम है। अमेरिकी टेनिस खिलाड़ी आर्ट वार्सन सर्विस करने के पूर्व कोर्ट को अपने पैर तथा रैकेट से कई बार टपटपाते····फिर गेंद को टपटप कर तीन बार टप्पा देते और तब कहीं सर्विस करते। क्रिकेटर टेफील्ड गेंदबाजी करने के लिए दौड़ लगाने से पहले दोनों जूतों की नोक से मैदान को कई बार टपटपाते । रूसी फुटबॉल गोलकीपर लेन याशिन मैच में हमेशा दो टोपियाँ ले कर जाते थे। एक वे पहनते और एक शकुन के लिए गोल के पीछे जाली में रख देते। मुक्केबाज जो लुइस हमेशा बायाँ दास्ताना पहले पहनते। स्क्वैश चैम्पियन मैच के दिन कोई नया कपड़ा नहीं पहनते। क्रिकेटर श्रीकान्त खेल के बीच अपने लॉकेट को छूते देखे जाते हैं।

पूर्व में, विशेष कर भारत में, तो व्यक्तिगत अन्धविश्वासों के अलावा सामाजिक अन्धविश्वास भी अनगिनत हैं। इस दिन इस दिशा में नहीं जाना चाहिये। अमुक दिन अमुक काम नहीं करना चाहिये। छींक आये तो यह मत करो। बिल्ली रास्ता काट जाए तो उस रास्ते न जाओ। जाते समय किसी को टोको मत। बड़ी लम्बी फेहरिस्त है इन सामाजिक अन्धविश्वासों की।

अन्धविश्वास तर्कहीन व्यवहार का सूचक होता है। यह देखा गया है कि जिस काम में हार-जीत का खतरा अधिक होता है वहाँ अन्धविश्वास की मात्रा अधिक और पकड़ अधिक प्रबल होती है। जहाँ अनिश्चितता ज्यादा है; वहाँ अन्धविश्वास के पैर अधिक जमते हैं। शहरों की अपेक्षा गाँवों में अन्धविश्वास अधिक पाये जाते हैं। इसका एक कारण अशिक्षा हो सकता है; दूसरा कारण शायद यह है कि ग्रामीण जीवन प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से कृषि पर निर्भर करता है, जिसे प्रकृति का जुआ कहा जाता है। अनिश्चितता के इस ग्रामीण वातावरण में अन्धविश्वास सामाजिक व्यवहार का प्रबल अंग बन गये हैं। शहरों की भागदौड़ में विकल्प इतने कम हो गये हैं कि अन्धविश्वासी संस्कार मनुष्य को रोकना भी चाहें तो रोक नहीं पाते। उदाहरण के लिए बम्बई के व्यस्त तथा तेज जीवन में किसके पास इतना समय है कि दिशाशूल पर विचार करे या बिल्ली के रास्ता काट जाने पर ठहर जाए और लोकल ट्रेन छोड़ दे। शिक्षा और मशीनीकरण ने अन्धविश्वासों की जमींदारी समाप्त भले ही न कर दी हो, पर उनका क्षेत्रफल तो निश्चय ही घटा दिया है।

इस संदर्भ में अमेरिकी मजाकिए ग्रूचो मार्क्स की कुछ व्याख्याएँ बरबस याद आ जाती हैं। ग्रूचो के मार्क्सवाद की बानगी पेश है (मृतात्मा को धन्यवाद देने के बाद)–

- किसी व्यक्ति की नाक में खुजली होना किस बात का सूचक है?
  ग्रूचो – इस बात का कि नाक खुजलायी जाना चाहिये।
- काली बिल्ली आपका रास्ता काटे तो इसका क्या अर्थ हुआ?
  ग्रूचो – कि बिल्ली कहीं जा रही है।
- १३ का अंक लिखा दिखने का क्या मतलब हुआ?
  ग्रूचो – कि आपको गिनती आती है।
- दियासलाई की एक तीली से तीन लोग सिगरेट जलायें तो क्या होगा?
  ग्रूचो – दो तीलियों की बचत हो जाएगी।

ग्रूचो के मार्क्सवाद के बाद भी अगर किसी में अन्धविश्वास शेष रह जाएँ तो समझा जाना चाहिये कि उसका मर्ज ला-इलाज है।

'नईदुनिया' १४ अप्रैल १९८७ से साभार

'सिद्ध' : कितने अर्थ ?

'सिद्ध, जैनों का एक इबारती और
तकनीकी शब्द है ।
सिद्धत्व साधना की चरम परिणति है,
उपलब्धि का सर्वोत्तम आकार है।
इसके बाद आत्मा मात्र ज्ञाता-दृष्टा
रह जाती है ।

आदमी का
प्राणिमात्र का सबमें बड़ा दुश्मन है
अज्ञान/विपरीत ज्ञान/या/अन्धा ज्ञान ।
जो ज्ञान व्यक्ति खुद हो कर या
खुद-में-हो-कर हासिल करता है
साधना/तप/अनुसंधान/स्वानुभव से
वह होता है अद्वितीय, अनुपम, अ-जोड़;
इसे ही सिद्धि कहा जाता है/कहा
गया है ।

'सिद्ध' शब्द, मात्र जैनों का शब्द नहीं है,
वह भारतीय धर्मों और भारतीय
संस्कृति में काफी गहराई तक गया-डूबा
शब्द है

मध्यकाल में तो उस महात्मा को सिद्ध
कहा जाता था, जो
भूत, पिशाच, प्रेत, डाकन आदि का नियामक/शास्ता होता था; ये सब जिसके
चरणों में सिर झुका कर चलते थे;
वह तन्त्रवेत्ता होता था–
उसकी अध्यात्म में तो गति होती ही थी
लोकाचार में भी उसका नाम था
उसका व्यक्तित्व निपट धार्मिक ही
नहीं था,
सामाजिक और सांस्कृतिक भी था ।

जो लोग अज्ञान को चुनौती दे कर
चढ़े साधना के शिखर पर, जैनों में
उन्हें ही 'सिद्ध' कहा गया;
जिन्होंने स्वयं को निर्भ्रान्त किया और
जो भी उनके संपर्क-समागम में आया
उसे भी अज्ञान-से-ऊपर उठा
सम्यग्ज्ञान के शीर्ष पर जा रखा, वे थे
सिद्ध ।

वे ज्ञानमात्र थे
केवलज्ञान
ज्ञान के अलावा कुछ और उनमें बच ही
नहीं रहा था (ध्यान रहे आत्मा ज्ञानवाची
शब्द है)।

क्या हम ऐसे किसी व्यक्तित्व की कल्पना
कर सकते हैं, जो साधना के बल पर
शुद्धतम हुआ, जिसमें-से अज्ञान-अविद्या की
संपूर्ण कालिमा निकल गयी और जो
निकल आत्मा हुआ देहातीत हो कर ?
चूंकि यदि

सबमें बड़ा अज्ञान यदि कोई है तो यह
कि देह अन्तिम है । वही
वह है, जिसके लिए सर्वस्व होम दिया
गया है/होम दिया जाता है ;
किन्तु ऐसा है कहाँ ? वस्तुतः देह
स-अन्त (सान्त) है, अन्त है उसका;
किन्तु जो विदेह/देह-मुक्त हुआ है
अन्त उसका है ही नहीं,
वह अनन्त है; सारे अन्त जिसमें
अनन्त हुए हैं वह है सिद्ध ।

जिसने 'सर्वार्थ सिद्ध' किये हैं
जिसने तमाम 'पुरुषार्थ' पा लिये हैं
जिसे जीवन का 'परम अर्थ' मिल गया है

जो किसी ऐसे सिरे पर आ खड़ा हुआ है, जिसके आगे पाँव रखने को कोई बिन्दु बचा ही नहीं है,
वह है 'सिद्ध'। जिसने पुरुष/आत्मा का सम्यक् रूप/अर्थ जान लिया है; मात्र जान ही नहीं लिया है बल्कि उसका पारायण/पारदर्शन कर लिया है, जिसने देह-से-पार उसे देखा है जिसे देखने के बाद और कुछ देखने को बचा ही नहीं है
वह है 'सिद्ध'।

'सिद्ध' शब्द की जन्मकथा को हम लें। शब्द (यों पुद्गल) जीव की तरह ही है जो जनमता, जमता, और गुज़र जाता है; उसका हृदय है, मस्तिष्क है, स्नायुतन्त्र है, पाचनतन्त्र है, रक्तसंचार-प्रणाली है, उसकी अपनी अस्मिता है, वह है ठीक ऐसा ही जैसे कोई वृक्ष, कोई शिशु कोई अन्य जीवधारी।
'सिद्ध' भी इसी तरह का एक शब्द है; जिसकी अपनी अस्मिता है, अपनी विकास-कथा है।

सिद्ध, सिध् धातु में-से विकसित है 'सिध्' का अर्थ है परिपूर्ण होना, उपलब्ध होना, स्थापित होना, 'स्व' में अधिष्ठित होना
अँग्रेजी में इसका उल्था होगा अकॉम्प्लिश होना, एस्टेब्लिश होना।
'स्व' को जानना और उसे शोरगुल/धूमिलता में-से ढूँढ निकालना, मामूली काम नहीं है। धुएँ को चीर कर, बादलों की काली/घनी चादर को फाड़ कर सूर्य के संपूर्ण बिम्ब को पाना बड़ा दुस्तर कार्य है।

सिध्–सेधति/सिधते का अर्थ यही है। अनन्त ज्ञान के समुद्र में निमग्न होने के लिए, उसमें उन्मुक्त अवगाहन के लिए सघन/पर्त-दर-पर्त जमे मिथ्यात्व को चीरना होता है। विदेह-की-रोशनी-में देह-के-तिमिर को पहचानना, ऐसे तिमिर को जो बारंबार उजाले का भ्रम उत्पन्न करता हो, और पहचान कर उसे निर्बीज करना कितना मुश्किल है?

इसे वे ही जानते हैं जो स्वरूपानुभव में निमग्न हैं, या जो स्वरूपाचरण मे मस्त, निश्चिन्त हैं। सिद्धत्व एक ऐसी अवस्था है जिसमें पाने को कुछ बच नहीं रहता है;

वहाँ वह सब कुछ मिला होता है, जिसे हम प्रतिपल मानते रहे हैं कि वह हमारे पास नहीं है (असलियत यह है कि वह है और प्रतिपल है)। सिद्धत्व के मायने मात्र इतने हैं कि जो हमारे पास था (है), जिस पर पर्दे-के-बाद-पर्दे पड़े (हैं), किन्तु हर पर्दा उठाया गया और अन्ततः वहाँ पहुँचा गया जहाँ 'स्व'-केवल 'स्व' बच रहा —यह सिद्धत्व है। सिद्धत्व में 'स्व' बच रहता है 'पर' छटपटा कर भाग खड़ा होता है; अतः

सिद्ध होने का सीधा-सा मतलब है — स्वयं-को, स्वयं-में-पाना।
उस स्वयं को जो काफी समय तक यह मानता रहा कि 'मैं देह हूँ, देहरूप हूँ'। इस प्रगाढ़ भ्रम में-से 'स्व' को मुक्त करना और सिर्फ ज्ञान में मुकम्मल ठहर जाना सिद्धत्व है।

सिद्ध शब्द में-से प्राकृत में विकसित हुआ है 'सिज्झ' और सिज्झ में-से नामधातु के रूप में प्रयुक्त है 'सीझ-ना' यानी पकना या गलना।

'दाल सीझती है' अर्थात् खाने योग्य, सुपाच्य बनती है।
सीझने का मतलब हुआ 'सीझनिंग'—

दृढ़ होना, स्वरूप में मुकम्मल होना, पुख्ता होना ।
हर संघर्ष को झेल कर
चुनौती को चीर कर अपने असली रूप में खड़े होना – सीझना है ।
विषमतम स्थिति में भी 'स्व' की निर्भ्रम पहचान बनाना सीझना है ।

इस तरह सीझने का अर्थ हुआ परिपक्व होना, पकना; स्वानुभूति की प्रक्रिया में प्रवीण होना;
यह सिद्धत्व में उतरने को प्रक्रिया है,
पड़ाव-दर-पड़ाव कार्यक्रम है
साधु/उपाध्याय/आचार्य/अरहंत/·····

'सिज्झ' में-से 'सीझ' का जन्म भाषा-विज्ञान के एक नियम में-से हुआ है। जिसे हिन्दी में 'क्षतिपूरक दीर्घीकरण' और बाङला में 'क्षतिपूरक दीर्घभिवन' कहते हैं, उसके तहत हुआ है 'सिज्झ' का 'सीझ' । सिज्झ में-से 'ज्' का लोप हुआ और फलस्वरूप 'सि' का 'सी' हुआ – एक लुप्त हुआ, एक दीर्घ और सिज्झ से सीझ बन गया । इसी तरह बने हैं बुद्ध/बुज्झ से बूझ, युद्ध/जुज्झ से जूझ और दुग्ध/दूध से दूध ।

शब्द बनते हैं/बनते जाते हैं
पर्यायान्तर होता है; किन्तु मुख्यार्थ लगभग बना रहता है। सीझने में
सिद्ध होने, सफल होने, परिपक्व होने का भाव बना हुआ है ।
ऐसा साधु जो उपाध्याय/आचार्य आदि अवस्थाओं में-से गुजरने की प्रक्रिया को ही ना जानता हो, अपनी साधना
में क्या-कुछ हासिल करेगा,
कहा नहीं जा सकता ।

कुछ भी पाने के लिए
यह सब जानना ज़रूरी है, जिसे मिथ्यात्व या ग़लत ज्ञान और सम्यक्त्व या
सही ज्ञान कहते हैं
जिसमें झूठ-सच की परख नहीं है या जो साँच-को-आँच पर रखे हुए हैं;
किन्तु जो झूठ को उसकी परिपूर्णता में नहीं जान पा रहा है, वह सत्य को पूरी तरह पकड़ पायेगा यह संदेहास्पद है; वास्तव में
सच को पकड़ने के लिए, उसे नखशिख जानने के लिए, झूठ को भी भी नखशिख जानना ज़रूरी है ।

'सिद्ध' शब्द की भारतीय संस्कृति में बहुत गहरी पैठ है । वह मामूली शब्द नहीं है । हमारे अक्षर-ज्ञान की
शुरूआत में वह सबमें पहले था–
'ओम् नमः सिद्धेभ्यः/ओम् नमः सिद्धम्'
जिसमें-से मध्ययुग में रह गया सिर्फ 'ओनामासीधम' और अक्षर-ज्ञान देने से पहले भारतीय पण्डित बच्चों से यही कहलवाने लगे : सिद्धों को नमस्कार
जिन्होंने अपनी अजर-अमर साधना से अमृतत्व को प्राप्त किया;
उस सत्ता को नमन जिसने वह सब
उपलब्ध किया जो
उपलब्धियों-की-उपलब्धि है ।

हिन्दी में 'सिद्ध' शब्द को ले कर
कई महावरे विकसित हो गये हैं ।
एक शब्द है 'सीध', जिसके मायने हैं सीधे होने की अवस्था । हम जब कोई क्यारी बनाते हैं या किसी मकान के लिए
खाका खींचते हैं दीवारें उठाने के लिए
तब 'सीध मिलाते' हैं, यानी किसी
सिद्ध/स्थापित बिन्दु से मेल बिठा कर
सीधी रेखा या रेखाएँ डालते हैं । यह
काम कारीगर गेरू-भीगे सूत्र से संपन्न
करता है । 'सीध' अगर नहीं मिलती
है तो फिर टेढ़ेपन की आशंका बनी
रहती है और आगे चल कर पूरी
योजना असफल हो जाती है ।
'सीध बाँधना' हिन्दी में प्रचलित हो गया है । दीवार पर जब ईंटों की कतार

चिनी जाती है, तब सीध बाँधे बिना वैसा नहीं होता अन्यथा सब कुछ धराशायी हो रहेगा।

जिस तरह मामूली कामों में सीध का महत्त्व है, ठीक वैसे ही अध्यात्म में भी 'सिद्धों-से-सीध बाँधे बिना' कुछ हासिल हो, यह संभव नहीं है। यदि सचमुच कुछ पाना है तो अपने लक्ष्य की सीध सिद्धों से मिलानी/बाँधनी होगी। इस तरह सिद्ध में-से विकसित महावरा सीध बाँधने का सीधा-सादा अर्थ हुआ अपने भीतर एक ऐसी सीधी रेखा डालना जो लक्ष्य को भलीभाँति निर्धारित करती हो।

जादू-टोने और जंतर-मंतर निपट अज्ञान हैं, इनकी पीठ पर ज्ञान की प्रांजलता नहीं है। ये हैं सिर्फ इसलिए कि आदमी अपने भीतर ज्ञान-के-सूरज-की-धूप को ढूँढ़ नहीं पाया है, और इनमें भय-की-भावना के कारण लिप्त है। उसे लगता है कि यदि कुछ हुआ और वह मर गया तो उसे वह सब छोड़ कर जाना होगा जिसे उसने जान मार कर एकत्रित किया है; इस आतंक में वह जो समेट पाता है उसका भी ठीक से उपभोग करने से चूक जाता है और एक दिन आहिस्ते से उसे महायात्रा पर निकल जाना होता है।

यदि वह निर्भीक हो (ज्ञान की सबमें बड़ी सिफ़त यह है कि वह व्यक्ति को निडर और साहसी बना देता है), तो विकल होने का कोई प्रश्न ही नहीं है। जो जानते हैं, वे कभी डरते नहीं हैं। ज्ञान और भय की कोई मैत्री नहीं है, अज्ञान और भय की है; इसलिए जो जान रहा है कि उत्पाद और व्यय आते-जाते हैं, किन्तु भीतर की ध्रुवता टिकी रहती है, उन्हें न तो किसी तरह का खौफ़ रहता है और न किसी तरह की फिक्र – वे अपनी मस्ती में डूबे बहुत सफलतापूर्वक एक पड़ाव-से-दूसरे पड़ाव पर चले जाते हैं और एक दिन उन्हें ऐसा लगता है कि वे एक ऐसे पड़ाव पर आ पहुँचे हैं

जहाँ से न तो पीछे लौटने की ज़रूरत है और न ही जिसके आगे कोई पड़ाव है। वस्तुतः जो कैवल्य की परमनिधि प्राप्त करने की पात्रता रखता है, उसे अन्धविश्वासी या भयभीत होने की ज़रूरत ही नहीं है।

सिद्धावस्था की वर्णमाला साधुत्व से शुरू होती है।
साधु वह नहीं है जो भयभीत है, बल्कि साधु वह है जो स्वयं तो भय से पूरी तरह मुक्त है ही अपने संपर्कों को भी उससे मुक्त रखने में समर्थ है। जो ज्ञानी है उसे न तो कभी डरना है और न ही अज्ञान या अविद्या के आगे अपना सिर झुकाना है। जिसने उज्ज्वलता को जान लिया है वह भला अँधेरे की चाकरी क्यों करेगा?

सिद्ध, शब्द का संबन्ध 'सित' से भी है सित के मायने हैं उज्ज्वल, शुद्ध, दग्ध, खालिस, शुक्ल, स्फटिक-की-तरह-पारदर्शी (ट्रांसपेरेंट), आत्मस्वरूप की धवलिमा को प्राप्त, अं. प्योर, बिना किसी मिलावट का, मौलिक।

सिद्ध इस तरह वह हुआ जो उज्ज्वल/शुभ्र है; जिसने कर्म के ईंधन को दग्ध/भस्म कर दिया है; जो साधना की आँच में तप-तच कर निर्मल सौटंच हुआ है; जिसमें खोट का कोई अंश बच नहीं रहा है; जो खरा है सब ओर से, जो अयोगकेवली है, जो निकल परमात्मा है, जिसमें से (कल=शरीर की) तमाम

भंगुरताएँ और कलुषताएँ दुम दबा कर
भाग निकली हैं, जो शुद्धता के
परमोच्च शिखर पर पहुँच चुका है ।

जो उज्ज्वलता का सीमान्त है
वह सिद्ध है ।
सिद्ध यानी लोकभाषा में वह जिसने
अन्धविश्वास और अज्ञान की जंजीरों को
सम्यक्त्व की छैनी से काट फेंका है, और
पारमार्थिक भाषा में वह जो 'अपुनर्भू' हुआ
है अर्थात् जिसने जन्म-मरण के बीज
इस तरह जला-झुलसा दिये हैं कि अब
उनमें-से वृक्ष-की-संतति ख़त्म हो
गयी है ।

सिद्ध वह है जिसने सिर्फ ज्ञान में ठहर कर
अज्ञान और अन्धकार की तमाम
संभावनाओं को निर्बीज कर दिया है ।
शुद्ध आत्मतत्त्व का बोध जिसे था;
किन्तु जो स्व को शुद्धात्मतत्त्व में
सुस्थित नहीं कर पाया था, अब कर चुका
है अतः सिद्ध है; ऐसा महिम्न व्यक्ति
अंधकार में भला कैसे लौटेगा ?

जिसे हम देह कहते हैं : उसके अन्य
प्रतीकपरक नाम या संबोधन हैं – अंधकार,
अज्ञान, अविद्या, माया, पर; इस तरह
जिसने देह को निर्बीज कर दिया
है, वह है सिद्ध; जिसे अब देह में लौटना
नहीं है, जो अ-देह/अ-शरीर हुआ है
वह है सिद्ध ।

कम शब्दों में –
देह यानी अंधकार, यानी अज्ञान;
आत्मा यानी रोशनी यानी परम कैवल्य
यानी परमोज्ज्वलता ।
ऐसी दशा में जिसने 'परमअर्थ' को पा
लिया है; वह अँधेरे में क्यों लौटेगा ?–
कभी नहीं लौटेगा ।

हमने यहाँ/इस अंक में सिद्ध/सिद्धत्व
पर प्रकाश इसलिए डाला है
ताकि हम जानें कि हमारा मूल रूप
अज्ञान नहीं है, सम्यक्ज्ञान है सिर्फ
इतना ही नहीं
केवलज्ञान है ।

हमारा विश्वास है कि जो व्यक्ति
ज्ञान-के-कैवल्य की साधना या आरा-
धना कर रहा है, वह जादू-टोने या
जंतर-मंतर के जाल में फँसे, यह संभव
ही नहीं है ।

वस्तुतः ज्ञान-के-कैवल्य से इन सबका
कोई सरोकार नहीं है;
अतः हमारा यह निष्कर्ष है कि
जैन होना अन्धविश्वास से मुक्त होना
है, या जो अन्धविश्वासी है, या जो
जादू-टोनों में फँसा हुआ है यह
जैन कहे जाने का अधिकारी नहीं है ।

अन्त में हम ज्यॉमिति के तीन वर्ण रखना
चाहते हैं – क्यू.ई.डी.
जिसका मूल है–क्वॉड एरट डेमांस्ट्रेंडम
अर्थात् 'यह वही है जिसे हम सिद्ध
करना चाहते थे' ।

जानें हम : जैन होने का सीधा अर्थ है
ज्ञान के परिपूर्ण सम्यक्त्व की ओर
अविराम पाँव उठाते जाना और
इस सफर में जो भी, जितना भी अँधेरा
पहचान में आये, उससे मुक्त
होते जाना ।

सिद्धों का मार्ग यही है ।

–प्रलयंकर

(संपादकीय; पृष्ठ १० का शेष)

ताकि वे कब्र से निकल कर परेशान न करें। आप ही सोचें कि क्या यह सब बचकाना नहीं है? क्या यह/ऐसा स्वप्न में भी संभव है? इसी तर्ज़ में यदि हम कुत्ते को उपवास कराते हैं या किसी पाँच-छह मास के भ्रूण की चर्बी को नर-कपाल के चूर्ण में घोंट कर कोई लेप बनाते हैं या किसी चिमगादड़ को पकड़ कर उसके पंखों पर मन्त्र लिखते हैं; तो क्या इन क्रियाओं से – जो मात्र भ्रम हैं – कुछ हो सकता है?

शकुन-अपशकुन, स्वप्न आदि भी भविष्य को सुखद करने के सुस्त और प्रमादरत उपाय हैं। स्वप्न-शकुन न तो कोई अर्थ रखते हैं और न ही इनसे कोई विकासोन्मुख मार्गदर्शन मिलता है; असली भाग्य-विधान तो मनुष्य खुद अपने कार्यों से करता है – कर सकता है; इसलिए जो अपने वर्तमान में सजग और चौकस है उसके लिए न तो किसी मंत्र की, न तंत्र की, न किसी जादू की और न टोने की जरूरत है। जंतर-मंतर की ज़रूरत चोर को, उचक्के को, तृष्णा-से-घिरे व्यक्ति को, या मृत्यु-से-डरे-सिहरते किसी आदमी को हो सकती है; जो जीवन के मर्म को जानता है, उसे नीरस (प्रोजाइक) नहीं बनाना चाहता, उसे इन धोखाधड़ियों की क्या आवश्यकता है?

हमने इस विशेषांक में जादू-टोने के प्रायः सभी पहलुओं पर प्रकाश डालने का प्रयत्न किया है। 'तन्त्र-शब्द-कोश' में हमने सब तरह के कुछ चुने हुए शब्द लिये हैं – ऐसा करने का अर्थ यह नहीं है कि हम इस या उस तन्त्र-पद्धति के समर्थक हैं, हमने तो अपने पाठकों के लिए इस माध्यम से यह सुविधा उत्पन्न की है कि वे यदि अधिक जानना चाहते हैं तो इसमें-से अपनी तकनीकी कठिनाइयों को दूर करें और अधिक अध्ययन के लिए संदर्भ-सूची में-से कुछ ग्रन्थों को चुनें और पढ़ें। हमने संदर्भ-सूची में पूर्व और पश्चिम के कुछ प्रमुख संदर्भ देने की कोशिश की है। हमें विश्वास है हमारे प्रिय पाठक विशेषांक से पूरा-पूरा लाभ लेंगे और इसमें से विकसित स्वस्थ दृष्टिकोण द्वारा जैन धर्म/दर्शन की निर्मल/निर्भ्रान्त छवि को प्राप्त करेंगे। स्मरण रखें; विशेषांक में एक भी पंक्ति द्वेषवश नहीं लिखी गयी है, जो भी है पत्रकारिता-के-दायित्व को संपन्न करने की एक ईमानदार कोशिश है।

□

प्राचीन मन्त्र* साहित्य

संकेत : अ.अज्ञात, अप्र. अप्रकाशित, अप्रा. अप्राप्य, अर. अरबी, प्रा. प्राकृत, र.का. रचना-काल, ले.का. लेखन-काल, सं. संस्कृत, हि. हिन्दी।

अद्भुत पद्मावतीकल्प; चन्द्र (यशोभद्र के शिष्य)।
आत्मरक्षा-मंत्र; सं.।
इन्द्रजाल; हि.; ले.का. १७२१ ई.।
उज्जयन्त कल्प; आ. पादलिप्त 'विज्जापाहुड' से उद्धृत।
ऋषिमंडल यंत्र; सं.; ले.का. १५२८ ई.।
ओंकार वचनिका; हि.।
कामचण्डालिनी कल्प; मल्लिषेण।
क्षेत्रपाल स्तोत्र; सं.; ले.का. १८४९ ई.।
गिरिनारकल्प; पादलिप्तिसूरि।
गोरोचनकल्प; हि.।
घंटाकर्णकल्प; सं.हि.।
घंटाकरण मंत्रविधान; सं.; ले. का. १७५७ ई.।
चिंतामणि यंत्र; सं.।
चौसठ योगिनी स्तोत्र; सं.।
जैन गायत्री; सं.।
ज्ञान मंजरी, सं.।
णमोकार कल्प; सं.; ले.का. १८९२ ई.।
त्रिपुर सुन्दरी यन्त्र; सं.।
त्रैलोक्य मोहन कवच; सं.।
त्रैलोक्य मोहन कवच; सं.।
त्रैलोक्य मोहनी मंत्र; सं.।
दीपमालिका कल्प; सं., विनयचन्द्रसूरि; र.का. १२६८ ई.।
धर्मचक्र यन्त्र; सं.; ले.का. १६१७ ई.।
नवकार मंत्र गाथा; प्रा.।
पवज्जा विहाण (प्रवज्या विधान); प्रा. प्रा.; प्रद्युम्नसूरि; र.का. १२७१ई.।
पूर्णबंधन मन्त्र; हि.।
बाल त्रिपुर सुंदरी पद्धति; सं.; ले.का. १८२२ ई.।
बावन वीरा का नाम; सं.।

* मन्त्र साहित्य में यन्त्र-तन्त्र-साहित्य भी सम्मिलित समझें।

बीजकोष; सं.; ले. का १६३६ ई.।
वृहत् ह्रींकार कल्प; सं.।
भारती कल्प (सरस्वती कल्प); मल्लिषेण।
भुवनेश्वरी स्तोत्र (सिद्ध महामन्त्र); सं.।
भैरव कल्प; सं.।
भैरव पद्मावती कल्प; मल्लिषेण।
भैरव पद्मावती कल्प; मल्लिषेण।
भैरव पद्मावती कल्प; सं.; मल्लिषेण; ले.का. १८३४
मन्त्रमहोदधि; पं. महीधर; सं.; ले. का. १७८१ ई.।
मंत्र प्रकरण सूचक टिप्पण; भावसेन त्रैवेद्यदेव; सं.।
मंत्र यंत्र; सं.।
मन्त्रराज रहस्य; सिंहतिलकसूरि; सं; र.का. १२७६ ई.।
महाविद्या (मंत्रों का संकलन); सं.।
मंत्रशास्त्र; सं.।
मन्त्रशास्त्र; हि.सं.।
मन्त्रशास्त्र; हि.।
मंत्रसंग्रह; हि. सं.; ले.का. १८४८ ई.।
मातृका निघंटु; महीधर; सं.।
मायाकल्प; सं.।
मोहिनी मंत्र; सं.।
यंत्र मंत्र संग्रह; सं.; ले.का. १५५२ ई.।
यंत्र रचना प्रकार; सवाई जयसिंह।
यंत्रराज (यन्त्रराजागम/सक्ययंत्रराजागम); महेन्द्रसूरि।
यंत्रावली; अनूपाराम; सं.।
यक्षिणीकल्प; मल्लिषेण; सं.; ले. का. १७४१ ई.।
रक्तपद्मावती; सं.।
वर्धमान विद्याकल्प; सिंह तिलक सूरि; सं.हि.; ले.का. १४३८ ई.।
वर्धमानविद्याकल्पोद्धार; चन्द्रसेन।
विजययंत्र।
विजयमंत्र; सं.; ले.का. १८८४ ई.।
विद्यानुवाद; सुकुमारसेन; 'विज्जाणुवाय' पूर्व में-से उद्धृत।
विद्यानुशासन; मल्लिषेण; इसमें ५००० मंत्र हैं।
विद्यानुशासन; मल्लिषेण; सं.।

विविध मंत्र संग्रह; सं.।

शान्तिपूजा मंत्र; सं.।

षट्प्रकार यंत्र; हि.।

संध्या मंत्र; गौतम स्वामी; सं.।

संवर्जनादि साधन; सिद्ध नागार्जुन; सं.।

सरस्वतीकल्प; अर्हद्दास/विजयकीर्ति।

सरस्वती मंत्र; हि.।

सिद्धमंत्र चक्रोद्धार; रत्नशेखर सूरि; ले. का. १३७१ ई.।

सूरिमंत्र (सूरिविद्याकल्प); सं.।

सूरिमंत्रकल्प; जिनप्रभसूरि।

सूरिमंत्रबृहत्कल्पविवरण; जिनप्रभसूरि; सं.।

सेत्तुंजकप्प (शत्रुंजयकल्प); प्रा.; धर्मघोषसूरि; जैन महाराष्ट्री; शुभशील की टीका-१४६१ ई.।

शकुन, स्वप्न, रमल, निमित्त आदि से संबन्धित प्राचीन साहित्य

अंगविज्जा (अंगविद्या); फलादेश का एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ।

अंगविद्याशास्त्र।

अक्षरचूड़ामणिशास्त्र; सं. प्रा.।

अग्घकंड; आ. दुर्गदेव; प्रा.; खरीद-फरोख्त में होने वाले हानि-लाभ को बताने वाला ग्रन्थ।

अबजद केवली; सं.; अब्जद=अर., वर्णमाला; अब्जद में अक्षरों का कुछ इस तरह का संयोजन रहता है कि उसके द्वारा लोगों के मरने/पैदा होने का साल निकाला जाता है, बच्चों के नाम रखने में भी इससे मदद ली जाती है, यह अरब से आया और जैनों से जुड़ गया।

अरहंत केवली पाशा; सं.; ले. का. १६२२ ई.।

अर्हच्चूडामणिसार (चूड़ामणिसार/ज्ञानदीपक); भद्रबाहु स्वामी (?)।

आयनाणितिलय (आयज्ञानतिलक); भट्टवोसरि/दिगम्बर जैनाचार्य; १०वीं सदी।

आयसद्भावटीका।

उवस्सुइदार (उपश्रुतिद्वार); प्रा.; सुने गये शब्दों के आधार पर शुभाशुभ फलों का निर्णय।

करलक्खण (करलक्षण); प्रा.; अपरनाम सामुद्रिक शास्त्र।

कालज्ञान; सं.।

केवलज्ञान प्रश्नचूड़ामणि; आ. समन्तभद्र; अनु. नेमिचन्द्र ज्योतिषाचार्य।

कोष्ठक चिन्तामणि; शीलसिंह सूरि; १३ वीं शताब्दी; लेखक की संस्कृत में वृत्ति भी है।

क्षीरार्णव; विश्वकर्मा; सं.।

गौतमपृच्छा; प्रा.सं.; ले.का. १७२३ ई.।

चन्द्रोन्मीलन; 'चूड़ामणि' विषयक ग्रन्थ; गुणचन्द्रगणि ने 'कहारयणकोस' में कहा है कि 'चूड़ामणि' नामक ग्रन्थ, जो आज अनुपलब्ध है, के द्वारा तीनों कालों का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता था।

चूड़ामणि।

छायादार (छायाद्वार); प्रा.; छाया के आधार पर शुभाशुभ फलों का विचार।

छींक दोष निवारक विधि; हिं.।

छींक विचार; प्रा.; छींक के शुभाशुभ फलों का वर्णन।

जयपाहुड़; प्रा.; ईसा की १० वीं शताब्दी पूर्व; लेखक अ.।

जोणिपाहुड (योनिप्राभृत); प्रा.; दिगम्बर आचार्य धरसेन; ७४ ई.; धरसेन को प्रज्ञाश्रमण कहा गया है; उनके अनुसार यह 'बालतन्त्र' है।

ज्ञान स्वरोदय; चरनदास; सं.।

नरपतिजयचर्या; नरपति; र. का. ११७५ ई.; मातृका के आधार पर शकुन देखने की विधियों का वर्णन।

नरपतिजयचर्या टीका; सं.हिं.।

नाडी वियार (नाड़ी विचार); प्रा.; दायीं/बायीं नाड़ियों के शुभाशुभ फल पर विचार।

नाड़ी विज्ञान; सं.।

नाड़ीदार (नाड़ीद्वार); प्रा.;

निमित्तदार (निमित्तद्वार); प्रा.।

निमित्त पाहुड़; प्रा.।

निमित्त शास्त्र; ऋषिपुत्र।

निमित्तशास्त्र; सं.।

नेमित्तिक शास्त्र; भद्रबाहु; ले.का. १६२३ ई.।

पंथराह शुभाशुभ; सं.।

पण्हावागरण (प्रश्नव्याकरण); प्रा.; दसवें आगम अंग से भिन्न।

पल्यविचार; सं.।

पाशक केवली; गर्गाचार्य।

पाशा केवली; गर्गमुनि; ले.का. १७८६ ई; सं.।

पिपीलियानाण (पिपीलिका-ज्ञान); प्रा.; इसमें किस रंग की चींटियाँ किस स्थान को जाती हैं यह देख कर शुभाशुभ का निर्णय किया गया है।

प्रणष्टलाभादि; प्रा.।

प्रश्न प्रकाश; पादलिप्तसूरि; उनकी अन्य कृतियाँ हैं – गाहाजुअलेण, कालज्ञान आदि।
प्रश्नावली; सं.,; ले. का. १८६५ ई.।
मेघमाला; प्रा.।
मेघमाला; हेमप्रभसूरि; र.का. १२४८ ई.।
रमलप्रश्न तंत्र; दैवज्ञ चिन्तामणि; सं.।
रमलविद्या; मुनि भोजसागर; १८ वीं शताब्दी।
रमल[1] शकुनावली; हि.।
रमलशास्त्र; सं.।
रमलशास्त्र; उपाध्याय मेघविजयजी; र.का. १६७८ ई.।
रिट्ठदार (रिष्टद्वार); प्रा.; भविष्य में होने वाली घटनाओं का निर्देश।
रिट्ठसमुच्चय; आ. दुर्गदेव; र.का. १०३२ ई.; इसमें पिंडस्थ, पदस्थ, रूपस्थ रिष्टों के अलावा स्वप्नविषयक वर्णन भी है।
लक्षण; सं.।
लक्षण-अवचूरि; सं.।
लक्षण पंक्तिकथा; दिगम्बराचार्य श्रुतसागरसूरि।
लक्षणमाला; जिनभद्रसूरि।
लक्षणसंग्रह; आचार्य रत्नशेखरसूरि; १६ वीं शताब्दी पूर्वार्द्ध।
वग्गकेवली (वर्गकेवली); प्रा.।
शकुनरत्नावलि कोश; वर्धमानसूरि।
शकुनरहस्य; जिनदत्तसूरि; र.का. १२१३ ई.।
शकुन वर्णन; हि.।
शकुन विचार; सं.।
शकुनविचार; अपभ्रंश; इसमें किसी पशु के दायें या बायें गुज़रने के फलाफल/शुभाशुभ पर विचार किया गया है।
शकुन शास्त्र (शकुनसारोद्धार); आचार्य माणिक्यसूरि; र.का. १२८१ ई.।
शकुनावलि; इस नाम के कई ग्रन्थ हैं; गौतम महर्षि, आचार्य हेमचन्द्र सूरि आदि (?)।
श्वानशकुनाध्याय; सं.; प्रस्थान के समय कुत्ते की चेष्टाओं को लेकर शुभाशुभ फलों का निर्णय।
सउणदार (शकुनद्वार); प्रा.।
साणरुय (श्वानरुत); प्रा.; कुत्ते की भिन्न-भिन्न आवाजों के आधार पर गमन-आगमन, जीवन-मरण इत्यादि का निरूपण।

---

१ रमल अरबी भाषा का शब्द है; एक ऐसी विद्या जिससे भविष्य में होने वाली घटनाएँ जानी जाती हैं। इसे आचार्य कालकसूरि यवनदेश से लाये थे।

सामुद्रिक; सं.।

सामुद्रिक तिलक; दुर्लभराज; पुरुषों और स्त्रियों का लक्षण-निरूपण।

सामुद्रिक शास्त्र; सं.।

सिद्धपाहुड (सिद्धप्राभृत); प्रा.; अप्रा.; इस ग्रन्थ में अंजन, पादलेप, गुटिका आदि का वर्णन था।

सिद्धादेश; सं.; इसमें वर्षा, वायु और बिजली के शुभाशुभ विषयों पर विचार हुआ है।

सुमिणवियार (स्वप्नविचार); प्रा.; जिनपालगणि।

सुविणदार (स्वप्नद्वार); प्रा.; स्वप्नों के शुभाशुभ फलों की विवेचना।

सुमिणसत्तरिया (स्वप्नसप्ततिका); प्रा.।

सुमिणसत्तरियावृत्ति; सर्वदेवसूरि; र.का. १२३० ई.।

स्वप्नप्रदीप (स्वप्नविचार); आचार्य वर्धमानसूरि।

स्वप्नविचार; हि.।

स्वप्नसती टीका; गोवर्द्धनाचार्य; ले.का. १६२३ ई.।

स्वप्नशास्त्र; दसवीं शताब्दी के आस-पास; र.का.; शुभाशुभ स्वप्नों का विवरण।

स्वप्नाध्याय; सं.; ले.का. १८११ ई.।

स्वप्नाध्यायी; सं.।

स्वप्नावली; सं.।

स्वर-विचार; हिं.।

स्वरोदय; मुनि कपूरचंद; हि., ले.का. १८६६ ई.।

स्वरोदय; सं.; नासिका के स्वरों के आधार पर फल-निर्णय।

हस्तकांड; पार्श्वचन्द्र।

हस्तसंजीवन; मेघविजयगणि; र.का. १६७८ ई.।

हस्तसंजीवन टीका; मेघविजयगणि; र.का. १६७८ ई.।

टिप्पणी:—अधिक जानकारी के लिए देखें पार्श्वनाथ विद्यासश्रम शोध संस्थान, जैनाश्रम, हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी द्वारा प्रकाशित 'जैन साहित्य का बृहद् इतिहास', भाग ४ (१९६८) और भाग ५ (१९६९) तथा श्री दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्री महावीरजी द्वारा प्रकाशित 'राजस्थान के जैन शास्त्र भण्डारों की ग्रंथसूची' (डॉ. कस्तूरचंद कासलीवाल/अनूपचन्द न्यायतीर्थ) भाग ४ (१९६२) और भाग ५ (१९७१)।

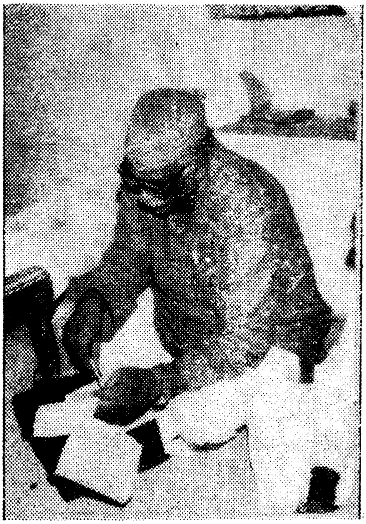

मैं : प्रेरणा : प्रक्रिया : विशेषांक

मैं इस समय साठ में हूँ। बचपन से ही मन में कुछ कुतूहल, कुछ जिज्ञासाएँ रही हैं। लगता रहा है प्रतिपल कि कुछ जाना जाए और इस तरह जाना जाए कि वह अन्ध-विश्वास से

मुक्त हो और तर्क की कसौटी पर, न सही पूरा; काफी खरा हो।
खोटे के लिए मन में कोई जगह आरंभ से ही नहीं है।
यहीं (इन्दौर) की बात है। तब मैं हुकमचन्दजी की धर्मशाला में अपना बचपन बिता रहा था। पिताजी धर्मशाला के प्रबन्धक थे। उन्हें वहाँ की तमाम व्यवस्थाएँ देखनी होती थीं। मंदिर की देखभाल भी उन्हीं के जिम्मे थी। वे अत्यन्त मानवीय थे; शायद ऐसा होना उनकी कमज़ोरी था। किसी को किसी तरह सुख मिले इसकी जोड़-जुगाड़ आम-अमूमन वे किया करते थे।

मंदिर में एक पुजारी था। पूजा करना। तनख्वाह उठाना। आनन्द लूटना—उसकी स्पष्ट चर्या थी। बुनियाद में वह भला था; किन्तु भरम-भड़काव में आ कर वह पिताजी का दुश्मन बन बैठा – छोटा-मोटा नहीं, जान लेने पर उतारू। उसने कुछ जंतर-मंतर कबाड़े और रोज सबेरे तीन बजे उठ कर मंदिर में यह कोशिश करने लगा कि किसी तरह उनका

देहावसान हो जाए। उसने जैन मन्त्रों का 'मारण' के लिए उपयोग शुरू किया। पिताजी उसके इस कृत्य से बेख़बर थे। वे पूजा के लिए नित्य जाया करते थे। पूजा उनका संस्कार था, अतः वे बहुत तड़के उठ जाते और अपना नित्य-नैमित्तिक कार्य संपन्न कर डालते।

एक दिन उन्हें शायद कहीं जाना था, अतः वे अलस्सुबह मंदिर जा पहुँचे। पुजारी अपने काम में लगा था। वह बहुत खुश इसलिए था कि वह अब आमने-सामने ही मारण-का-प्रयोग कर सकता था। पिताजी अपनी सहज मुद्रा में थे। वे जैसे ही वेदी छोड़ कर सीढ़ियाँ उतरने लगे, पुजारी ने उनके पाँव पकड़ लिये। बोला –

मैं पिछले चार-पाँच माह से आपको मार डालने की तन्त्र-साधना कर रहा हूँ; किन्तु आप तो जैसे कल थे, वैसे आज हैं – बिलकुल निरापद, अटूट, अक्षत। जो मन्त्र-प्रयोग मैं कर रहा हूँ वह अचूक है, रामबाण – उससे किसी का बच पाना संभव ही नहीं है। आप बड़े हैं। मुझसे भूल हुई है। मुझे माफ करें। और इतना कह कर वह बच्चों की तरह फफक-फफक कर रोने लगा। पिताजी ने शान्त भाव से कहा – भैया, मुझे नहीं मालूम कि कोई किसी को मार या जिला सकता है। सब अपनी मौत मरते हैं। कोई कार्य-कारण-व्यवस्था इस जगती के कण-कण में साँस ले रही है। इसे समझो। पुजारी इस 'फलसुफे' को तो नहीं समझ सका; किन्तु उसका चित्त शान्त था और उसमें अचानक एक बहुत बड़ा परिवर्तन आ गया था।

इसी तरह माँ की कुछ बातें याद पड़ती हैं। वे बर्तन मलते वक्त कभी-कभी मुझे ननिहाल की बातें सुनाया करती थीं। एक बार उन्होंने बताया था कि तुम्हारे नाना बनजी किया करते थे। वे घोड़े पर इर्द-गिर्द के गाँवों में बनिज-ब्यौपार के लिए जाया करते थे। वे तन्त्र-मन्त्र के अच्छे जानकार थे। चाहे जितनी घनघोर वर्षा हो वे राई-नोन का ऐसा कुछ वर्तुल बनाते थे कि पानी जहाँ हमारा मकान था उसे बरा कर (छोड़ कर) निकल जाता था। इसी तरह जब एक बार वे घर से 'अन्थउ' (सान्ध्य भोजन) ले कर निकले तब रास्ते में कोई अघोर या तान्त्रिक उन्हें मिल गया। उन्हें लगा कि भोजन पर उसकी आँख पड़ गयी है और वह दूषित हो गया है; फलतः उन्होंने उसे गाड़ दिया; किन्तु कुछ घंटों बाद जब निकाला तो भोजन की जगह मांस-के-लोथड़े और खून के अलावा वहाँ कुछ नहीं था। मैं हैरान। मैंने ऐसा कभी सुना न था; किन्तु लगा कि माँ को ऐसे कई वाक़यात याद थे। कह नहीं सकता उनमें-से कितने सही और कितने ग़लत थे, किन्तु इतना तय है कि

उनके स्वभाव में झूठ बोलना बिलकुल नहीं था। वे पूरी तरह सत्यसंध थीं और किसी के बारे में स्वप्न में भी बुरा नहीं सोच पाती थीं।

वे टोने-टोटकों को मानती तो नहीं थीं, किन्तु जो टोटके
बहुत लोकप्रिय हुए थे उनका असर उन पर ज़रूर था। नज़र बराने में उनका विश्वास था। जब हम लोग खेल कर आते थे और वैसे-ही सरदर्द होने की शिकायत कर बैठते थे तो वे तीन या पाँच लाल मिरचें और नमक की डलियाँ ले कर सिर पर से तीन फेरे दाहिने और चार बायें घुमा कर उन्हें चूल्हे में डाल देती थीं। उनके इस तरह करने का परिणाम जो निकलता हो; किन्तु हम सबको आनन्द अवश्य आता था उनके इस तरह कुछ करने से। एक खबासन (नायन) भी हमारे यहाँ आया करती थी।
उसे कई टोटके याद थे। शायद उसी के कहे से

माँ हमारी नज़र एक और ढंग से भी उतारा करती थीं। एक बड़ी थाली में पानी लेतीं और एक जेवरी को तेल में डूबो कर उसमें आग लगा कर उलटा पकड़े रहतीं। तेल की बूंदें गिरतीं और छन्न की आवाज़ करतीं। जब वैसा होना बंद हो जाता तब माना जाता कि नज़र उतर गयी है। चूँकि मैं चार लड़कियों पर जन्मा पहला लड़का था अतः मेरे लिए वे जो भी संभव होता किया करती थीं।

मैं समझता हूँ इसके पीछे उनकी कल्याण-कामना ही अधिक थी, अन्धविश्वास बहुत कम था। वे 'भक्तामर स्तोत्र' का पाठ करती थीं और नियमित मंदिर जाती थीं। जैनधर्म का ज्ञान उन्हें था; किन्तु जैनदर्शन से वे अपरिचित थीं। ये सारी घटनाएँ मेरी अवचेतना पर आज भी अतिथि हैं, जो भीतर-ही-भीतर इस विशेषांक की संरचना में साझेदारी कर रही हैं।

पता नहीं क्यों मुझे साँप से भय बना रहता था। प्यार भी उससे मुझे है।
आज भी जब मुझे वह दीख पड़ता है या कोई कालबेलिया उसे लाता है तब उसे गौर से देखता हूँ और उसे उठा कर चूमने की इच्छा करता हूँ। उसकी स्निग्धता और बिजली-सी गति ने मुझे सदैव अभिभूत किया है। अब तो मुझे वह इसलिए भाता है चूँकि वह आदमी से इस मायने में बेहतर है कि अपनी बामी में जब भी लौटता है अपनी वक्रता बाहर फेंक कर ही प्रवेश करता है। आदमी तो घर-बाहर दोनों जगहों पर छल-फरेब/धोखा-धड़ी करता है।

बचपन में मैं अपने पिताजी के पास सोता था। सोने से पहले अपना बिस्तर खूब झटक लेता था। मेरी शिकायत रहती थी कि जिस पलंग पर मैं हूँ वह साफ भले ही हो, किन्तु कहीं-न-कहीं कोई साँप उस पर, या उसके आस-पास अवश्य है।

नसिया के मंदिर की दायीं और बायीं ओर की सीढ़ियों के नीचे दो भंडारे थे। बायीं ओर वाला भंडारा हमारी बगीची में था। मैं उसमें अक्सर चला जाता और बैठा रहता। बाद को पता चला कि उसमें एक साँप भी था जो मेरे साथ सोता रहता था।

मैंने सिर्फ एक बार उसे देखा था। वह खूबसूरत था। उसने न तो मुझे कभी छेड़ा और न ही वह मुझ पर फुफकारा।

ऐसी कई घटनाओं का ख्याल मुझे है जब साँप मेरे इर्द-गिर्द रहा है। और मैं निरापद बैठा रहा हूँ। आज तक मैं मेरे और उसके संबन्धों की कोई साफ-सुथरी व्याख्या नहीं कर पाया हूँ।

सात-आठ साल की उम्र से ही मन्त्रों के प्रति एक अद्‌भुत आकर्षण रहा है। यही १९३६-३७ की घटना है; कोई दिगम्बर मुनि हुकमचंदजी की नसिया के सिंहद्वार के ऊपर बने हॉल में अपना वर्षावास संपन्न कर रहे थे। नाम जयकीर्तिजी थां। मुझे याद है, उन्होंने मुझे एक दिन बड़े तड़के बुलवाया और कहा – णमोकार मन्त्र का जाप किया करो। आनन्द आयेगा। कभी कोई संकट नहीं आयेगा और चित्त एकाग्र बना रहेगा। तब मैं न तो 'आनन्द' क्या होता है यह जानता था (पतंग उड़ाना और साइकिल चलाना – ये दो ही मेरे लिए खुशियों के सबमें बड़े झरने थे) और न ही 'चित्त' और 'एकाग्रता' का अर्थ जानता था; किन्तु णमोकार मन्त्र ने और उसके प्रतिपादित अर्थ ने मुझे प्रभावित किया और मैं जब-तब उसकी जाप करने लगा। णमोकार मन्त्र से संस्कारवश परिचय तो था, किन्तु इतने गहरे में मैंने उस सुबह, उसे पहली बार जाना।

मुनिजी ने मुझे यह भी बताया कि भक्तामर स्तोत्र में अड़तालीस नहीं बावन श्लोक थे। मुझे याद पड़ता है ४९ से ५२ तक के श्लोक उन्होंने मुझे दिये थे – पर अब न तो वे मुझे याद हैं और न ही उनकी कोई खास ज़रूरत महसूस होती है। मैं समझता हूँ 'तीर्थंकर' के 'णमोकार मन्त्र' तथा 'भक्तामर स्तोत्र' विशेषांक उसी बीज के वृक्ष हैं। पता नहीं क्यों तब से भक्तामर स्तोत्र मुझे बहुत अच्छा लगता है और मैं उसे जब-तब मुखरित कर लेता हूँ। कभी-कभी वह उपांशुरूप में ही भीतर-भीतर घूमता है और नसों में नया उत्साह उत्पन्न करता है। उसमें-से मुझे भगवान् आदिनाथ/नीलांजना/मानतुंग एक साथ दिखायी पड़ते हैं – लगता है योग/क्षणभंगुरता-से-लिपटा वैराग्य/और उच्चकोटि की साधनाएँ मेरे सामने जीवन्त हैं। तब मेरे लिए वह स्तोत्र नहीं शक्ति-का-एक अजस्र स्रोत होता है।

इसी तरह नसिया में एक हवालदार थे – धोकलसिंग। बड़े करीने से दाढ़ी-मूंछ रखते थे और साफा बाँधते थे। मुझ पर उनका बहुत स्नेह था। उनकी कोई संतान न थी अत: किसी नजदीकी रिश्तेदार से उन्होंने कोई लड़का दत्तक ले लिया था। वे बहुत ईमानदार, नेक, और वफादार इन्सान थे; किन्तु गोद का लड़का करिश्मेबाज़ था। वह तंतर-मंतर के चक्कर में आ गया। मसान जगाने लगा। एक दिन उसने मुझे भी चलने को कहा। मैं घबराया; लेकिन वह बोला इसमें घबराने की कोई बात नहीं है।

वहाँ भूत-प्रेत होते हैं, जिन्हें हम वश में कर सकते हैं और फिर उनसे जो चाहे करवा सकते हैं। बात मुझे जँची नहीं, अतः साफ मुकर गया। बाद को पता चला कि वह विचलित हो गया था और पगला गया था।

बी.ए. में फल्सफा पढ़ा, इंटर में लॉजिक। तर्क पढ़ाने वाले एक बर्मी प्रोफेसर थे डॉ. कार और दर्शन के प्राध्यापक थे डॉ.ब्रह्मो - ब्रह्म समाजी। दोनों अन्धविश्वास के दुश्मन थे। दोनों के लिए मन में अपरंपार श्रद्धा थी। इस तरह तर्क-का-बीज १९४४ के आस-पास मन-की-धरती पर पड़ा और भीतर-ही-भीतर अँकुरा कर वृक्ष बन गया।

जैनधर्म और दर्शन का अध्ययन हुआ अवश्य; किन्तु उनके अध्ययन का असली दौर शुरू हुआ १९७१ में जब मेरे द्वारा "तीर्थंकर" का संपादन आरंभ हुआ।
फिर तो लगातार मुझमें सवाल-दर-सवाल उठते गये और मैं तुलनात्मक शैली में जैनधर्म की मौलिकताओं को समझने की सच्ची कोशिश में लग गया। मुझे लगा— आज भी लगता है— कि जैनधर्म को मानने वाले स्वयं उसकी मौलिकताओं को समझने में/उन्हें पहिचानने में असमर्थ रहे हैं। प्रायः वे उसके कर्मकाण्ड में ही फँसे रहे हैं — उससे आगे क़दम उठाने की कोशिश कभी उन्होंने की नहीं।
जब मैंने दर्शनशास्त्र का तनिक गहरा अध्ययन किया तो मुझे लगा कि विज्ञान और दर्शन में कार्य-कारण सिद्धान्त एक-जैसा है। दर्शन तर्क की ज़मीन पर चलता है, विज्ञान भी। विज्ञान तो तर्क के साथ प्रत्यक्षता और प्रयोग में भी भरोसा रखता है। उसके तईं तो प्राप्त निष्कर्षों की दृढ़ता/प्रामाणिकता इतनी होनी चाहिये कि उन्हें कभी भी/कहीं भी आसानी से दुहराया जा सके।

लॉ ऑफ कॉजेशन (कारणता के सिद्धान्त) से मैंने यह जाना कि दो घटनाओं या दो स्थितियों में परस्पर इस तरह के रिश्ते होते हैं कि पहली घटना दूसरी को जन्म देती है और दूसरी तीसरी को और तीसरी चौथी को। कार्य-कारण की यह शृंखला अनवरत/अटूट बनी रहती है। मसलन, बिजली का स्विच दबाया गया तो लट्टू जला; यदि सही स्विच दबाने पर बल्ब नहीं जलता है तो मानना चाहिये कहीं-न-कहीं कोई गड़बड़ी है; किन्तु यदि तमाम हालात जैसे-चाहिये-वैसे हैं तो कोई वजह नहीं है कि लट्टू न जले। बीज यदि है तो उसमें-से वृक्ष संभावित है और यदि वृक्ष बन पड़ा है तो उसमें-से पुनः बीज संभावित है। इस तरह प्रकृति की तमाम घटनाएँ कार्य-कारण-की-डोर-में-बँधी हुई हैं। कोई कारण न हो और कोई घटना/कार्य हो, यह असंभव है। यदि कहीं कोई घटना घटित है और हमें उसका कारण नहीं मिल रहा है तो यह या तो हमारा अज्ञान है या हमारे प्रयत्न की कोई खामी है वर्ना यह असंभव ही है कि कोई घटना हो और उसकी वजह न हो।

अपनी खोज में कमज़ोर होने या किसी अन्य वजह से किसी वस्तु या घटना को ग़लत-सलत मान-समझ लेना न तो दर्शन में, न विज्ञान में और न ही धर्म में संभव है। तीनों सम्यक्त्व में विश्वास रखते हैं और ज़र्रे-ज़र्रे में तर्क से स्पन्दित हैं।

मनुष्य अपने उदय-काल से ही दो बातों के लिए जूझता रहा है;
एक, यह कामना कि उसकी कभी मृत्यु न हो; दो, उसे दुनिया की तमाम सुख-सुविधाएँ प्राप्त हों और वे सदा-सर्वदा उसके कब्ज़े में बनी रहें बल्कि इसतरह की और-और सुविधाएँ/और-और वैभव उसे लगातार मिलते रहें।
जो उसके पास एक बार आ जाए वह फिर एक पल को भी उससे विलग न हो—
इसीलिए वह खोज़ता रहा है अपने इर्द-गिर्द ऐसे उपाय/ऐसे उपकरण जो उसे मृत्यु-पर-विजय दिला सकें, या उसमें इस तरह की ग़लतफहमियाँ पुख्ता करते हों ताकि वह 'अमरता-का-क्षणभंगुर-आनन्द' ले सके और एक बहुत बड़ी भूल-भुलैयाँ में मूर्च्छित रहे।

जहाँ तक मैं समझ पाया हूँ टोने-टोटकों और जंतर-मंतर का आविर्भाव भी उसकी इसी अबुझ प्यास का परिणाम है। उसकी प्रखर जिजीविषा ने प्रकृति के रहस्यों को जानना चाहा है, उन रहस्यों को जो उसे मृत्यु-पर-जीत दिलाते हों और उस पर आते संकटों और विपत्तियों को दूर करते हों; फलतः उसने अपने इर्द-गिर्द नज़र दौड़ायी और प्रकृति के गूढ़ रहस्यों को प्रयोग और अनुभूति के तल पर उद्‌घाटित करना शुरू किया। पशु-पक्षी, पेड़-पौधे, पानी-पहाड़, आकाश-पाताल सब उसने छान मारे, मथ डाले। कई संयोग उसकी पकड़ में आये; कई नहीं आये; कई आने को हैं – कई नहीं भी आ सकते हैं।

विज्ञान में मनुष्य ने तर्क की अँगुली नहीं छोड़ी; किन्तु अध्यात्म और धर्म के क्षेत्र में सहसा तर्क ने उसका हाथ छोड़ दिया। हाँ, हालाँकि उसने देखा कि जो लोक में है, वह देह में है (यत्पिण्डे तद् ब्रह्माण्डे); किन्तु वह इसे विज्ञान की आँखों से 'ट्रान्सपेरेंट' नहीं देख सका। अनुभूति में जाना उसने देह मिनी संस्करण है लोक का, उसके रहस्यों का, उसकी तमाम विशेषताओं का; किन्तु वह फलसुफे के तल पर ही इसका बोध कर पाया – प्रत्यक्षता उसके लिए संभव नहीं हुई। कुछ चमत्कार ज़रूर हुए किन्तु विज्ञान ने उन पर दस्तखत नहीं किये।
कुछ ऋषि-मुनि/योगी-संन्यासी हुए जिन्होंने इन रहस्यों को तर्क की कसौटी पर कसा, उनके कारणों को खोज़ा, किन्तु उन्हें नियन्त्रित रूप में वे दुहरा नहीं सके—
वस्तुतः सरलीकरण-के-फेर में उसे प्राप्त तमाम प्रक्रियाओं का शास्त्रीय और वैज्ञानिक पक्ष उसकी मुट्ठी से खिसक गया। ठीक है : वह निराश नहीं है,
किन्तु इस क्षेत्र में अब वह उतना उत्साहित भी नहीं है।

मैं लगातार अनुभव करता रहा हूँ कि अध्यात्म, दर्शन और धर्म ने व्यक्ति के उत्थान की चिन्ता तो की है, किन्तु वे समाज को/व्यक्ति के सामाजिक पक्ष को, लगातार/निरन्तर भूलते गये हैं। वे इस बात पर ध्यान ही नहीं दे पाये कि ज्यादातर लोग आध्यात्मिक/धार्मिक होने की बजाय पार्थिव ही अधिक होते हैं और उन्हें पारलौकिकता-से-पहले इहलौकिकता की फिक्र सताये रहती है। वे सुदूर भविष्य की अपेक्षा आसन्नतर भविष्य की चिन्ता अधिक रखना चाहते हैं; इसीलिए आया चार्वाक् सम्प्रदाय और इसीलिए टोने-टोटके/जंतर-मंतर आमफहम की सतह पर फल-फूल गये। मिथकविद्या, या पुराण-विद्या, या पौराणिकता वेदोपनिषदों की तरह शुष्क,जटिल और गरिष्ठ नहीं हैं; ये सब मनुष्य की सरलीकृत, हज़म हो सकने-जैसी, स्थितियाँ हैं। भाषा और विचार के क्षेत्र में मनुष्य ने उन तमाम जटिलताओं को, जो तर्क-के-कारण, या बारीकियों-के-कारण धुँधली पड़ गयी थीं, सरल कर डाला और उन्हें अपनी तात्कालिक ज़िन्दगी से जोड़ दिया।

ज्यादातर लोग तात्कालिकताओं में जीते हैं/जीने में दिलचस्पी रखते हैं–
वे सनातनताओं या अमरताओं की लम्बी डगर पर चलने में भरोसा नहीं रखते।

कहा जाता है कि वेदों का सरलीकरण उपनिषदों में और उपनिषदों का मिथकों या पुराणों में हुआ।

मिथकविद्या ने जंतर-मंतर की जटिलताओं को ज़िन्दगी से जोड़ना शुरू किया; फलत: मन्त्र, यन्त्र, तन्त्र का शास्त्रीय ढाँचा 'शाबर तन्त्र' के रूप में सरला लिया गया; इन्हें लोकमेधा के अनुकूल हज़म-हो-सके-ऐसा बना लिया गया। तन्त्रशास्त्र की लोकप्रियता का कारण है उसमें जटिलता की अनुपस्थिति और मनुष्य के तात्कालिक स्वार्थों की तुरन्त पूर्ति। तन्त्र की तमाम व्यवस्था के रहस्यमूलक होते हुए भी वह अपने प्रथम रूप में 'इस हाथ दे, उस हाथ ले' जैसा है।

तय है कि तन्त्र के संपूर्ण ढाँचे को विज्ञान-के-तल पर देखा जाए, और उन करिश्मों को, जो मात्र हाथ-की-सफाई हैं या रासायनिक नुसखे हैं, पहिचाना जाए और उन्हें धर्म और दर्शन में मिलने से बचाया जाए। धर्म और दर्शन में अन्धविश्वासों और चमत्कारों के रूप में टोने-टोटकों/जंतर-मंतर आदि का जो अपमिश्रण हुआ है आज वह गहन चिन्ता का विषय है।

मैं अपने जीवन में ऐसे कई साधुओं से मिला हूँ, जो अपनी आध्यात्मिक उन्नति को बाला-ए-ताक रख कर व्यर्थ के प्रपंचों में पड़ गये हैं। आज ऐसे कई दिगम्बर/श्वेताम्बर साधु हैं जो किसी-न-किसी मन्त्र-सिद्धि में लगे हुए हैं और समाज का लाखों रुपया बर्बाद कर रहे हैं।

कोई अँगूठियाँ और जंतर-मंतर बाँट रहा है तो कोई सूर्योपासना में उलझा हुआ है; वस्तुत: इन साधुओं ने तथाकथित मन्त्र-तन्त्र की एक खासा दुकानदारी ही खड़ी कर ली है। यह जानते हुए भी कि वीतरागता व्यापार की कोई जिन्स नहीं है, उसका अपना निष्काम/निष्कलंक वैभव है, वे अपनी इन असंगत करतूतों से बाज़ नहीं आ रहे हैं।

आज जगह-जगह धार्मिक समारोह होते हैं और देखा जाता है कि कई लोग साधु-ज्योतिषियों के चक्कर में आ जाते हैं। कोई उनसे गार्हस्थिक कार्य करवाता है तो कोई किसी अपशकुन को टालने के लिए उनसे जंतर-मंतर पाने की कोशिश करता है। इस तरह शोषण-का-जो-दुश्चक्र बन गया है आज, उसके विरुद्ध एक पूर्ण नियोजित धर्म-युद्ध लड़ा जाना चाहिये और ऐसे साधुओं को स्पष्ट बता देना चाहिये कि जैनधर्म में इन सारे अन्धविश्वासों के लिए कोई गुंजाइश नहीं है। शकुन-अपशकुन और मुहूर्त का जैन-दर्शन से कोई सरोकार नहीं है (पूछा जा सकता है कि क्या मृत्यु किसी मुहूर्त को देख कर आती है ?)।

जो लोग जैन धर्म/दर्शन की निर्मलताओं से वाक़िफ़ हैं, वे इस तरह की ऊटपटाँग/ असंबद्ध कल्पनाओं में न तो भटकते हैं और न ही किसी को भटकने की राय देते हैं। उन्हें सम्यक्त्व की स्पष्ट पकड़ होती है। वे उस पर सावधान और अप्रमत्त दृष्टि रखते हैं और देवी-देवताओं तथा टोने-टोटकों के व्यर्थ के चक्कर में नहीं पड़ते।

इसी अंक में एक लेख जा रहा है–'कुन्थु-कथा-सागर', जिसमें कई अनाप-शनाप/ बे-सिर-पैर की बातों का जिक्र है और शाबर तन्त्र को जैन तन्त्र के अन्तर्गत छद्मरूप दे दिये जाने की समीक्षा है। हुआ सब यह जैन समाज को लाभान्वित करने के लिए, किन्तु बिला शक कहा जा सकता है यह कि इससे जैनधर्म के बुनियादी उसूलों को काफी नुकसान पहुँचा है; ऐसा नुकसान जिसे कभी पूरा नहीं किया जा सकेगा।

वस्तुत: जैनधर्म में तन्त्र का प्रवेश बहुत बाद का है। हाँ, यह संभव है कि नीमनाथी/ पारसनाथी युग में तन्त्र-मन्त्र की कोई स्थिति रही हो और स्वयं भगवान् पार्श्वनाथ ने कुण्डलिनी जागृत की हो (साँप के लांछन की व्याख्या इससे अच्छी शायद ही हो सके)

और उनके समकालीनों ने अपनी उद्दीप्त आध्यात्मिक शक्तियों का चमत्कार-प्रदर्शन में उपयोग किया हो; किन्तु यह निश्चित है कि जो लोग सम्यक्त्व और सत्य के उपासक हैं, वे पूरी तरह इस ओर जा नहीं सकते।

यह कैसे हो सकता है कि वाममार्गी तन्त्र-साधना को जैनधर्म के वीतरागी ढाँचे में सेंध लगाने का कोई मौका मिले ? किन्तु यह एक ऐतिहासिक सत्य है कि इस तरह का अवसर मिला है; किन्तु आज अब वह क्षण उपस्थित है जब हम विज्ञान-का-सहारा ले कर वस्तुस्थिति का जायजा ले सकते हैं और एक समग्र/आचूड़ समीक्षा कर सकते हैं।

एक ग्रन्थ है – 'गणितानुवाद', जैन अंगों और उपांगों से प्राप्त भूगोल तथा खगोल संबन्धी तथ्यों का एक अधिकृत/वर्गीकृत आकलन। प्रकाशक संस्था है–

'आगम अनुयोग ट्रस्ट, अहमदाबाद' और संपादक हैं मुनिश्री कन्हैयालाल 'कमल'। ताज्जुब है कि मनीषी मुनिवर ने ग्रन्थ-संपादन करते हुए इसमें ऐसे अंशों का समावेश क्यों किया जो जैनाचार पर तन्त्र-मन्त्र का सीधा आक्रमण हैं ?

पृष्ठ ६५०-६५३ पर कुछ ऐसे अंश हैं, जो जैनधर्म के संपूर्ण ढाँचे को धराशायी करते हैं। 'णक्खत्ताणं भोयणं कज्ज सिद्धि य – नक्षत्रों के भोजन और कार्यसिद्धि' शीर्षक के अन्तर्गत जो कुछ दिया गया है उससे किसी भी अहिंसक जीवनाचार में विश्वास रखने वाले व्यक्ति के मन:प्राण को बहुत बड़ा धक्का लगता है।

इन पृष्ठों में अट्ठाइस नक्षत्रों में कार्यसिद्धि के लिए खाद्य-अखाद्य/भक्ष्य-अभक्ष्य का ध्यान रखे बिना कुछ अजीबोगरीब चीजों के खाये जाने की अनुशंसा की गयी है।

कहा गया है कि रोहिणी नक्षत्र में वृषभ (बैल) का मांस खा कर कार्य करने से कार्य सिद्ध होता है –

कहा गया है मृगशिरा नक्षत्र में यदि मृग का मांस खा कर कार्य किया जाए तो वह सिद्ध होता है––

अस्सेसाए दीवगमंसं भोच्चा कज्जं साधेंति

पुव्वाहिं फग्गुणीहिं मेढक-मंसं कज्जं साधेंति–

अर्थात् अश्लेषा नक्षत्र में दीपक (बाज पक्षी) का मांस खा कर कार्य करने से संबन्धित कार्य सफल होता है और पूर्वाफल्गुनी नक्षत्र में मेंढक का मांस खा कर कार्य करने से कार्य सिद्ध होता है।

इसी तरह कहा गया है कि उत्तराफाल्गुनी में नख वाले का मांस खा कर, रेवती में जलचर, अश्विनी में तीतर का मांस खा कर कार्य करने से उसकी सिद्धि होती है। 'सूर्यप्रज्ञप्ति' और 'मुहूर्त चिन्तामणी' में जो भोजन-तालिकाएँ दी गयी हैं वे और भी विचित्र हैं– 'सूर्यप्रज्ञप्ति' में कहा गया है कि पूर्वाभाद्रपद में वराह, उत्तराभाद्रपद में जलचर, अश्विनी में तीतर/बत्तख, रोहिणी में वृषभ, अश्लेषा में बाज, पूर्वाफाल्गुनी

में मेंढक, और उत्तराफाल्गुनी में श्वापद का मांस खा कर कार्य करने से सफलता/सिद्धि मिलती है। 'मुहूर्त चिन्तामणी' की सूची 'सूर्यप्रज्ञप्ति' की फेहरिस्त से बड़ी है; तदनुसार मृगशिरा में मछली-भात, हस्त और चित्रा में हरिण-माँस, अनुराधा में पपीहा-माँस, ज्येष्ठा में हरिण-माँस, मूल में खरगोश-का-माँस, श्रवण में विचित्र पक्षी-का-माँस, शतभिषक् में कछुए-का-माँस, पूर्वाभाद्रप्रद में मैना-का-माँस, उत्तराभाद्रपद् में गोधा-का-माँस, तथा रेवती में साही-का-माँस खा कर कार्य करने से सफलता मिलती है।

क्या ग्रन्थ-प्रकाशन से पूर्व ऐसे सारे अंशों की, जो जैनधर्म की अन्तरात्मा को, उसकी प्राणशक्ति को कलुषित-कमज़ोर करते हैं; परीक्षा नहीं होनी थी? क्या किसी भी युग में कोई जैन मुनि या साधु इस तरह का असंबद्ध प्रलाप कर सकता है? क्या जैन अंगोपांगों के ये अधिकृत अंश हैं? क्या इस तरह की बकवास को ग्रन्थ-प्रसारण/विमोचन से पूर्व अप्रमत्त रूप से देख नहीं लिया जाना चाहिये था? ऐसे संकट के क्षणों में जबकि स्वयं जैन समाज में आहार को ले कर तरह-तरह के विचलन हैं; क्या इस तरह का प्रकाशन उचित है? क्या यह सब वह नहीं है जो 'शाबर तन्त्र-शास्त्र' में पंच मकार (माँस, मत्स्य, मदिरा, मुद्रा, मैथुन) को ले कर कहा गया है?

पता नहीं किस कालखण्ड में हमारा साधुवर्ग वाममार्ग के शिकंजे में रहा और उसने इस तरह की ऊलजलूल बातों को अंगोपांगों में उंडेल दिया? शाबर तन्त्र में और पश्चिम के जादू-टोनों में आकाशगामिता के लिए इस तरह के माँस-रक्तयुक्त लेप बनाने के नुसखे (रेसिपी) दिये गये हैं। विचक्रेफ्ट एंड द मिस्ट्रीज़; लेखक लॉरेन पेने के पृष्ठ ७० पर एक गुप्त पाक तैयार करने का नुसखा दिया गया है। मूल है—'ग्राइंड टु गेदर इंटू ए पेस्ट ऑफ सफीसिएंट क्वांटिटी टू अनॉइंट द एंटायर बॉडी ऑफ द फालोइंग: अकारुम वुल्गेर, द ब्लड ऑफ ए बेट (चिमगादड़), पार्सली (अजमोद), सिंकफॉइल, एकॉनाइट (बछनाग), येलो वाटरक्रेस (पीली जलकुंभी), बेलाडोना (धतूरा), स्वीटफ्लेग, एंड प्योर ओलिव्ह ऑइल (जैतून का शुद्ध/खालिस तैल) इन इक्वल पार्ट्स ऑफ हाफ ए पाम इसी पृष्ठ पर निर्देश है कि इस तरह तैयार लेप को नग्न हो कर शरीर के सारे अंगों पर मला जाए ताकि व्यक्ति हवा से भी हल्का हो कर आकाशगामी हो सके। लोकश्रुति है कि पादलिप्ताचार्य, जिनके नाम से पालीताणा (पादलिप्तस्थान) बसा, भी अपनी पगतलियों में किसी लेप का उपयोग किया करते थे; (निश्चित ही वह पूरी तरह अहिंसक रहा होगा)— किन्तु वह कैसा था, क्या था इसका कोई स्पष्ट विवरण प्राप्त नहीं है। 'विचक्रेफ्ट एंड मिस्ट्रीज़' के इसी पृष्ठ पर एक और नुस्खा दिया गया है,

जिसमें कहा गया है कि एक शिशु को पीतल के बर्तन में उसके बराबर के तौल के पानी में तब तक उबालो जब तक केवल चर्बी न रह जाए, और फिर इस तरह प्राप्त चर्बी में बछनाग, धतूरा आदि डाल कर घोंटो और उड़न-लेप तैयार करो।

मध्ययुग में ऐसे कई खूनी/बर्बर नुसखे प्रचलित थे। भारत में भी भगवान् महावीर से पूर्व बलियों/नर और अश्वमेध यज्ञों का बोलबाला था। महातान्त्रिक मंदारनाथ और उनके साथी कापालिकों के कँपा देने वाले विवरण वैद्य चुन्नीलाल धामी के गुजराती उपन्यास 'बंधन टूट्या' में आये हैं। धामी का यह उपन्यास काल्पनिक नहीं है, ऐतिहासिक तथ्यों पर आधारित है। पात्र काल्पनिक हो सकते हैं, किन्तु तथ्यों के बारे में उपन्यासकार पूरी तरह आश्वस्त है।

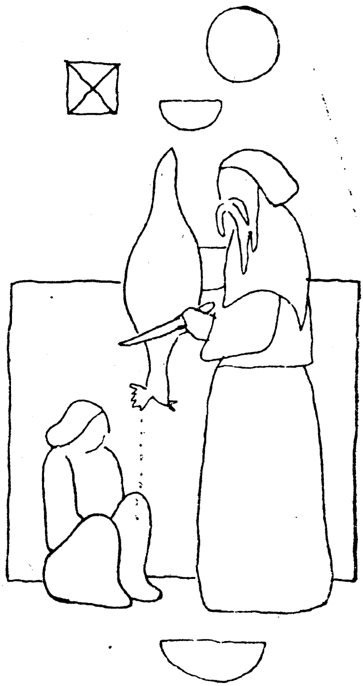

मध्ययुगीन यूरोप जादूटोनों का अन्धायुग रहा है। वहाँ और अमेरिका में जादू-टोनों के नाम पर जो खूनखराबा और बर्बरताएँ हुई हैं, उनका सारी दुनिया में कोई सानी नहीं है। इन्हें पढ़ कर मनुष्य का/मनुष्यता का सिर शर्म से झुक जाता है। भारत का मध्यकाल भी ठगों की क्रूरताओं में लिपटा हुआ है। ठगों ने भी काली के नाम पर हज़ारों हत्याएँ कीं। वे सैकड़ों यात्रियों को दिन-दहाड़े गला घोंट कर मार डालते थे और लकड़ी पर लटका कर उनकी रीढ़ें तोड़ डालते थे। ठीक ऐसे ही बीभत्स कृत्य जादू-टोनों के नाम पर यूरोप और अमेरिका में भी हुए। यूरोप में १५वीं से १७वीं शताब्दी तक जादू-टोनों का काला साम्राज्य बना रहा। जहाँ इनका खुला विस्तार हुआ, वहीं तर्क और बुद्धि की नयी सुबह के साथ इन्हें खत्म करने के लिए भी बीभत्स हिंसाएँ हुईं। डाइनों—स्त्री/पुरुष दोनों—को खोज-खोज कर बड़े-बड़े खंभों से बाँध कर ज़िन्दा जला दिया गया, या फिर उन्हें चक्कों से बाँध कर

उनके पूरे शरीर को तिड़का दिया गया।

विज्ञान-के-भोर ने यूरोप और अमेरिका को जादू-टोनों से मुक्त अवश्य किया; किन्तु आज भी वहाँ हज़ारों पुस्तकें विचक्राफ्ट (गुह्यविद्या) पर छपती और बिकती हैं।

आप आश्चर्य करेंगे कि सत्रहवीं सदी के अन्त तक पूरे यूरोप में तकरीबन दो लाख विचेज (डाइनों) को, या तो ज़िन्दा जला डाला गया या फिर उनके शरीर को पहियों पर तिड़का दिया गया। इन डाइनों के बारे में कहा जाता था कि ये बाँस-पर-बँधी झाड़ूएँ रखती थीं, रात में उड़ाने भरती थीं, बच्चों को ज़िन्दा चबा जाती थीं और शैतान की पूजा करती थीं। भारत में भी उल्टे पाँव वाली औरतों को डाकन मान कर मार डालने का रवाज़ था। यद्यपि आज पश्चिम में इन डाइनों का सफाया कर दिया गया है और तरह-तरह के कायदे-क़ानून बना दिये गये हैं फिर भी अमेरिका में सफेद डाइनों के रूप में विचेज़ (जादू-टोना करने वालों) के एक नये पंथ का आविर्भाव हुआ है।

आज भी जब हम यूरोप/अमेरिका के किताब-बाज़ार में जाते हैं तो गुह्यविद्या और जादू-टोनों पर हज़ारों किताबें हमें मिल जाती हैं। अकेले १९६० के वर्ष में गुह्यविद्या पर सहस्राधिक पुस्तकों का प्रकाशन हुआ।

'विच' एंग्लो-सेक्सन व्युत्पत्ति का शब्द है। मूलतः यह शब्द है विक्का (*Wicca*) जिसका अर्थ है – एक चतुर व्यक्ति; किन्तु बाद को चल कर यह डायन का पर्याय बन गया। गार्डनर का कथन है कि जादू-टोना बर्तानिया के आदिवासियों का धर्म था। इन आदिवासियों को 'लिटिल पीपुल' तथा उनके इस धर्म को 'लिटिल पीपुल्स रिलीज़न' कहा जाता था।

ब्रिटेन से चल कर ही यह अमेरिका पहुँचा और इसने सदियों तक पूरे यूरोप को अपने काले कब्ज़े में रखा।

गुह्यविद्या/अभिचार/जादू-टोना ऑकल्ट/सॉर्सरी/विचक्राफ्ट से संबन्धित साहित्य मैं लगातार पढ़ता रहा हूँ यह जानने के लिए कि मनुष्य किस तरह के प्रगाढ़ अन्धकार में भटकता रहा और किस तरह फिर स्वयं को इन अँधेरों से बाहर लाया। आज भी वह पूरी तरह मुक्त नहीं है। यत्र-तत्र यदा-कदा देश में/देश से बाहर कई ऐसी घटनाएँ सुनने को मिल जाती हैं जिन पर भरोसा तो नहीं होता; किन्तु जो हैं हमारी बर्बरताओं की अवशेष। इन/ऐसी अंधी घटनाओं के बीच से गुज़रते *मुझे लगा है कि गुह्यविद्याओं की अंधी मानसिकता से जूझा जाए* और कम-से-कम उन जैनों को जो एक युक्तियुक्त धर्म को ले कर क्षितिज

पर आये थे इन सारे अंधविश्वासों के मिथ्याजाल की जानकारी दी जाए। वस्तुतः इस समय जब कि हम विज्ञान के चरम दौर से गुज़र रहे हैं, हमें/हमारे साधुओं को तन्त्र-मन्त्र के छद्म से जूझना चाहिये और जैनधर्म की उस निर्मल मानसिकता को लौटाना चाहिये जिसे कभी भगवान् महावीर ने प्रवर्तित किया था।

१९५२ की बात है। उन दिनों जब मैं भीली बोलियों के भाषाशास्त्रीय सर्वेक्षण पर निकला, तब भीलों के जादू-टोनों के संपर्क में आया। मैंने सुन रखा था कि कुछ भील इसके अच्छे जानकार हैं और जादू-टोनों के माध्यम से वैद्य-हकीम की भूमिका का निर्वाह भी करते हैं।

बड़वानी के आस-पास के कुछ लोगों ने तब मुझे यह भी बताया कि भीलों में भोपे/बड़वे आदि गुह्यविद्या की परम्परा को आज भी सुरक्षित रखे हुए हैं। पादरी जुंगब्लट की एक किताब 'द मैजिक सांग्ज़ ऑफ द भील्स ऑफ झाबुआ स्टेट' मैं पढ़ चुका था और यह निष्कर्ष ले चुका था कि भील शैव हैं इसीलिए उनमें तन्त्रविद्या का कोई सरलीकृत/अंधविश्वास-परक रूप प्रचलित है। 'मांदल' आदि के प्रयोग से भी मेरी यह धारणा पुष्ट हुई।

बड़वानी से आगे पाटी हो कर एक गाँव हैं बोकराटुं। खोज़ के सिलसिले में वहाँ मेरा जाना हुआ। सुन रखा था कि भील बड़े अनुभवी तान्त्रिक हैं। वे यदि चाहें तो आदमी को मुर्गा (कोकड़ु) या बकरा (बोकड़ु) बना सकते हैं। मैंने सोचा यदि ऐसा कुछ मेरे साथ हुआ तो मनुष्य का यह दुर्लभ जीवन छोड़ कर किसी भील तान्त्रिक के यहाँ तब तक बेगार ढोनी होगी जब तक किसी देवी-देवता के चरणों में मेरी बलि न चढ़ा दी गयी। मैं काँप गया; किन्तु मेरे भीतर काफी साहस था, अतः अपने साथी के साथ उस भील के टापरे में गया जो तान्त्रिक था और जादू-टोने किया करता था। भील लम्बा-पूरा/बलिष्ठ था और उसकी आँखों में घातक चुम्बक था। अपलक उसकी ओर देखना मेरे लिए बिलकुल संभव न था, अतः मैं उससे बात तो करता रहा; किन्तु आँख मिलाने से बचता रहा। आज भी उसकी आँखों का चुम्बक मेरी चेतना को पकड़े हुए है। मैं उसे पूरी तरह भूल नहीं पाया हूँ। मैं उसे तान्त्रिक तो नहीं मान सका; किन्तु इतना अवश्य समझ गया कि उसकी आँखों में कोई गुप्त पुकार है, कोई अपूर्व आकर्षण है जो चाहे तो अपनी बात शर्त-प्रतिशत मनवा सकता है। जैसे-तैसे मैं अपना आवश्यक खोज़-कार्य करने के बाद अपने पड़ाव पर लौट आया और रात में घंटों तक उस अजनबी के बारे में सोचता रहा।

इधर मेरा जाना राजस्थान के कुछ जैन तीर्थों में भी हुआ; जहाँ लोग इसलिए भी जाते हैं कि उन पर से भूत-पलीत उतर जाएँ या वे ऊपरी हवा से मुक्त हो जाएँ। वे वीतराग भगवान् की मूर्ति के सामने सिर धुनते हैं, धूजते हैं और न जाने क्या-क्या करते हैं? राजस्थान में इस तरह के एक नहीं तीन तीर्थ हैं, जहाँ लोग 'मन्नतें' करते हैं और प्रेत-बाधा से राहत/नजात पाते हैं।

उधर १९६६-६७ में मुझे जावरा रहना पड़ा। वहाँ तबादला हो गया था, अतः जाना पड़ा। जावरा के पास एक धार्मिक स्थान है—हुसैन टेंकरी, जहाँ लोग ऊपरी बाधा से नजात पाने के लिए जाते हैं और पता नहीं क्या-कुछ हो कर चले आते हैं। वहाँ के वृक्षों के तने नीबुओं और नारी-केशों से लदे हैं, और एक बीभत्स दृश्य प्रस्तुत करते हैं। पीड़ितों को वृक्ष के तने से उनके बाल-की-गुत्थी बना कर खील से ठोका जाता है और उतना भाग काट दिया जाता है। मल-मूत्र जहाँ बहता है, वह अस्वच्छ जल भी उन्हें खोबे-दो-खोबे पीने को कहा जाता है। पता नहीं वे सारे नज़ारे भी मन पर ताज़ा हैं और तरस खा रहे हैं उन लोगों पर जो जैन होते हुए भी वहाँ जाते हैं। मैं तो तफरी के लिए गया था और मात्र इतना ही विश्वास कर सका कि वहाँ मध्ययुग की कोई अमावस्या आज भी रुकी हुई है।

कई जैन मंदिरों में प्रवेश करते वक्त शक होने लगता है कि वाकई यह जैन मंदिर है या चूं-चूं का मुरब्बा या किसी भानमती का कुनबा?

कहीं कोई क्षेत्रपाल है तो कहीं कोई और सिंदूर-में-नहायी हुई मूर्ति या कोई बेढब आकृति का पाषाण-खण्ड। कहा जाता है कि ये सारे अस्तित्व-के-संघर्ष में हुए समझौते हैं, जो अब तक बरकरार हैं। यदि ऐसा है तो वजूद का अब कोई संकट नहीं है—अब इन्हें क्यों नहीं हटा दिया जाता? मंदिर के अंदर के या अगल-बगल के आलों का भी यही आलम होता है—कहीं कोई देवी है, तो कहीं कोई देव। पूछताछ पर

कुछ भी खुलासा दे दिया जाता है। असल में कोई नहीं जानता कि ये सब क्या हैं और क्यों हैं? एक ईमानदार कुली की तरह हम सब उन अन्धी परम्पराओं को ढोते चले आ रहे हैं, जो अर्थहीन और जड़ हैं और जिनका हमारी मौलिकताओं से कोई सरोकार नहीं है।

जब समाज के नेताओं से हिम्मत करने के लिए कहा जाता है तब उनके शब्द होते हैं : साहब क्या करें? यह सब तो सदियों से चला आ रहा है। मेरा तो इन सबमें कोई विश्वास नहीं है; किन्तु फिजूल ही मधुमक्खी के छत्ते में हाथ क्यों डाला जाए?

जब किसी बड़े तीर्थ पर जाना होता है तो वहाँ के मिजाज कुछ 'और' ही होते हैं। वीतराग प्रभु को कोई ठीक से पूछता ही नहीं है; कोई भोमिया या किसी क्षेत्रपाल या किसी देवी के चक्कर में लोक फँसे होते हैं; लगता है मंदिर के मूल नायक पार्श्वनाथ या महावीर नहीं हैं बल्कि ये देवी-देवता ही हैं। जैन भक्तों के ठठ-के-ठठ वहाँ होते हैं और किसिम-किसम की याचना के लिए अपनी झोली फैलाते रहते हैं।

एक तीर्थ पर एक बुजुर्ग वकील मिल गये। बोले – मंदिर के मूल नायक के दर्शन करूँ, न करूँ, यहाँ तो बैठूंगा ही। इनका बड़ा अनुग्रह है। इनका नाम ले कर जब भी कोई 'केस' लड़ता हूँ, जीत जाता हूँ। कमज़ोर-से-कमज़ोर केस भी इन्होंने जिताया है। वे वहाँ बैठे, मैं नहीं बैठा; उन्हें स्वार्थ था, मैं कोई 'अर्थ' तय नहीं कर पाया था; हाँ, मेरे पाँव अवश्य परमार्थ की दिशा में थे। मैं जानता था – मनुष्य अपने भाग्य का विधाता स्वयं है; कोई बाहर से आ कर उसके भाग्य का विधान करे, यह असंभव ही है।

एक बड़े जैन साधु इन्दौर में आये। मैं उन्हें जानता हूँ। मैं भक्तिवश उनकी वन्दना के लिए गया।
देखता क्या हूँ कि वहाँ दुखियारों की एक पलटन खड़ी है, जो रुपया चुका रही हैं और अँगूठियाँ खरीद रही है। एक क्षण तो ऐसा भी आया कि मुनिराज को क्रोध आ गया। वे चिल्ला पड़े। कहने लगे – मुझे नहीं देना है किसी को आशीर्वाद। भागो यहाँ से; किन्तु कोई गया नहीं। सब अपनी-अपनी जगह पर मूर्तिवत् खड़े रहे। कुछ देर बाद फिर दुकान खुल गयी और आवक-जावक शुरू हो गयी। एक ओर वसूली, दूसरी ओर तथाकथित आशीर्वाद।

मेरे सामने वट्टकेर और कुन्दकुन्द आ खड़े हुए। मैं उनके चेहरे की छवि को उनकी छवि से मिलाने लगा। कहीं कोई नाकोनक्श मिलता ही न था। समन्तभद्र को उठाया तो घबरा गया। 'रत्नकरण्ड श्रावकाचार' का १०२ वाँ श्लोक सामने आ खड़ा हुआ :

सामयिके सारम्भाः परिग्रहा नैव सन्ति सर्वेऽपि।
चेलोपसृष्टमुनिरिव गृही तदा याति यतिभावम्॥

सामायिक में कृषि आदि आरम्भों के साथ-साथ संपूर्ण बाह्याभ्यन्तर परिग्रहों का अभाव होता है, इसलिए सामायिक की अवस्था में गृहस्थ श्रावक की दशा चेलोपसृष्ट मुनि-जैसी होती है; अर्थात् वह उस दिगम्बर मुनि के समान होता है जिसे किसी भोले भाई ने दया का दुरुपयोग करके वस्त्र ओढ़ा दिया हो और वह मुनि उस वस्त्र को अपने व्रत और पद के विरुद्ध देख उपसर्ग समझ रहा हो।

इस श्लोक को अपनी आँखों में उतार मैंने सहज ही उनसे पूछा : क्यों करते हैं आप यह सब ? आप दिगम्बर इसलिए तो हुए नहीं हैं कि इन लौकिक प्रपंचों में उलझें और क्रोध करें। आपको तो उत्कट धर्म-साधना करनी चाहिये ताकि आपके भीतर भेद-विज्ञान के कई-कई सूरज उग सकें और हम सबको अपने उस अप्रतिम प्रकाश से जगमगा सकें। आप जहाँ खड़े होंगे/या मंगल विहार करेंगे वहीं सम्मेदशिखर होगा, गिरनार होगा, सोनागिरि होगा और लोगों के भीतर सदियों से बैठा अन्धकार/अज्ञान दुम दबा कर निकल भागेगा। आप जो कुछ कर रहे हैं उससे तो लोगों में अन्धविश्वास बढ़ता है और वीतराग-विज्ञान के प्रति अरुचि बढ़ती है। बोले – मैं इन्हें बुलाने कहाँ जाता हूँ ? आ जाते हैं, तो कुछ कर देता हूँ। णमोकार मन्त्र के अलावा मेरे पास कुछ नहीं है। आँगन में खड़े उनके संसारी भक्त और कुछ मोटर गाड़ियाँ उनके कथन को सुन रही थीं और निर्जीव हो कर भी व्यंग्य में मुस्करा रही थीं। मैं उठा और और घर लौट आया। मैंने 'मूलाचार' खोला और दिगम्बर मुनि के आचार का अवलोकन करने लगा।

अख़बारों की सुर्खियों में भी मैं निरन्तर कुछ ख़बरें पढ़ता रहा हूँ। एक दिन किसी अख़बार में पढ़ा कि मुनिश्री कुन्थुसागरजी और उनके परिकर की किसी आर्यिका ने 'लघुविद्यानुवाद' जैसी कृति के रूप में तन्त्र-मन्त्र का अभिनव आकलन किया है। मैंने उस संवाद को ध्यान

से पढ़ा/देखा। मेरा ध्यान एक मराठी अख़बार में छपी उस बातचीत की ओर भी गया जिसमें किसी क्रान्तिधर्मा बहिन से मुनिश्री की कोई बहस हुई थी और इसी सिलसिले में उन्होंने किसी महानगर में जैन नेतृत्व को आदेश दिया था कि इतने अच्छे ग्रन्थ पर इस तरह की टिप्पणी उचित नहीं है; इस ओर वह कोई कारगर क़दम उठाये। आगे क्या हुआ, मुझे नहीं मालूम; किन्तु मैं जानता हूँ कि सचाई को ढाँकना कठिन है, अत: कोई कुछ भी कर सकता है, यह संभव ही नहीं है। कोयले को आप कब तक साबुन से धोते रहेंगे? यदि 'लघुविद्यानुवाद' शाबर तन्त्र-शास्त्र का ही एक रूपान्तर है, तो इसमें हर्ज ही क्या है? वह संकलित तो 'जैन समाज को लाभान्वित' करने के लिए किया गया है?

जिज्ञासा हुई कि चलो इस ग्रन्थ के पन्ने पलटे जाएँ। देखा तो अवाक् रह गया। यह सब क्या है? क्यों है? क्या प्रयोजन है इस सिद्धान्तहीन ग्रन्थ के संकलन/संपादन/प्रकाशन का? क्यों किया गया है भोले-भाले लोगों के धन को इस तरह बर्बाद? क्या संकलन-के-इस श्रम को मुक्ति-श्रम में रूपान्तरित नहीं किया जा सकता था? कैसी-कैसी भयावह आकृतियों का आकलन इसमें हुआ है? इस अराजकता के लिए जिम्मेदार कौन है? क्या यह संकलित नहीं होता तो भगवान् महावीर की दिव्यध्वनि रुकी रहती? कौन-सी अनिवार्यता थी इसके प्रकाशन-की-पीठिका पर? आखिर इसका अन्तिम लक्ष्य क्या है? यह तो शाबर तान्त्रिकों की करतूतों और बकवासों का मनोरंजक अहवाल मात्र है?

कुछ उदाहरण लें (वैसे पूरा लेख पढ़ें इसी विशेषांक में पृ. ८२) इस ग्रन्थ से और स्वयं कसौटी बन कर फैसला करें कि इस ग्रन्थ की जैनधर्म की मुख्यधारा से कितनी संगति है? देखें यन्त्र नं. १४५– 'राजा-रानी मोहन को नव प्रकर्ण यन्त्र है सत्य। इस यन्त्र को अष्टगन्ध से लिख कर पास में रखने से राजा-रानी वश में होते हैं।' दु:खद यह है कि न तो आज कोई राजा-रानी हैं और न ही ऐसी कोई प्रजा है जिसका शासन उस पर हो। आज तो लोकतन्त्र है जिसमें राजा को प्रजा का वशीकरण करना होता है, प्रजा राजा का वशीकरण नहीं करती। सारे पाँसे उलट चुके हैं। पृष्ठ ३८२; यन्त्र नं. २५४; विधि–'मोम का मनुष्याकार पुतला बनावें फिर जैसा यन्त्र में है वैसा ही पुतले पर अक्षर स्थापन करें, फिर पूतले पर सिन्दूर चढ़ा कर स्वयं नग्न हो, लाल कनेर

के फूल सो मन्त्र १०८ बार जप कर पूजा करे फिर पूतला के जिस अंग पर सुई चुबावें, शत्रु के उसी अंग में पीड़ा होती है। दूध-दही से स्नान करावे तब अच्छा होता है।'

कैसी बकवास है यह सब ?

एक तो जैनधर्म के मानने वाले का कोई शत्रु होगा ही नहीं और यदि होगा भी तो वह इस तरह के शाबर मन्त्र का उपयोग उस पर नहीं करेगा। जैन तो वह है जो प्राणिमात्र के भले की कामना करता है – वह सुई से सियेगा या उसे किसी व्यक्ति को पीड़ा देने के लिए उसे चुभोयेगा ? जब यह सब एक औसत जैन के लिए भी संभव नहीं है, तब फिर एक दिगम्बर मुनि और आर्यिका को इन/ऐसे तन्त्रों के संकलन का पुरुषार्थ क्यों करना पड़ा ? दे. पृ. ३९३ और सोचिये क्या किसी जैन मुनि को "स्वप्नदोष मिटे यन्त्र" के संकलन में रुचि लेनी चाहिये ? दे. पृ. ५२१/ इसमें सुरापान की राय भी दी गयी है – मूल है : यस्यलिंगे पाषाणनिरोधोभवति (जिसके मूत्राशय में पथरी हो) तस्य (काला नमक) कृष्णलवणेन सहसुरापानं दीयते साम्यन्त्र जत्ति।' इस तरह की कई ऊलजलूल बातें 'लघुविद्यानुवाद' में हैं। जानें, ये सारे प्रयोग जैन तन्त्र में अस्वीकृत हैं; ये वस्तुतः शाबर तन्त्र-शास्त्र में ही उपलब्ध हैं। तन्त्र की वैज्ञानिक जानकारी के लिए पढ़ें विज्ञान भैरव- ब्रजवल्लभ द्विवेदी – १९७८.

'लघुविद्यानुवाद' के आरम्भ में जैन मुनियों के चित्र और उनके वक्तव्य पढ़ कर मन को बड़ी पीड़ा होती है और सिर शर्म से झुक जाता है।
कहाँ एक ओर विज्ञान-महर्षि जगदीशचन्द्र बसु और कहाँ 'लघुविद्यानुवाद' के संकलयिता। एक अपनी प्रयोगशाला में अन्धविश्वासों से जूझ रहे हैं, तो दूसरे उन्हें, फैलाने में एड़ी-से-चोटी-तक का पसीना बहा रहे हैं (दे. प्लांट ऑटोग्राफ्स/एण्ड देअर रेवेलेशन्स; १९५५; अध्याय ७, पृ. ४५-४६; फरीदपुर का प्रार्थनालीन ताड़वृक्ष)। पृ. ४६ पर जगदीशचन्द्र बसु का एक वाक्य है– 'नेचुरल साइन्स इज नॉट बिलीव्ह इन द ऑकल्ट फॉर टू इट नथिंग इज एक्स्ट्राफिजीकल बट ओनली मिस्टीरियस ओइंग टू सम हिदरटू अनसर्टेण्ड कॉज'.

इस ग्रन्थ के प्रकाशन से यह बहुत साफ हुआ है कि जैन समाज ने साधुओं पर से नियन्त्रण खो दिया है और उसने स्वयं जैनधर्म की सही समझ पाने की प्यास किसी रेगिस्तान में गँवा दी है। वह आज फिर अन्धविश्वास और अज्ञान की मृगमरीचिका में भटकने लगा है।

इतना तो है ही और-और तथ्य भी वर्षों से मेरे जेहन पर पद्मासन जमाये बैठे रहे हैं और इंगित करते रहे हैं कि कोई-न-कोई उपाय अवश्य किया जाना चाहिये इस तरह की विसंगतियों को दूर करने के लिए।

अखबारों में लगातार पढ़ता रहा हूँ नर/पशु-बलियों के समाचार। आज भी तथाकथित तान्त्रिक बच्चों का अपहरण करते हैं और अपनी कार्यसिद्धि के लिए उनकी निर्मम हत्या कर डालते हैं। माना, पहले कभी अज्ञानवश यह सब होता रहा है; किन्तु आज तो हम विज्ञान के युग में साँस ले रहे हैं और तथ्यों को गणित की भाषा में जानने पर विवश हैं; अतः संकल्प करें कि जब तक किसी काम में हमें कार्य-कारण-संगति नहीं दिखायी देगी, हम उसे मात्र इसलिए, कि कोई साधु कह रहा है, नहीं मानेंगे।

पूछा जा सकता है यह सवाल कि इस अंक के प्रकशित करने का प्रयोजन क्या है; इसकी प्रेरणा कैसे हुई?
ऊपर जिन बहुत सारे कारणों को गिनाया गया है वे पर्त-दर-पर्त जमते गये और लगा कि अब यह सही क्षण है जब कि विज्ञान का सहारा ले कर अन्धविश्वासों को चुनौती दी जाए और मन्त्र-यन्त्र-तन्त्र की वैज्ञानिकताओं को खोज़ा जाए।

यह नहीं है कि मन्त्रों में शक्ति नहीं है और यन्त्र पूर्णतया अवैज्ञानिक हैं। कोई भी काम तर्क की कसौटी पर कसते हुए जब निर्धारित विधि से किया जाता है तब उसके अचूक घटित होने में भरोसा किया जाना चाहिये। बात यह है कि जब भी कोई व्यक्तिगत स्वार्थ आड़े आता है तब वहाँ विकृतियाँ आ जाती हैं। तन्त्र-मन्त्र का क्षेत्र भी ऐसा ही है।

मन्त्र एक निश्चित लक्ष्य के लिए संयोजित ध्वनिपुंज होते हैं। ध्वनियों की शक्ति को विज्ञान ने भी स्वीकार किया है। यन्त्र, मन्त्र के संक्षिप्त हस्ताक्षर हैं। वे रेखाकृतियाँ हैं ध्वनियों की। रेखा और बिन्दु में बहुत बड़ी शक्ति सन्निहित है। वस्तुतः रेखा का अस्तित्व है ही नहीं। बिन्दु ही सट कर रेखा को आकृत करते हैं। टेलीविज़न पर टेलीवाइज्ड आकृतियाँ रेखाओं में बँट कर आती हैं। पायथोगॉरस ने प्रकृति के रहस्यों को गणित की भाषा में समझने की बात कही है। गणित का क्षेत्र सन्देहों से परे का क्षेत्र है। वहाँ २+३=५ ही होंगे; ६ या ४ नहीं हो सकेंगे। तन्त्र-मन्त्र का क्षेत्र अनाड़ियों का क्षेत्र नहीं है। वह साधना का क्षेत्र है। उसके रहस्य पाते ही आदमी खामोश हो जाता है। मौन हो जाता है।

जब तक विज्ञान को मानव-कल्याण के निमित्त काम में लिया जाता रहा उसकी शक्ति अपरिमित बनी रही, अब वही विज्ञान जब मनुष्य के मारण/उच्चाटन/विद्वेषण के काम आने लगा है, लोगों में उसके प्रति अनास्था उत्पन्न होने लगी है। तरह-तरह के रासायनिक हथियार बनाये जा रहे हैं;

इसलिए यह क्षण अत्यन्त उपयुक्त है कि हम विज्ञान द्वारा विकसित साधनों और उपकरणों का उपयोग करते हुए तन्त्र-मन्त्र की सत्ता और उसके बल की समीक्षा करें और पता लगायें कि ऐसा कौन-सा सूत्र हमारे हाथ से फिसल गया है जिसके कारण ये सारे मन्त्र स्खलित/विचलित/अप्रभावी हो गये हैं। विज्ञान और तर्क की इस सदी में चाहे कोई साधु हो या गृहस्थ उसे लोगों को भरमाने की इज़ाजत नहीं दी जा सकती। अध्यात्म की शक्ति और उसकी पवित्रता से हम इन्कार नहीं करते; इस तथ्य से भी मुँह नहीं मोड़ते कि देह में कई वैदेही शक्तियाँ हैं जिनके सन्तुलित विकास से विलक्षण सिद्धियाँ/सफलताएँ संभव हैं। पिण्ड में ब्रह्माण्ड की स्थिति से इन्कार हम कहाँ कर रहे हैं – हम तो उसके अनुसन्धान के लिए कह रहे हैं।

शरीर में सन्निहित शक्तियों को ध्यान द्वारा विकसित किया जा सकता है। योग के माध्यम से काया-के-अनन्तानन्त रहस्यों का पता लगाना संभव है। लोगों ने सदियों वैसा किया है। विज्ञान का कोई मजहब कभी होता नहीं है। जैन विज्ञान या जैन तन्त्र-मन्त्र जैसी कोई स्थिति बनती नहीं है। किसी वर्णमाला या ध्वनि के जैन या जैनेतर होने का प्रश्न/प्रस्ताव बेहूदा है। वह संभव ही नहीं है। गणित का कोई धर्म कैसे होगा ? जैन गणित, इस्लाम गणित, पारसी गणित — यह सब कैसे होगा ? सुविधा और अभिमान के लिए यह ठीक है; किन्तु गणित, तन्त्र-मन्त्र आदि धर्मातीत स्थितियाँ हैं।

मातृका की शक्ति अनन्त है।

नागरी वर्णमाला का यदि ठीक-ठीक विश्लेषण किया जाए तो उसमें जो अपरंपार ऊर्जा है उसका अनुमान आसान है। प्रश्न केवल ध्वनि-समूहों और ध्वनि-संयोगों के जानने और जमाने का है। प्रकृति के रहस्यों को विज्ञान ने जिस तरह निर्वस्त्र किया है, ठीक वैसे ही मन्त्रशक्ति के रहस्यों तक भी हम अपनी पहुँच बना सकते हैं; किन्तु यह तब संभव है जब हमारी खोज के पीछे कोई स्वार्थ न हो – बात यह है कि अंक, अक्षर, आकृति आदि यथास्थान सही हो सकते हैं; किन्तु आज अपमिश्रण इतना अधिक हो

ाया है कि सम्यक्-बोध कठिन हुआ है। लोगों ने स्वार्थवश कई ऊलजलूल स्थितियाँ उत्पन्न कर ली हैं और अपनी इच्छा-शक्ति का दुरुपयोग करते हुए कई जटिलताएँ पैदा कर दी हैं। यह गहन चिन्ता का विषय है। इससे जहाँ एक ओर तन्त्र-मन्त्र की प्रतिष्ठा आहत होती है, वहीं दूसरी ओर जिस किसी धर्म से वह जुड़ता है उसकी साख और प्रामाणिकता पर भी उसका असर पड़ता है; इसलिए–
विकृतियों का यत्नपूर्वक शोधन होना चाहिये और मन्त्रशक्ति को विज्ञान के धरातल पर विकसित/उद्घाटित करने की कोशिश की जानी चाहिये।

प्रस्तुत विशेषांक के द्वारा दो कार्य संपन्न किये जा रहे हैं। एक, ऐसी कोशिशों को जो अपना रास्ता भटक कर इस क्षेत्र में आ गयी हैं उन्हें अपने स्थान पर लौटाया जा रहा है; दो, लोगों को जागरूक किया जा रहा है कि जिस मन्त्रशक्ति का उपयोग वे करना चाहते हैं उसे उसके असली रूप में लाने की ज़रूरत है।

सदियों के अन्तराल के कारण तथा विशेषज्ञों के लुप्त हो जाने की वजह से तन्त्र-मन्त्र की असलियत पर पर्दा आ गया है; इसे हटाने की ज़रूरत है। हम इस तथ्य से नहीं मुकर रहे हैं कि मन्त्र में शक्ति नहीं है, है; किन्तु हम अभिशप्त हैं कि कुंजियाँ खो बैठे हैं। इन्हें तलाशने की ज़रूरत है। इतना ही नहीं इस तथ्य के खोजने की आवश्यकता भी है कि कौन-सा ताला कहाँ पड़ा है और उसे खोलने का राज़ क्या है? आप ही सोचें कि जो लोग तन्त्र-मन्त्र के बारे में कोई तमीज़ न रखते हों वे इसके प्रकाशन में रुचि लें तो उसके संबन्ध में अनास्था फैलेगी या नहीं? अतः हमें असलियत तक पहुँचने का विशुद्ध और सबल प्रयत्न करना चाहिये ताकि एक मुमुर्षु परम्परा को न सिर्फ़ जीवित रखा जा सके वरन् उसे ले कर और-और खोजें की जा सकें।

विशेषांक का एक प्रयोजन यह भी है कि जहाँ भी कार्य-कारण-संगति की गैरहाज़िरी है, वहाँ ऊलजलूल करने वालों को खुली चुनौती दी जाए। माना, तन्त्र-मन्त्र का क्षेत्र सूक्ष्मताओं का क्षेत्र है, ऐसी सूक्ष्मताओं का जिन्हें किसी भौतिक प्रयोगशाला में सिद्ध करना संभव नहीं है; किन्तु यह भी सही है कि वे लोग जो निष्काम चित्त से साधनालीन हैं, अपने अनुभवों से इन्हें पुष्ट कर सकते हैं, इसके तथ्यों को/इसके रहस्यों को उजागर कर सकते हैं।

एक किताब है मार्टिन गार्डनर की – साइन्स गुड बेड एण्ड बोगस – १९८३; जिसमें कई परामनोवैज्ञानिक प्रयोगों को असिद्ध किया गया है और सूक्ष्मतर धोखाधड़ी का पर्दाफाश किया गया है। कई तान्त्रिक प्रयोगों को भी इसमें चुनौती दी गयी है। इसी तरह की कोई किताब जादू-टोनों और जन्तर-मन्तर के छद्म पर भी आनी चाहिये।

प्रस्तुत विशेषांक उन सारे लोगों के लिए चुनौती है जो किसी-न-किसी कारण से अवैज्ञानिक हैं, या तर्कविहीन हैं और प्रयत्न कर रहे हैं कि उनकी बात किसी भय या आतंक या विशेष परिस्थिति के कारण मानी जाए।

ऐसे कई लोग हैं जो दीखते आधुनिक हैं, हमारे समकालीन हैं; किन्तु भीतर-भीतर निपट रूढ़ हैं और अवसर आने पर जादू-टोनों/जन्तर-मन्तर के अन्धभक्त हैं। ऐसे लोग किसी भी हद तक इनका उपयोग करते हैं और खिड़की से बाहर गर्दन निकाल कर स्वयं को 'टूडेट' बताते हैं।

यह अंक उन तमाम लोगों के लिए चुनौती है जो आज भी छींके जाने या बिल्ली के रास्ता काटने पर ठिठक जाते हैं और शुरू किये जा रहे काम को कुछ देर बाद करने की सलाह देते हैं।

इन सबसे पूछा जाना चाहिये कि इधर रेल की सीटी बज रही है और उधर इंजिन के सामने से बिल्ली पटरी काट रही है फिर भी कुछ नहीं होता; और क्या जितनी दुर्घटनाएँ होती हैं उनके पीछे ऐसा कोई तर्कविहीन कारण होता है या वे किसी यान्त्रिक खराबी के कारण होती हैं?

जैनों का कर्तव्य है कि वे रूढ़ियों और अन्धविश्वासों के काले गलियारों से बाहर आयें और प्रकृति के रहस्यों को, उसके आचरण को समझें। उसके सान्निध्य का आनन्द लें।

दुनिया का सबसे बड़ा मन्त्र है : वस्तु-स्वरूप की खोज और उसका बोध। जिस किसी ने भी वस्तु-स्वरूप को जान लिया, वह प्रणम्य है। ऐसे व्यक्ति को इस संसार में ऐसा क्या है जिसे जानने की ज़रूरत शेष रह जाती है?

मुश्किल किन्तु यह है कि न तो हम वस्तु की पहिचान बनाने की कोशिश में हैं और न ही उसके व्यक्तित्व में पैठने की असली इच्छा रखते हैं। हमें चाहिये कि हम वस्तु/पदार्थ को उसके सम्यक् स्वरूप में जानें और अपने भीतर बैठे विवेक को जागृत करें।

जैनदर्शन के इस प्रतिपाद्य को रेशे-रेशे समझने की ज़रूरत आज है कि इस लोक के तमाम अस्तित्व स्वाधीन हैं। कोई वस्तु किसी अन्य वस्तु के अधीन नहीं है। सापेक्ष सब है; किन्तु पराधीन एक परमाणु भी नहीं है।

लोक को समझने के लिए सापेक्षता दरकार है, किन्तु यह तय है कि तमाम वस्तुएँ/द्रव्य इतने स्वाधीन हैं कि वे अपने आचरण से न तो किसी की स्वाधीनता का अपहरण करते हैं और न ही किसी के स्वतन्त्र आचरण से खुद की स्वाधीनता का अपहरण होने देते हैं।

सारा विश्व परमाणुओं का एक बहुत बड़ा अखाड़ा है; किन्तु इस अखाड़े में कोई लड़/जूझ नहीं रहा है, सब अपनी परम मैत्री में अपनी स्वाधीनताओं में रमे-डूबे लोकाटन कर रहे हैं। मन्त्र-तन्त्र इसी रहस्य-बोध पर आधारित हैं;

बल्कि कहें कि महामन्त्र यही है कि हम सम्यक्त्व को खोजें और अपने भीतर सुषुप्त शक्तियों को जगायें।

वास्तव में हम स्वयं अनन्त शक्तियों के कोष हैं, किन्तु नहीं जानते कि वैसे हैं।

हम एक ऐसे यातु/यात्री/मुसाफिर हैं जिसकी ज़ेब में एक बहुत बड़े खज़ाने की चाबियाँ हैं, किन्तु नहीं मालूम हमें कि यह खज़ाना कहाँ है और इन चाबियों का इस्तेमाल कैसे हो सकता है ?

मुश्किल यह भी है कि अन्दर पड़े तालों की सही चाबियाँ हमारे पास हैं, किन्तु हम न तो कोई प्रयोग कर पा रहे हैं और न ही वैसा करने का कोई संकेत दे रहे हैं।

यह विशेषांक एक स्थूल सूचना मात्र है, इसके आगे अभी काफी गुंजाइश और कई मौके हैं।

—नेमीचन्द जैन

□□

खुफ्तगान अज़ जिंदगी आगह नींद
ज़िंदा बूदन कारे बदारी बुवद

सोने वाले जीवन की जिम्मेदारियों से अपरिचित हैं; जीवन असल में गति और क्रम का नाम है। **— अमीर खुसरो**

गुलाम आजादी

दो भाई थे । एक बादशाह की नौकरी करता था और दूसरा मेहनत-मजदूरी करके रोटी कमाता था । शाही नौकरी करने वाले अमीर भाई ने अपने गरीब भाई से कहा—'तू भी बादशाह की नौकरी क्यों नहीं कर लेता ? उससे तुझे इस कड़ी मेहनत से छुटकारा मिल जाएगा ।'

उसने उत्तर दिया—'तू ही मेहनत करके क्यों नहीं कमाता ? इससे तुझे दासता और अपमान से छुटकारा मिल जाएगा ।'

समझदारों का कहना है कि सुनहरी पेटी बाँध कर बादशाह के दरबार में दिन-भर खड़े रहने से कहीं अच्छा है कि तू जौ की रूखी रोटी खा कर संतोष से बैठा रह ।

सीने पर हाथ बाँध कर अमीर के सामने खड़े होने से कहीं अच्छा है कि हाथों से काम करके रोटी कमाई जाए, चाहे वह गर्म चूने को गूँथने का ही काम क्यों न हो ?

ऐ इन्सान, तूने अपनी कीमती उम्र इसी में खत्म कर दी कि गर्मियों में क्या खाऊँ, और जाड़ों में क्या पहनूं । ऐ बेशर्म, एक ही रोटी पर संतोष कर ले, ताकि तुझे दूसरों की गुलामी में अपनी कमर न झुकानी पड़े ।

तो सारी रौनक ही खत्म हो जाएगी

एक बेसुरी आवाज़ वाला कारी (कुरान पढ़ने वाला) ज़ोर-ज़ोर से कुरान शरीफ पढ़ा करता था । एक खुदापरस्त उधर से गुज़रा । उसने पूछा—'तुझे इस काम के लिए कितनी तनख्वाह मिलती है ?'

वह बोला—'कुछ नहीं' ।

खुदापरस्त ने कहा—'फिर तू इतनी तकलीफ क्यों उठाता है ?'

कारी ने उत्तर दिया—'मैं तो खुदा के लिए पढ़ता हूँ' ।

भला आदमी बोला—'अब तू खुदा के लिए न पढ़ । यदि तू कुरान को इस भद्दे तरीके से पढ़ेगा तो इस्लाम की सारी रौनक ही खत्म कर डालेगा ।

—शेख सादी

भट्टारक-संस्था और मन्त्र-तन्त्र

श्री चारुकीर्ति भट्टारक/डॉ. नेमीचन्द जैन/गोम्मटगिरि, इन्दौर; १६ मार्च, १९८७

डॉ. नेमीचन्द जैन : भट्टारक-परम्परा में मन्त्र-तन्त्र का प्रचार कब से हुआ ?

चारुकीर्ति भट्टारक : बहुत से भट्टारक विद्वान्, प्रबुद्ध, कर्मवीर और समाज-सुधारक भी थे। कुछ भट्टारकों ने मन्त्रों के प्रचार में रुचि ली, लेकिन आमतौर पर भट्टारकों ने इसमें रुचि नहीं ली।

ने. : भट्टारक-परम्परा में यह अनिवार्य नहीं था क्या ?

चा. : नहीं, क्योंकि 'भट्टारक' शब्द का अर्थ है: भट्टान् पण्डितान् अरयति प्रेरयतीति भट्टारकः जो भट्ट अर्थात् पण्डितों (समाज के कर्णधारों) को प्रेरणा देता है वह भट्टारक है।

ने. : 'भट्टारक' के लिए पर्याय शब्द कभी पढ़ा था – गृहस्थाचार्य।

चा. : ऐसी बात नहीं है। पहले मुनि-भट्टारक होते थे। भद्रबाहु स्वामी को 'भट्टारक' कहा गया है। यहाँ तक कि महावीर स्वामी को भी भट्टारक कहा गया है। जो 'धर्म-प्रभावना' में अपना सारा समय और शक्ति लगाता है और सत्कार्य करता है; उसके लिए और विशेषत: 'मुनि' के लिए यह शब्द प्रयुक्त हुआ है।

ने. : आत्मोत्थान · · ·

चा. : आत्मोद्धार; 'अमरकोश' में राजा, भट्टारक, देव – तीनों को एक समान कहा है। राजा को भी भट्टारक कहते थे। भट्टारक को राजगुरु भी कहते थे। इस तरह भगवान् महावीर से लेकर श्रुतकेवली भद्रबाहु, नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती – इन सबको 'भट्टारक' कहा गया है।

ने. : एक तरह से यह शब्द उन लोगों के लिए प्रयुक्त था जो धर्म की प्रेरणा देते थे और उसका प्रचार-प्रसार करते थे। असल में यह व्यापक रूप से प्रयुक्त एक सम्मान-सूचक शब्द रहा है।

चा. : अर्थात् भट्टारक का अर्थ है 'सर्वशास्त्रकलाभिज्ञ' यानी वह व्यक्ति जो सारे शास्त्रों और समस्त कलाओं में पारंगत है और तदनुसार अपनी युग-चेतना को प्रेरित करता है।

ने. : उसे गति देता है।

चा. : लेकिन कालान्तर में जब परिस्थितियाँ बदल गयीं और अन्य स्थानों में मठों को सर्वोच्च माना गया; भट्टारक राजगुरु बने तब। फिर जैनं समाज भी पीछे नहीं रहा।

ने. : प्राचीन काल में भट्टारकों की स्थिति लगभग मुनियों की तरह की थी। उसके बाद मध्यकाल में अन्य सम्प्रदायों के संपर्क से वह सामन्तवाद से प्रभावित हुई ?

चा. : जब देश में मुसलमानों का आना हुआ, तब वैदिक तथा जैन (श्रमण) संस्कृतियों पर बहुत बड़ा असर हुआ। हमारे मन्दिरों और हमारी मूर्तियों पर आक्रमण हुए। कहना मैं यह चाहता हूँ कि मध्ययुग में हमारी साधु-संस्था को बहुत बदलना पड़ा। विदेशी तत्त्व के प्रवेश ने हमारी संस्कृति और हमारे धर्म, हमारे चिन्तन-मनन, आचार-विचार को बहुत प्रभावित किया। कुछ परिवर्तन हमें स्वयं भी करने पड़े।

ने. : क्यों ?

चा. : कुछ ऐसे मुस्लिम बादशाह हुए, जो ज़बरन धर्म-परिवर्तन कराते थे। इससे बड़ी विषम परिस्थिति उत्पन्न हुई। प्रश्न यह उठ खड़ा हुआ कि साधु-संस्था और मन्दिरों की रक्षा किस तरह की जाए ? उन्हें ऐसा-का-ऐसा रखें या उनमें युगानुरूप परिवर्तन करें ?

ने. : एक विकट दुविधा हमारे सामने आ गयी थी।

चा. : अनिवार्यता में कई परिवर्तन करने पड़े या कहें, हुए।

ने. : किस तरह के परिवर्तन ?

चा. : दृष्टान्त के रूप में बताता हूँ, कर्नाटक में रात्रि में अभिषेक की परिपाटी चली, जो पहले नहीं थी। मैंने इसका बहुत अध्ययन किया। जब मैं उत्तर-भारत आया, जहाँ रात्रि में अभिषेक नहीं होता है, तब सोचा दक्षिण में यह क्यों होता है ? मैंने लोगों से पूछा, फिर इतिहास पढ़ा। पता लगा कि जहाँ मुसलमानों का शासन था, वहाँ मन्दिरों को दिन में खोल नहीं सकते थे। दिन-भर ताला रखना पड़ता था। रात में चुपचाप अभिषेक होता था।

ने. : एक सामयिक व्यवस्था थी वह।

चा. : हाँ, लेकिन आज तो वैसी स्थिति नहीं है।

ने. : इस तरह कई परिवर्तन हुए। वक्त के अनुसार ढल जाना पड़ा।

चा. : हाँ; कुछ लोग बिना पूजा किये खाना भी नहीं खाते थे। पूजा के पहले अभिषेक करना अनिवार्य था।

ने. : संभव है; इसीलिए रात्रि-भोजन भी शुरू हुआ हो ?

चा. : हाँ, आजकल वहाँ जो चावल-भोजन करते हैं, वह नाश्ता है, पूरा भोजन नहीं है। रात्रि-भोजन का त्याग है, लेकिन रात्रि में फलाहार की अनुमति है।

ने. : पहले परिस्थितिवश वह हुआ, अब वह रूढ़ि है।

चा. : लेकिन अब वह स्थिति नहीं है; अतः परिवर्तन कर सकते हैं।

ने. : आपने सलाह दी है न ?

चा. : कई मन्दिरों में रात्रि-अभिषेक बन्द है। श्रमणबेलगोल में रात्रि में अभिषेक नहीं होता है।

ने. : यानी परिवर्तन के लिए गुंजाइश है; प्रयत्न होना चाहिये।

चा. : एकदम बटन दबाते ही बिजली आ जाए; ऐसा तो नहीं हो सकता। मानसिकता बदलना आसान नहीं है। आज भी वे रूढ़िग्रस्त हैं।

ने. : एकदम दूर करना, उन्मूलित करना तो कठिन है ही; फिर भी बदलने-की-मानसिकता तो बनानी ही होगी।

चा. : परिवर्तन की आवश्यकता है।

ने. : मन्त्र का जो भाग भट्टारक-परम्परा से जुड़ा हुआ है, उस पर थोड़ा-सा प्रकाश डालिये।

चा. : समाज पर जब संकट आता है, तब सबसे पहले भगवान् याद आते हैं, लेकिन वे तो वीतरागी हैं, कुछ करते नहीं हैं। तो फिर समाधान का आखिर एक ही रास्ता रहता है साधु-वर्ग। बताया गया कि 'णमोकार मन्त्र' शक्तिशाली है; उसका जाप करो। इस महामन्त्र का सवा लाख, दो लाख जाप करो; ऐसा करने से अमुक सिद्धि होगी। इस तरह संकट-मोचन के लिए कुछ उपाय हुए। हमारा मूल मन्त्र तो णमोकार ही है; वही प्रेरणा-स्रोत है। जितने भट्टारक हुए, वे सब इसी को मानते रहे; लेकिन बाद को कुछ विकृतियाँ आयीं। मूल के साथ बीजाक्षर जुड़े। णमो अरिहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आइरियाणं, णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्वसाहूणं इन पाँचों के साथ बीजाक्षर जोड़े गये। कुछ लोगों ने मूल को छोड़ कर बीजाक्षरों को ही मुख्य मान लिया। वे उसे ही महत्त्व देने लगे।

ने. : यानी भृत्य अधिक महत्त्वपूर्ण हो गया बजाय उसके कि जो अन्दर बैठा था, स्वामी था। इस तरह बीजाक्षर मुख्य हो गये, और मूल मन्त्र गौण हो गया।

चा. : इन बीजाक्षरों से अनेक शक्तियाँ जागृत होने लगीं। होता वास्तव में यह है कि जब चित्त एकाग्र हो कर कोई काम करता है, तब उसमें सफलता मिलती ही है।

ने. : शक्ति पैदा होती है; कुछ चमत्कार घटित होता है।

चा. : इस तरह कुछ प्राप्त हुआ। बढ़ते-बढ़ते वामाचार आ गया। इतना ही नहीं, जिसका जैन संप्रदाय में महत्त्व नहीं था, अथर्ववेद; उसमें-से भी बहुत सारे तन्त्र-मन्त्र आ गये। भट्टारकों ने ऐसा किया, इसका कोई प्रमाण तो नहीं हैं, लेकिन बीजाक्षर हैं, कुछ मन्त्र हैं, जो दूसरे ग्रन्थों से आये हैं; हिन्दी के कुछ मन्त्र हैं,

कन्नड़ और मराठी के कुछ मन्त्र हैं। यहाँ तक कि उर्दू के भी कुछ तन्त्र-मन्त्र जुड़ गये हैं।

ने. : व्यापक सम्मिश्रण हुआ है।

चा. : जैन मन्त्रों के साथ अन्य मन्त्रों को जोड़ कर कई संग्रह-ग्रन्थ बने और आचार्यों के नाम से, गुरुओं के नाम से प्रचारित हुए।

ने. : क्या मन्त्र में बल है?

चा. : बल तो है; कहा गया है: 'मननात्, सर्वभावानां त्राणात् संसार-सागरात। मन्त्ररूपा हि तच्छक्तिर्मननत्राणरूपिणी।' सभी भावों का मनन और समस्त संसार से त्राण करने के सामर्थ्य के कारण इस मनन-त्राणरूपी शक्ति को मन्त्र कहते हैं। मन्त्र की यह एक परिभाषा है।

ने. : विकृतियाँ मन्त्र में थीं या तन्त्र में? क्या भट्टारकों से इस सबका कोई संबन्ध नहीं था?

चा. : भट्टारक तन्त्र नहीं करते थे। वे मन्त्र के ज्ञाता थे। बाद में आराधना, विधि-विधान (जैसे – कलिकुण्ड विधान, वज्रपञ्जर विधान) आदि में मन्त्र का विधान करते थे। यह आराधना-विधि है। यह तन्त्र-रूप नहीं है। तन्त्र का कोई विशेष स्थान नहीं है। आराधना में भी तीर्थंकर भगवान् की आराधना होती है। उसके बाद मन्त्र के अनुरूप ग्रहों के अनुसार जो दुःख हैं, संकट हैं, उन्हें दूर करने के लिए तीर्थंकरों की उपासना, उनकी पूजा; यक्ष-यक्षिणी की पूजा आदि का प्रावधान है।

ने. : अभी आपने यक्ष-यक्षिणी कहा है – उनकी पूजा और तीर्थंकरों की पूजा समकक्ष कैसे हुई? क्या हम ऐसा कर सकते हैं?

चा. : स्पष्ट है कि संसार के जो दुःखी जीव हैं, उनके लिए भगवान् कोई काम नहीं कर सकते, वे तटस्थ हैं, वीतरागी हैं। वे न तो हमारी पुकार सुन सकते हैं और न ही हमें परितुष्ट करते हैं।

ने. : वे तो प्रेरणा-स्रोत हैं।

चा. : वे तटस्थ प्रेरणा-स्रोत अवश्य हैं; लेकिन हमें तो कोई उपाय, कोई समाधान चाहिये, जिससे हमारा संकट दूर हो। आखिर कितना भी मजबूत व्यक्ति क्यों न हो जब उसे संकट आ घेरता है, तो उसकी कहीं-न-कहीं जाने की इच्छा होती है, ताकि संकट टल जाए। यह सभी संप्रदायों में है। शंकराचार्य ने निर्गुण ब्रह्म की उपासना शुरू की; लेकिन सगुण ब्रह्म की उपासना भी उन्हें शुरू करनी पड़ी।

इसी प्रकार जो सिद्ध हैं, तीर्थंकर हैं, वे लोगों के संकट दूर करने में कहाँ समर्थ हैं? क्या वे प्रार्थना सुन सकते हैं, दुःख दूर कर सकते हैं? सामान्य व्यक्ति आते ही इसलिए हैं, उन्हें तो ऐसा कोई आधार मिले, जो उनके संकट दूर करे, उनका मार्ग निष्कण्टक करे; क्योंकि हरेक व्यक्ति दुःख-निवारण के लिए तत्त्वज्ञान

का उपयोग नहीं करता। ऐसी दुविधा में कुछ-न-कुछ तो चाहिये और यदि कुछ नहीं मिला उसे अपने धर्म में, तो वह दूसरे धर्म में चला जाएगा। आज भी ऐसा है कि बहुत से बड़े-बड़े लोग जो संकट आने पर विचलित हो उठते हैं, इधर-उधर भटकते हैं। वे अन्य संप्रदायों में प्रवेश की बजाय अपने ही धर्म में कुछ ऐसी व्यवस्था चाहते हैं ताकि उन्हें अन्यत्र न जाना पड़े? 'कर्म' के कारण ही यह सब है, बाद में उन्हें समझाया जा सकता है, संकट की घड़ी में यह उपदेश काम नहीं देता। बाद में उन्हें मूल सिद्धान्त से अवगत कराया जा सकता है, विचलन की अवस्था में तो भला वे क्या सुन-समझ पायेंगे? इसलिए, बीच में ऐसी आवश्यकता का अनुभव हुआ कि हर धर्म में जो इस प्रकार के माध्यम या साधन हैं; उन्हें रूपान्तर से अपनाया जाए।

ने. : यक्ष-यक्षिणी की पूजा कब प्रचलित हुई? आखिर इनकी पूजा क्यों? हमारी आत्मा स्वयं इतनी शक्ति-सम्पन्न है कि हमें कहीं और से याचना की ज़रूरत नहीं है। हम तीर्थंकरों से तो प्रेरणा ले सकते हैं, क्योंकि हम वैसा बनना चाहते हैं, किन्तु यक्ष-यक्षिणी से हम क्या प्रेरणा ले सकते हैं?

चा. : इसीलिए मानतुंगाचार्य ने 'भक्तामर-स्तोत्र' की रचना की। उसमें यक्ष-यक्षिणी का उल्लेख कहीं नहीं है। तीर्थंकर-भक्ति द्वारा संकट दूर करने की प्रेरणा और प्रभाव उसमें है।

ने. : हमारे मन्दिरों में, तीर्थ-क्षेत्रों में तरह-तरह के देवी-देवताओं, द्वारपाल क्षेत्रपाल आदि की स्थापना की गयी है; क्या इससे जैनधर्म के मूल सिद्धान्तों की कोई संगति है? मैं यह स्पष्ट करना चाहता हूँ कि इनसे जैनधर्म के मौलिक सिद्धान्तों की कहीं कोई संगति नहीं है। यह तो जैनधर्म के परिपक्व घट पर अलग से लगायी गयी मिट्टी है। वह ठहरती नहीं है; लेकिन लगायी गयी है। अब क्या अन्धविश्वासों को समाप्त नहीं किया जाना चाहिये?

चा. : होना चाहिये, क्योंकि हमारे यहाँ तो वीतराग-आराधना की ही परम्परा है। इसमें अन्य देवी-देवताओं की उपासना-आराधना के लिए कोई छूट नहीं है। एकाध ग्रन्थ को छोड़ सामान्यतया किसी भी भट्टारक ने यक्ष-यक्षिणी की पूजा का समर्थन या प्रतिपादन नहीं किया है; लेकिन हुआ यह कि जब परिपाटी पड़ गयी, तब उसे बन्द नहीं किया गया।

ने. : लेकिन समय अब बदल गया है; क्या अब ऐसा कुछ नहीं किया जाना चाहिये कि इसे रोक दिया जाए ताकि अन्धविश्वास समाप्त किये जा सकें।

चा. : होना तो चाहिये; लेकिन जैसा कि मैंने पहले बताया है कि हम उस देश में रहते हैं, जहाँ अनेक संप्रदाय हैं, कई तरह के लोग हैं, जो चमत्कार द्वारा लोगों को प्रभावित करते हैं। हमारे धर्मानुयायी मुझसे कहते हैं कि क्या हमारे धर्म में ऐसे चमत्कार नहीं हो सकते?

ने. : उन्हें साफ-साफ बता देना चाहिये कि ऐसे चमत्कार नहीं हो सकते।

चा. : 'नहीं हो सकते' मात्र यह कह कर उन्हें सन्तुष्ट नहीं किया जा सकता। सामान्य व्यक्ति जिनमें तत्त्वज्ञान झेलने की शक्ति या क्षमता नहीं है, उन्हें यदि हम एक दम ऐसा कह दें, तो हो सकता है, वे हमारी दूसरी बातें भी न सुनें। ऐसे लोग तो प्राय: चमत्कार को ही नमस्कार करते हैं। यह विचारणीय है कि कई श्रावक अन्य संप्रदायों में चले गये। प्रश्न है : क्या हमारे धर्म में उन्हें रोकने की शक्ति नहीं थी? क्या हमारे यहाँ योग्य व्यक्ति नहीं थे? क्या हमारे सिद्धान्त समय की कसौटी पर खरे उतरने जैसे नहीं हैं?

ने. : बताना चाहूँगा कि चमत्कार एक बहुत कमज़ोर माध्यम है। इस कमज़ोर साधन पर यदि सिद्धान्त को खड़ा भी किया गया तो वह कितने दिन टिक पायेगा?

चा. : बात सही है।

ने. : बहुत कमज़ोर ज़मीन है यह।

चा. : लेकिन हम यह भी जानते हैं कि तीर्थंकरों के अतिशय होते हैं। जन्म के समय, केवलज्ञान की प्राप्ति के बाद। क्या इन अतिशयों का कोई महत्त्व या आधार नहीं है?

ने. : मान लीजिये, कि हम जिस कमरे में बैठे हैं, उसमें यदि कोई हमसे अधिक प्रभाव वाला व्यक्ति आ जाए, तो वह हमें और यहाँ के वातावरण को प्रभावित करेगा या नहीं? वैसे ही तीर्थंकरों के व्यक्तित्व ने प्रभावित किया था।

चा. : ठीक है, अतिशयों का महत्त्व है। और फिर रुचि और जिज्ञासा भी होती है कि इन अतिशयों को प्राप्त किया जाए, उनकी साधना-पद्धति को खोजा जाए।

ने. : फिर भी हमें 'चमत्कार' और 'अतिशय' में फर्क करना पड़ेगा; क्योंकि सामान्य व्यक्ति यही समझता है कि चमत्कार मन्त्र-तन्त्र से होता है। जब वह देखता है कि तीर्थंकर की भक्ति से ऐसा हो नहीं रहा है, लेकिन तीर्थंकर के द्वार पर बैठे यक्ष-यक्षिणी की पूजा से हो रहा है, तो वह अपना केन्द्रक बदल लेता है। श्री महावीरजी, तिजारा-जैसे अतिशय क्षेत्रों में यह सब क्या हो रहा है? हमारे यहाँ अब तीर्थंकरों की भक्ति गौण हुई है और देवी-देवताओं की भक्ति मुख्य बनती जा रही है। हमें इस पर बहुत गंभीरतापूर्वक विचार करना चाहिये।

चा. : हमारे तीर्थंकरों की जो साधना-पद्धति है, जिसे हमारे आचार्यों ने सुरक्षित रखा था, जो बीच में किसी कारणवश टूट या छूट गयी थी, अब उसे पुनरुज्जीवित करना चाहिये। हममें जो विकार हैं, वे संकट की वजह से ही हैं; हम उनसे भयभीत हो जाते हैं। साधना से, ध्यान से उन्हें टाला जा सकता है, लेकिन

अब वह पुरुषार्थ समाज की पकड़ से छूट गया है। हम उसे फिर से शुरू करें; ताकि व्यक्ति जब संकट में हो तब इस पद्धति को अपना कर वह अभीत और अविचलित बना रह सके और असीम सुख-शान्ति का अनुभव कर सके। वह आत्म-साधना में दृढ़ रह सके और आगत संकट को वरदान में बदल सके।

ने. : यही तो मैं कह रहा हूँ कि देवी-देवताओं की बजाय उस स्वयं में जो अकूत शक्ति छिपी है, उसकी ओर उसका ध्यान नहीं है । अब ऐसी किसी पद्धति का आविर्भाव करना पड़ेगा (चाहे वह ध्यान-पद्धति हो या आराधना-पद्धति हो) जिससे मनुष्य के भीतर जो अव्यक्त अमोघ शक्ति है, उसका बोध उसे हो सके।

चा : सही है । परावलम्बी जीवन की बजाय स्वावलम्बी जीवन की ओर अग्रसर होना आवश्यक है । हमें स्वयं अपनी शक्ति में खड़ा होना चाहिये।

ने. : स्वयं में स्थिर होना ही असली 'होना' है।

चा. : यह तो मूल पर वापिसी की बात हुई। वह तो होना ही है ।

ने. : मूल परम्परा में लौटना चाहिये और जो खोट या विकृति आ गयी है, उसे छोड़ना चाहिये।

चा. : बिलकुल सही है । इसके लिए तो हमें (साधु-श्रावक सब को) मिल कर एक व्यापक अभियान चलाना चाहिये । मुझसे कई लोग मिलते हैं। एक बात बताता हूँ । एक बड़े जैन सेठ थे; साईंबाबा के परम भक्त। कहने लगे महाराज, जैन साधु दूसरे साधुओं की तरह चमत्कार करके लोगों को अपनी ओर आकर्षित क्यों नहीं करते ? प्रश्न प्रासंगिक था । मुझे जवाब देना था । मैंने कहा – देखिये, चमत्कार तो कुछ ही दिन टिकने वाला है, हमेशा के लिए वह नहीं है । वह सब तो आज है, कल नहीं । यह सामान्य विषय है; किन्तु वे संकट हम पर हमेशा से हैं, कर्म की निर्जरा करने का जो मार्ग भगवान् आदिनाथ ने बताया है, उस पर हमें चलना है । भले ही हमें तत्काल कोई फल न मिले, कालान्तर में तो वह मिलेगा ही । इस पर सेठजी की प्रतिक्रिया थी कि कालान्तर को कौन देखता है? संकट तो अभी आया है इससे तो तुरन्त निपटना होगा। आप कुछ कीजिये । हमारे बहुत से लोग इधर-उधर हो जाते हैं, क्या हमारे पास ऐसा कुछ नहीं है, जिससे उन्हें रोका जा सके । आशय यह है कि सामान्य लोग तत्त्वज्ञान-प्राप्ति में न तो समर्थ होते हैं; और न ही उसमें कोई रुचि रखते हैं। इस बारे में कुछ ज़रूर सोचना चाहिये।

ने. : यह जो टोने-टोटके आदि हैं, उनमें हाथ की सफाई ज्यादा है । कुछ रासायनिक सूत्र (फार्मूले) ऐसे हैं, जिनसे सामान्य लोगों को चमत्कृत किया जा

सकता है; इसलिए हमें यह बहुत ही स्पष्ट रूप से कह देना चाहिये कि हमारे यहाँ यदि कोई चमत्कार है, तो वह 'भेद-विज्ञान' ही है । वही सब में बड़ी चमत्कारिक उपलब्धि है ।

चा. : यह सत्य है कि हमारी जो साधना-पद्धति है, वह उन्हें विदित नहीं है, या उन्हें उससे दूर रखा गया है । हमारा जो साधु-वर्ग है, उसे अब श्रावकों को वह सब देना/सिखाना चाहिये । उनके प्रयत्न और पुरुषार्थ में जो कमी है, उसे वह दूर करे, उसमें सुधार करे । जैसे बहुत सारे लोग आते हैं, और शिकायत करते हैं कि महाराज जाप के समय मन चंचल हो जाता है; भय लगने लगता है । भय और अस्थिरता के कारण उसे अधूरा छोड़ देना होता है । हमें उनकी उलझनों को समझ कर उन्हें स्थिर करना चाहिये ।

ने. : जिन तीर्थंकरों ने ब्रह्मचर्य की उत्कृष्ट साधना की/सिद्धि की, उनसे पुत्र की कामना या याचना करना कितना हास्यास्पद है ? एक अपरिग्रही से संपत्ति की याचना उसकी अवमानना, या अविनय नहीं है क्या ? मतलब यह कि हम हमारे मन्त्रों का लौकिक आकांक्षाओं की पूर्ति में उपयोग कैसे कर सकते हैं ? इस संबन्ध में आप क्या सोचते हैं ?

चा. : जो धर्म लोगों के तात्कालिक संकटों को दूर करने में समर्थ है, जो संकट को तत्काल टाल सकता है, या उसे दूर करने का कोई ठोस उपाय सुझाता है, उस ओर ही लोग आकर्षित होते हैं।

ने. : लेकिन यह भी सच है, भीड़ हमेशा नहीं रह सकती। आकर्षण कम होने पर वह छँट जाती है। चमत्कार के कारण जो भीड़ होती है, वह बिलकुल अस्थायी क़िस्म की होती है। क्या हम चमत्कार द्वारा कोई भीड़ इकट्ठा करना चाहते हैं? इस तथ्य पर भी हमें गंभीरता-पूर्वक विचार करना चाहिये कि समाज में कम संख्या में प्रामाणिक लोग हों, या अधिक संख्या में ग़लत लोग।

चा. : एक बात मैं सुझाव के रूप में कहना चाहूँगा कि जैन मन्त्र-पद्धति के क्षेत्र में कोई संशोधन (रिसर्च) अवश्य होना चाहिये।

ने. : खोज होनी चाहिये।

चा. : हाँ, इसमें हम विद्वानों को ले सकते हैं; जितने आचार्य हैं, भट्टारक हैं; वे सब मिल-बैठ कर इस विषय पर चर्चा कर सकते हैं कि हमें कौन-कौन से मन्त्रों की अनुशंसा करना है?

ने. : आप तो एक विश्व-तीर्थ के अधिष्ठाता हैं। वहाँ इस तरह का कोई प्रयत्न क्यों नहीं करते ? एक 'जैन मन्त्र-पीठ' बनाइये ताकि तन्त्र-मन्त्र इत्यादि की वैज्ञानिकता पर कोई प्रामाणिक प्रकाश डाला जा सके।

चा. : हर बात हम विज्ञान से सिद्ध नहीं कर सकते। इन सभी बातों को ध्यान में रख कर यदि कोई संगोष्ठी हो, तो इस दिशा में ठोस कुछ हो सकता है। वैज्ञानिक दृष्टिकोण हर व्यक्ति की समझ में नहीं आ सकता। आप कितना भी लिखें; लेकिन कुछ लोग ऐसे हैं, जो गुरु-मुख से आने पर ही उसे सत्य मानते हैं।

ने. : किसी लेखन को सभी लोग पढ़ें या पढ़ पायें, यह संभव भी तो नहीं है।

चा. : एक बार यदि गुरु ने स्वीकार कर लिया, तो वे उसे आदेश मान कर चलने लगते हैं। वह तो सरकारी ऑर्डर से भी अधिक महत्त्व रखता है उनके लिए; इसलिए हमारे जो पूज्य आचार्य हैं, उन्हें मन्त्र-शास्त्र पर गहन संशोधन करना या करवाना चाहिये और आधारभूत मन्त्रों को रख कर शेष की छुट्टी कर देनी चाहिये।

ने. : आपके इस प्रस्ताव पर तुरन्त विचार किया जाना चाहिये।

चा. : जैसा कि हमारा समाज साधु-वर्ग पर निर्भर है (मन्त्र भी वही देता है) अतः उससे कहा जाए कि जो आगम-विरुद्ध मन्त्र हैं, उनके विषय में अनुसंधान कर कोई तर्कसंगत निर्णय लिया जाए।

ने. : आपकी यह योजना काफी उपयोगी है। इसे जल्दी ही साकार करना चाहिये।

चा. : यह तो प्रस्ताव मात्र है।

ने. : यदि इसे योजनाबद्ध रूप में रखा जाए तो अच्छे नतीजे निकल सकते हैं। आप ही शुरू कीजिये।

चा. : मैं ज़ोर दे कर कहना चाहूँगा कि हमारे (श्रवणबेलगोला के) जो भट्टारक रहे हैं, उन्होंने मन्त्र पर इतना ज़ोर नहीं दिया जितना सिद्धान्त पर दिया है। मेरे जो दीक्षा-गुरु भट्टारक थे, वे ज्योतिषी थे; लेकिन उनकी मन्त्र-तन्त्र में कोई आसक्ति नहीं थी। उनसे पूर्व हुए भट्टारकों ने भी मन्त्रों पर ज़ोर नहीं दिया। जो स्थान उत्तर भारत में स्व. गणेशप्रसादजी वर्णी का है, वही दक्षिण भारत में स्व. नेमसागरजी का है। उनकी प्रेरणा से दक्षिण में कई विद्वान् बने। उनसे पहले के भट्टारक भी मन्त्र पर ज़ोर नहीं देते थे। कहना मैं यह चाहता हूँ कि झूठे मन्त्र-तन्त्र का युग अब लद गया है। इधर की तीन-चार पीढ़ियों में जो भट्टारक हुए हैं,

खासतौर से श्रमणबेलगोला और दक्षिण भारत में, उन्होंने मन्त्र-तन्त्र का प्रचार नहीं किया।

ने. : 'यति' और 'भट्टारक' में क्या फर्क है?

चा. : 'यति' श्वेताम्बर संप्रदाय में परिगणित हैं। वे केवल श्वेताम्बर संप्रदाय तक ही सीमित हों ऐसा भी नहीं हैं। भट्टारक-वर्ग धर्म-प्रचार के लिए नियुक्त था; जब कि यति-वर्ग मठ, गुरुकुल, शास्त्रों-का-संग्रह आदि काम्म देखता था। श्वेताम्बरो में यति भट्टारक-रूप में हैं।

ने. : मेरे विनम्र मत में मुनियों को तन्त्र-मन्त्र का उपयोग नहीं करना चाहिये। जब 'भट्टारक' को भी वैसा नहीं करना है, तो फिर मुनियों को क्यों करना है? क्या सोचते हैं इस विषय में आप?

चा. : सही है, मुनि तो साधना-रत रहते हैं। उन्हें यह सब क्यों करना चाहिये? किन्तु इधर कुछ परिवर्तन ज़रूर हुआ है; कुछ मुनिजन संकट दूर करने के लिए मन्त्र आदि देने लगे हैं।

ने. : जैनधर्म से वस्तुतः इनकी कोई मौलिक संगति नहीं है; साधुत्व से तो मन्त्र-तन्त्र की संगति बिलकुल बैठती ही नहीं है।

चा. : वे मन्त्र से सम्बद्ध हैं, तन्त्र से नहीं।

ने. : क्योंकि णमोकार मन्त्र है; तन्त्र नहीं है।

चा. : तन्त्र से उनका कोई संबन्ध नहीं है, मन्त्र से है; क्योंकि तीर्थंकरों की जो प्रतिमाएँ हैं, उनकी स्थापना के समय मन्त्र रखे जाते हैं।

ने. : लेकिन अन्धविश्वास इससे नहीं फैलना चाहिये।

चा. : अन्धविश्वास तो कहीं भी हो, उसे दूर करना ही है।

ने. : सम्यक्त्व का अर्थ ही यह है।

चा. : बात तो सही है; लेकिन हम सोचते हैं कि हमारे समाज में तीन प्रमुख वर्ग हैं : एक, विद्वत् वर्ग; दूसरा, धनिक-वर्ग; और तीसरा सामान्य वर्ग।

ने. : इस तरह का कोई वर्गीकरण किया जा सकता है।

चा. : विद्वत्-वर्ग; चाहे पण्डित हो, या सामान्य गृहस्थ, यदि उसकी तत्त्वज्ञान में रुचि है, तो वह किसी से प्रभावित नहीं होगा। जो धनिक-वर्ग है, वह अपना संकट धन से दूर करने का प्रयत्न करता है। तीसरा वर्ग सामान्य हैसियत का वर्ग है; वह न धनिक है, न विद्वान्; अतः उसी की समस्या मुख्य है।

ने. : वही बहुसंख्यक है।

चा. : हाँ, उसे समाज में यानी धर्म में अविचल बनाये रखने की क्या व्यवस्था है ?

ने. : आप ही बताइये ?

चा. : यह एक गंभीर समस्या है। वे इतना तत्त्वज्ञान तो प्राप्त कर नहीं सकते हैं। हाँ, उनके बच्चों को करवा सकते हैं। वे धन प्राप्त करना चाहते हैं; होड़ लगी हुई है; किसी-न-किसी मार्ग से धन प्राप्त करने की, अतः वह इस प्रयोजन की पूर्ति के लिए चाहे जिस संप्रदाय के तन्त्र-मन्त्र ले लेते हैं; लेने के लिए तैयार हो जाते हैं।

ने. : वे कुछ भी करने को तैयार होते हैं।

चा. : ऐसी स्थिति में हम किस तरह उनका स्थितिकरण कर सकते हैं ? क्या जो प्रचलित पद्धतियाँ हैं, उनमें-से वाममार्ग को हटा कर, जो सत्य मार्ग है उससे जुड़ कर ही कोई उपाय सुझा सकते हैं ताकि उनका मन स्थिर हो सके ? यदि हम इस वर्ग को छोड़ देते हैं तो समाज धीरे-धीरे क्षीण होता जाएगा। लुप्त भी हो सकता है।

ने. : विचार अच्छा है; लेकिन काम साहस का है।

चा. : कर सकते हैं। जिन गाँवों में पाठशाला नहीं हैं, वहाँ पाठशालाएँ खोलें; खोलें और लोगों को आने वाली शताब्दी के लिए तैयार करें। जैन सिद्धान्त के मूल स्वरूप को आधुनिकतम साधनों तथा उपकरणों के माध्यम से उन्हें समझाने की कोशिश करें। सारे देश में अच्छी/साधन-संपन्न पाठशालाओं के खोलने की आवश्यकता को हम टाल नहीं सकते।

ने. : आज स्थिति यह है कि हमारे जो विद्यालय, महाविद्यालय पहले से हैं, उन्हें तो हम अच्छी तरह से चला नहीं पा रहे हैं, फिर नयी पाठशालाएँ खोलने की बात तो 'काल्पनिक' मालूम पड़ती है।

चा. : जो जहाँ है, वहाँ वैसा कर सकता है। जहाँ धन है, वहाँ तो खोल ही सकते हैं। और जहाँ ज़रूरी है, वहाँ भी इन्हें खोला जा सकता है। कुछ जगह विद्यालय हैं, चल नहीं रहे हैं, शायद कार्यकर्ता नहीं हैं; लेकिन जहाँ हैं, वहाँ तो खोल ही सकते हैं।

ने. : कार्यकर्ता तो हैं ही नहीं।

चा. : तो सबसे पहले कार्यकर्ता तैयार करें। जैसे, लड़ाई के लिए सबसे पहले सैनिकों को तैयार करना होता है। इसमें सबका सहयोग मिलना चाहिये।

ने. : कोई रचनात्मक पहल होनी चाहिये। यह एक ज्वलन्त सामाजिक समस्या है; ऐसी कोई स्थिति जल्दी ही बननी चाहिये जब हम इस समस्या के व्यावहारिक पक्ष पर खुल कर विचार कर सकें।

चा. : एक बात है हमारे आचार्यों का प्रयत्न रहा है कि जैन समाज का जो सामान्य जन है, उसे किसी भी तरह अविचलित रखा जाए। उसकी उपेक्षा न हो। उसे किसी स्थिति में भुलाया न जाए। आज वह उपेक्षित है, अत: हमें उसकी समस्याओं को सहानुभूतिपूर्वक समझ कर उसकी सहायता करनी चाहिये।

ने. : क्या आपको स्वप्न आते हैं? स्वप्नों की सार्थकता क्या है? तीर्थंकर की माता को भी स्वप्न आये थे; क्या आपने इस पर कभी विचार किया है?

चा. : आते तो हैं। हमारे यहाँ सोलह स्वप्नों का महत्त्व है।

ने. : इससे भी अन्धविश्वास फैलता है। क्या हमारे यहाँ स्वप्न-विज्ञान के बारे में कुछ मिलता है?

चा. : विशेष कुछ नहीं है; लेकिन कहा गया है कि जो शुभाशुभ होने वाला है, वह स्वप्न में भी दिखायी देता है।

ने. : क्या आपका शकुन-अपशकुन में विश्वास है?

चा. : हाँ; लेकिन हर बात में नहीं। हर समय, हर चीज में शकुन-अपशकुन मानना ठीक नहीं है।

ने. : कर्म-सिद्धान्त शकुन-अपशकुन से जुड़ता नहीं है।

चा. : सर्वथा नहीं; दूसरा पहलू हो सकता है। उस पर भी हमें ध्यान देना ज़रूरी है। एक बात इस विषय में कहना चाहता हूँ कि जो ज्योतिष है, मन्त्र हैं; इन्हें एक तो मानना ही नहीं चाहिये और यदि मान लिया है तो फिर एकदम छोड़ना नहीं चाहिये। इसका मनोवैज्ञानिक प्रभाव होता है।

ने. : मैं तो मानता हूँ कि जैनधर्म के मूल सिद्धान्तों से इन सबका कोई सीधा रिश्ता नहीं है।

चा. : तीर्थंकरों का मार्ग भी यही है।

ने. : फिर इस मार्ग से हमें क्यों हटना चाहिये?

चा. : बिलकुल नहीं। □□

मिट्टी-जैसी नम्रता

एक बुजुर्ग ने एक पहलवान को देखा। वह गुस्से से भरा हुआ था और उसके मुंह से झाग निकल रहा था।

बुजुर्ग से पूछा : 'इस पहलवान को क्या हो गया है ?'

लोगों ने बताया कि किसी ने इसे गाली दी थी, जिसके कारण यह गुस्से से पागल हो रहा है।

बुजुर्ग बोला : 'यह दुष्ट हज़ार मन का पत्थर उठा लेता है और जरा-सी बात बर्दाश्त नहीं कर सकता है !!'

पहलवानी-की-डींग मत मार और बहादुरी का दावा छोड़ दे। जो मर्द दुष्टता के काबू में आ गया उसे औरत समझ।

किसी के मुँह पर मुक्का मार देना दिलेरी नहीं। हो सके तो उसका मुँह मीठा कर दे।

हाथी का माथा फाड़ देना बहादुरी नहीं। सच्ची बहादुरी इन्सानियत में है। आदम की औलाद मिट्टी से पैदा हुई है। उसमें यदि मिट्टी-जैसी नम्रता नहीं तो वह आदमी नहीं।

—शेख सादी

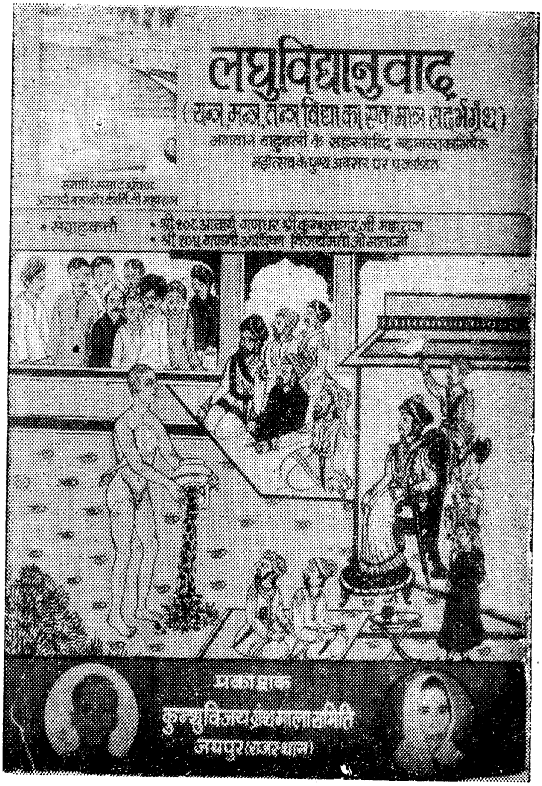

'लघुविद्यानुवाद' उर्फ कुन्थु-कथा-सागर

बकवासों का अन्तहीन सिलसिला; चिमगादड़ी गपों; अश्लील प्रसंगों तथा असंगत वर्णनों का अन्धा संकलन

→→

संकेत : लवि = लघुविद्यानुवाद; अ. = अध्याय, अधिकार; पृ. = पृष्ठ; दे. = देखिये।

इससे पूर्व कि हम 'लघुविद्यानुवाद' की विस्तृत चर्चा/समीक्षा करें
यह अवश्य देखें कि इसके संकलन की पृष्ठभूमि पर कौन-सी मानसिकता सक्रिय है?
क्या गरज़ है इस भारी-भरकम ग्रन्थ के संकलन-संपादन की?
ऐसे युग में, जिसमें विज्ञान की ओर लोगों का ध्यान है, उनकी दिलचस्पी है;
और बिना किसी प्रत्यक्षता, या कार्य-कारण-समीक्षा के किसी भी तथ्य या
निष्कर्ष को स्वीकार नहीं किया जा रहा है, इस भ्रम-और-भटकाव-से
ठसाठस-भरे ग्रन्थ का एक निर्ग्रन्थ द्वारा प्रणयन-प्रवर्तन आश्चर्य का
विषय है।

एक ओर १९८१ में, जबकि भगवान् बाहुबली की विश्व-विख्यात मनोज्ञ
प्रतिमा का महामस्तकाभिषेक हो रहा था, तब दूसरी ओर 'लवि-विमोचन-समारोह'
संपन्न हो रहा था!! माना, दक्षिण में भी तन्त्र-मन्त्र काफी प्रचलित रहे
हैं; किन्तु यह सब, जब ऐसे व्यक्तियों की ओर से आता है, जो पूरी तरह
निष्काम और मुमुक्षु हैं और जिन्हें संसार और उसकी सांसारिकता से
कोई सरोकार नहीं है; जिनसे हम अपेक्षा रखते हैं कि जो आत्मोन्नयन के
लिए प्रतिपल समर्पित रहें;
जिन्हें आगम-की-आँख (आगमचक्खू साहू) कहा गया है (तब उनकी आँखों से
हो कर हमें क्या देखना चाहिये : गर्भ-स्तंभन के नुस्खे या किसी चिमगादड़ की
पाँख पर मन्त्र-लेखन?), उनसे
क्या हम यह आशा करें कि वे बाँझ-के-गर्भ से किसी संतान के जन्मने का
यन्त्र निरूपित करेंगे, या ऐसा कोई बीसा, पंदरिया, हज़ारिया, या लखिया
यन्त्र देंगे, जिसे दुकानदार अपनी गद्दी के नीचे रख ले तो उसकी आमदनी
में निरन्तर इज़ाफा होता रहे (दे. पृ. २८९);
या किसी कुत्ते को उपवास कराने (आप ही सोचें कि क्या कोई कुत्ता उपवास
कर सकता है, उसे तो भूखों ही मारना होगा) और मन्त्री (मन्त्र-साधक) को
उपवास करने की राय देंगे (अ. ५, पृ. ५); या किसी के गले में मकड़ी का
जाला लटकवायेंगे (अ. ५, पृ. २४), या उल्लू की बीट मँगवायेंगे (अ. ५, पृ. ३),
या काले-से-गोरा-होने का 'प्रिस्क्रिप्शन' देंगे (अ. ५, पृ. २), या सुरापान
करने को कहेंगे (अ. ५, पृ. ८), या स्त्री-योनि में हाथी की लीद रखने
की सलाह देंगे (अ. ५, पृ. २३); या गाय के बायें सींग की अँगूठी बनाने
को कहेंगे (अ. ५, पृ. २२); क्या-क्या कहेंगे? मैं पूछता हूँ इन सबका
जैनधर्म/दर्शन की निर्मलताओं और भेद-विज्ञान की मनीषा से क्या वास्ता है?

जहाँ यह कहा जा रहा है कि यदि हमें आगम की दुरूहताओं और उसकी गूढ़ताओं को समझना हो तो साधु-के-नेत्र से गुज़र कर वहाँ तक अपनी पहुँच बनानी चाहिये; किन्तु जब उनकी आँखों पर तिलस्म का चश्मा चढ़ा हो तो हम कैसे आशा रख सकते हैं कि वे हमें 'षट्खण्डागम' के रहस्यों को समझा पायेंगे ?

हम सन्देहों-से-सिहर उठते हैं ऐसे में और हमें अंग्रेजी के एक लेखक मार्टिन गार्डनर की याद हो आती है जिसने स्यूडोसाइन्स (विज्ञानाभास/कूटविज्ञान) का पर्दाफाश किया है और कई 'क्रैंक्स' और 'शार्लटन्स' की कलई खोली है।
कठवैद्यगी या नीमहकीमी उस काठ की हाँडी की तरह होते हैं जो एक बार से अधिक चूल्हे पर नहीं चढ़ती –
'अध्यात्म और धर्म दोनों साधना के परम पवित्र क्षेत्र हैं जहाँ जन्तर-मन्तर के क्रैंकिश प्रतिपादन' हमें उलझन-शकशुबहा में डाल देते हैं खासतौर से तब जब हम विज्ञान के निष्कर्षों से सीधे-सीधे जुड़े होते हैं।

माना यह निखिल लोक रहस्यों की लीलाभूमि है; किन्तु यहाँ इस तरह की गपबाज़ी की गुंजाइश कतई नहीं है।
रहा होगा कोई ज़माना जब लोगों ने आत्मरक्षा-के-संकट में कुछ झक्की समझौते किये होंगे; किन्तु अब उस सब को निरन्तर रखने की कौन-सी ज़रूरत या लाचारी है ?

जब कहीं कुछ है ही नहीं, तब आकाश में थूकने, या सुई चलाने से क्या होगा ?
सहज ही एक सवाल ज़ेहन पर उठ खड़ा होता है कि जिस ग्रन्थ पर जैनधर्म का – विशेषत: 'दिगम्बर' शब्द का – ध्वज फहराया गया हो और जिसे किसी 'गणधर' और 'गणनी' ने संगृहीत किया हो तब क्या उसमें जैनधर्म/दर्शन की मौलिकताओं का क़त्ल होना चाहिये? क्या उसमें गृहस्थों को ऐसे परामर्श दिये जा सकते हैं कि नित्य चोरी करो और वह प्रकाश में नहीं आयेगी (दे. अ. ५, पृ. २) ? इसमें कहा गया है कि यदि विशाखा नक्षत्र में बबूल की जड़ को ला कर पास में रखा जाए तो नित्य ही चोरी करने पर वह प्रकाशित नहीं होती। मैं सहज ही पूछना चाहूँगा कि क्या इसके द्वारा गणधर/गणनीजी अचौर्य/अस्तेय की इबारतें बदलना चाहते हैं ? आखिर ये दोनों करना क्या चाहते हैं ? क्या आज के भ्रष्टाचार या कदाचार को बे-लगाम कर देना चाहते हैं ?

इसी तरह (अ. ५, पृ. १) पर कहा गया है कि यदि आर्द्रा नक्षत्र में अर्क-की-जड़ ला कर उसका तावीज़ बना कर रखा जाए तो झूठी बात सच होती है –

यहाँ यह स्पष्ट किया जाना चाहिये कि सत्य महा/अणुव्रत का क्या होने को है ?

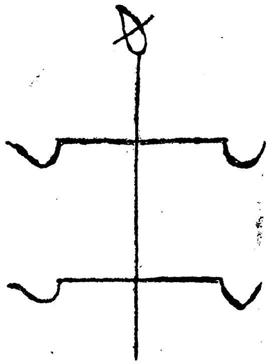

इसी प्रकार इसी अध्याय के सूत्र २ में कहा गया है कि यदि भरणी नक्षत्र में संखा होली की जड़ ला कर ताबीज़ में रखी जाए तो कोई भी स्त्री वश में हो सकती है – फिर ब्रह्मचर्य व्रत का क्या होगा ?

'नियमसार' की ६९ वीं गाथा की व्याख्या करते हुए प्रातः स्मरणीय श्रीमत्सहजानन्द महाराज ने लिखा है : मणोगुत्ती (मनोगुप्ति) महत्त्व की है जिसमें साधु को यदि वशीकरण करना भी है तो मन का वशीकरण करना है, किसी स्त्री का नहीं; क्योंकि न तो वह खुद ही वैसा कर सकता है और न ही किसी गृहस्थ को वैसी सलाह दे सकता है और न कोई तरकीब बता सकता है।

सहजानन्दजी ने 'नियमसार प्रवचन' (भाग ५, पृ. ३६) में कहा है – 'अरे आवश्यक काम कहते किसे हैं ? पहले आप इसी का निर्णय कर लो। 'आवश्यक' शब्द ही यह बता देगा कि आवश्यक काम क्या है ? आवश्यक शब्द में मूल शब्द है 'वश'। वश का नाम वश है। किसी के अधीन होने का नाम 'वश' है और न वशः इति अवशः। जो वश में न हो उस पुरुष का नाम 'अवश' है। जो अवश पुरुष का काम है उसका नाम है आवश्यक अर्थात् जिस परिणाम से जिस ज्ञान से यह आत्मा अपने आपके अधीन रहे निज सहज ज्ञानप्रकाश के अनुभवन से पूर्ण प्रसन्न रह कर स्वतन्त्र रहे उस परिणाम के करने का नाम ह 'आवश्यक'। और फिर 'वशीकरण' ही करना है तो किसी स्त्री या पुरुष का ही क्यों वह तो निश्चय मनोगुप्ति के अन्तर्गत मन का ही करना होगा" – तो क्या हम मानें कि 'लवि' का कथन जैनाचार के अनुरूप है और उसे गौरवान्वित करता है ?

क्या हम एक ऐसे ग्रन्थ को, जिस पर डेढ़ टन क्रीमवोव्ह कागज़ बर्बाद हुआ हो, जैन समाज में प्रचलन दे सकते हैं महज इसलिए कि वह एक मुनि/एक आर्यिका द्वारा संकलित है बिना यह देखे कि वह कैसा है ?

उसकी गुणवत्ता क्या है ? उसके प्रचारित होने पर कितने/कैसे अन्धविश्वास फलेंगे-पनपेंगे और जैनधर्म के कर्म-सिद्धान्त की कितनी फजीहत होगी ? 'लवि' का संपूर्ण परिचय इस प्रकार है –

नाम – लघुविद्यानुवाद
संग्रहकर्ता – श्री १०८ आचार्य गणधर श्रीकुन्थुसागरजी महाराज
श्री १०५ गणनी आर्यिका विजयमतीजी माताजी
प्रकाशक – कुन्थु-विजय (संग्रहकर्ताओं के नामार्द्धयुग्म से बना शब्द)
ग्रन्थमाला समिति, जयपुर राजस्थान
स्थिति – सजिल्द
मूल्य – रु. १०१-०० (डाक-व्यय अतिरिक्त)
एक प्रति का वज़न – १.५ किलोग्राम
कुल प्रतियों का वज़न – १.५ टन
खण्ड – ५
विमोचन-तिथि – २२ फरवरी १९८१.

इससे पहले कि हम 'लवि' की खण्डानुसार समीक्षा करें, हमें ग्रन्थारम्भ में दिये गये कुछ वक्तव्यों पर ध्यान देना होगा।

'सम्यग्ज्ञान-शिरोमणि' आर्यिका विजयमतीजी द्वारा श्रमपूर्वक संगृहीत इस ग्रन्थ को प्रथम शुभाशीर्वाद मिला है आचार्य श्रीविमलसागरजी का।
उन्होंने कहा है : 'द्वादशांग का एक अंग है, जो लौकिक कार्य के साथ-साथ पारलौकिक धर्मध्यान शुक्लध्यान का कारण बने'।
'लवि' कैसे बनेगा ? यह हम नहीं जानते; क्योंकि इसमें कहीं कुत्ते को पकड़ लाने को कहा गया है और कहीं चिमगादड़ को; कहीं ऊँट की हड्डी लाने का निर्देश है और कहीं शत्रु की विष्टा को मनुष्य की खोपड़ी में भरने का।

जहाँ एक ओर लाजवन्ती (मीमोसा) के पौधे पर, उसकी 'संवेदनशीलता' और उसकी 'थकान' पर विश्व-विख्यात वैज्ञानिक जगदीशचन्द्र बसु अपनी महत्त्व की खोज करते हों वहाँ 'लवि' में उसी लजालु पौधे के बारे में कहा गया है —'अथ लजालु कल्प। शनिवार की सन्ध्या को छुइमुइ (लजालु) का पेड़ हो, वहाँ एक मुट्ठी चावल, सुपारी रखे····फिर, जिसको वश में करना हो उसके घर में रखवा दें तो वह वश में हो जाता है' (अ. ५, पृ. १३)। यहाँ मनोगुप्ति की कोई चर्चा नहीं है – सिर्फ अन्धविश्वास को शाबासी दी गयी है, उसी की पीठ थपथपायी गयी है, जबकि जगदीशचन्द्र बसु ने 'मीमोसा' की संवेदनशीलता पर पौधे से स्वयं से दस्तखत करवाये हैं और उसमें प्राण हैं (पौधों में सर्वत्र हैं) इसकी प्रामाणिक घोषणा की है – आश्चर्य !!!

उपाध्याय मुनि भरतसागरजी ने कहा है :
'वर्तमान समय में श्री १०८ आचार्य
कुन्थुसागरजी महाराज ने लुप्त हुई इस
मन्त्र-तन्त्र विद्या को पुनः
जीवन्त बनाने के लिए बहुत उत्तम प्रयास कर
'लघुविद्यानुवाद, नामक पुस्तक का
सृजन किया है'।

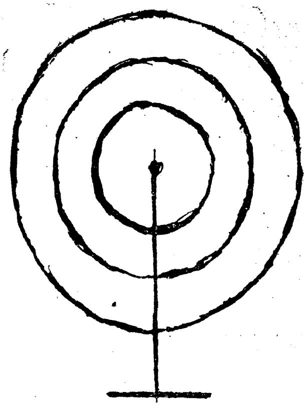

पाठक 'सृजन' शब्द पर ध्यान दें। आरंभ में उन्हें
'संग्रहकर्ता' कहा गया है।
'सृजन' से साधुत्व पर और अधिक गंभीर खतरे
मँडराने लगते हैं, क्योंकि
सृजन में अनुभूति सन्निहित है और गर्भित है साझेदारी। तब प्रश्न उठेगा कि क्या इनमें-से कुछ या सब प्रयोग उनके स्वानुभूत हैं ?

सिद्धसागरजी ने किन्तु एक विनम्र असहमति का आभास दिया है। उन्होंने अपने वक्तव्य में लिखा है : 'यह ग्रन्थ समाज के लिए अनिषिद्ध विषयों में बहुत उपयोगी रहेगा। यह 'अनिषिद्ध' क्या है; इसका सीधा-सा अर्थ तो 'स्वीकृत' ही हुआ। ऐसा कह कर उन्होंने अपने भीतर से कोई बात कहना चाही है; किन्तु शब्द गले तक आ कर अटक गये हैं। भाषा और मर्यादा ने उनका पूरा-पूरा साथ दिया है वर्ना वे जो कहना चाहते थे वह कहा गया होता। इधर स्वयं संग्रहकर्ता का वक्तव्य दृष्टव्य है। उनके शब्द हैं : '.....अनेक जगह अशुद्ध द्रव्यों का प्रयोग भी आया है लेकिन क्या करें यह मन्त्रशास्त्र है। इसमें मैंने अपनी ओर से इस ग्रन्थ में कुछ नहीं लिखा है, जिस प्रकार का वर्णन हमको मिला उन सबका उल्लेख करना पड़ा है। हमारा अपना कोई स्वतन्त्र भाव नहीं है। ...इस प्रकार का ग्रन्थ जैन परम्परा में आज तक प्रकाशित नहीं हुआ है। हस्त-लिखित तो पाया जाता है किन्तु वो भी प्रक्षेप रूप में है। इस एक ही ग्रन्थ में गागर में सागर भरने कहावन रूप प्रयास किया है। मुझे ग्रन्थ के संग्रह करने में बहुत परिश्रम करना पड़ा है। ...प्रस्तुत मन्त्रशास्त्र में मारण उच्चाटन आदि हानि पहुँचाने वाली क्रियाएँ भी वर्णित हैं उन क्रियाओं में साधक किसी भी प्रकार हाथ न लगावें। हमारा वीतराग धर्म अहिंसामयी है। जो मारण कर्म उच्चाटन कर्म दूसरों को हानि पहुँचाने की क्रिया करता है वह महान् पातकी कहलाता है, और सबसे अधिक हिंसा के दोष का भागी होता है।'

यह है संग्रहकर्ता के वक्तव्य का एक हिस्सा, जो कई 'लाचारियों' और 'विरोधाभासों' का दस्तावेज़ है।

जब 'लवि' में अशुद्ध द्रव्यों के प्रयोग की बात दर्ज है और मारण-उच्चाटन आदि हैं तब यह बिलकुल तय है कि यह द्वादशांगवाणी नहीं है। तय है कि इसे किसी जैनाचार्य या मुनि ने भी नहीं कहा है; क्योंकि किसी भी युग का कोई भी जैनाचार्य इस तरह के मन्त्रों का न तो निरूपण करेगा और न ही आकलन।

असंदिग्ध है कि यह सब जैन परम्परा में बाहर से आयातित अपमिश्रण है। इस सबसे जैन तत्त्वदर्शन और आचार का रेशे-भर भी रिश्ता नहीं है। यह सब वैसा ही है जैसे ख-पुष्प या खरगोश-के-सिर-के-सींग। यह पूरी कोशिश पर भी जैनत्व से जुड़ता नहीं है। तिस पर ऐसे शब्दों का प्रयोग – 'लेकिन क्या करें यह मन्त्रशास्त्र है' 'उल्लेख करना पड़ा है' आचार्यश्री के असन्तुलित व्यक्तित्व का द्योतक है।

मैं नहीं मानता कि किसी निर्ग्रन्थ साधु के सामने, जो सम्यक्त्व-की-डगर-पर हो, या जो किसी 'सम्यक्त्व-शिरोमणि' के सहवर्तन में कार्यरत हो, कोई लाचारी हो सकती है। जब दिन-की-धूप की तरह देखा जा सकता है कि इन सब असंबद्ध तथ्यों की जैनधर्म-की-मूल-संरचना से कोई संगति नहीं है, तब फिर इनका आकलन क्यों किया गया ? आकलन माना स्व. आचार्य श्रीमहावीरकीर्तिजी ने किया होगा और 'लवि' की तमाम 'परमनिधि' उनके 'गुटकों' और 'नोटों' के रूप में सुस्त पड़ी थी – किन्तु ज़रूरी कहाँ था कि इस भानमती-के-पिटारे को इस तरह सड़क पर डाल दिया जाए और जैनधर्म के पास गोबर-ही-गोबर है, लीद-ही-लीद है इसका ढिंढोरा पीटा जाए ? यह कहना कि 'यह भी भगवान् की वाणी है', संपूर्ण जैन वाङ्मय के उजले चेहरे पर कालिख पोतने की तरह है। पहले आकलित करना और फिर कहीं-कहीं इसके उपयोग न करने की सलाह देना कौन-सी साधुई दूरदर्शिता या बुद्धिमानी है ?

तय है कि आकलक, चाहे वह कितना ही बड़ा क्यों न हो, ऐसे काम से जो उसके पदानुरूप नहीं हैं, तुरन्त बौना हो जाता है और उससे उत्पन्न खतरों और दायित्वों से बच नहीं सकता। चाहे जितनी सावधानियों का उल्लेख कर दिया गया हो, कितने ही खुलासे दे दिये गये हों; किन्तु वे सब इसलिए बेमानी हैं चूँकि मनोविज्ञान यह है कि 'निषिद्धियों का ही उल्लंघन सर्वाधिक होता है'।

महत्त्वपूर्ण असल में यह है कि आज जिन
साधनों से जैनधर्म की विमलताओं
का प्रचार-प्रसार किया जाना चाहिये था,
उन्हीं के द्वारा उसकी इमेज (छवि)
को *दूषित किया गया है।*
हम कानजी स्वामी को बदनाम कर रहे हैं,
उनके साहित्य को सरस्वती-
भण्डारों और मन्दिरों से निकाल फेंक रहे हैं;
किन्तु 'लवि - जैसे छद्मग्रन्थों'
का क्या होगा ? क्या हम इनके द्वारा 'स्यूडोजैनिज्म'
का प्रचार
करना चाहेंगे ?

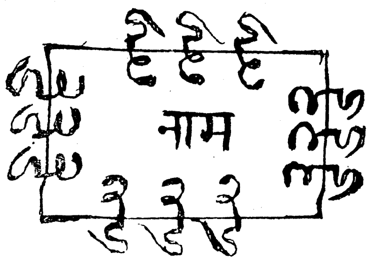

बहुत साफ-सुथरी और सीधी-सी बात है कि जब कोई व्यक्ति किसी वस्तु, सूक्ति या अन्य कुछ का संग्रह करता है तब वह इसीलिए न यह सब करता है कि उसे वह प्रिय है और उसकी उसके लक्ष्य से कहीं-कोई संगति है ? बिना रुचि और निजी विश्वास के व्यर्थ ही कोई पायजामा उधेड़े, और सीये यह संभव ही नहीं है।

स्पष्ट है कि जब 'गणधरवर्य' और 'गणनीवर्या' ने इस महत्त्व के ग्रन्थ का आकलन, संग्रहण, या संपादन किया है, तब तन्त्र-मन्त्र में उनकी कोई दिलचस्पी न हो यह असंभव है; किन्तु इतना तो सहज ही हो सकता था कि रुचि-की-यह-नहर जैन मन्त्र-शास्त्र से जल ग्रहण करती, शाबर तन्त्र से उसने ऐसा क्यों किया ?

यदि ध्यान से देखा जाए तो 'लवि' में प्रयुक्त बहुत सारे शब्द अरबी-फारसी के हैं। यथा – बन्दी/बन्दीखाना (फा.), हाकिम (अ.), पेशाब (फा.), पलीत (फा.), तावीज़ (तअवीज़, फा.), फौज़दारी (अ. फा.), दीवानी (फा.), हज़ार (फा.), नज़र (अ.) आदि।

इसका मतलब यह है कि इन सारे (इनमें-से-कुछ) मन्त्रों का संबन्ध मध्यकाल से है; इससे पूर्व जो भी जैन मन्त्रशास्त्र था वह अध्यात्म-के-धरातल पर खड़ा था, उसका मारण उच्चाटन विद्वेषण जैसे कुकृत्यों से कोई सरोकार नहीं था।

संपूर्ण जैनागम आत्मोत्थान के लिए है, उसका लौकिकता से कोई सीधा संबन्ध नहीं है;

अत: या तो हम यह करें कि जैनधर्म/दर्शन से बाक़ायदा त्यागपत्र दे दें या फिर उसे उसकी बुनियाद में स्वीकार करें। ट्वाइलाइट/द्वाभा/द्विविधा में जीना जैनाचार में संभव नहीं है।

यहाँ तो हर पहलू असंदिग्ध है। तर्क और सम्यग्ज्ञान की कसौटी पर कसे हुए स्वर्ण को ही जैनाचार्यों ने मंजूर किया है, उन्होंने किसी मुलम्मे को कभी स्वीकार नहीं किया; इसीलिए

यह कह कर बचा नहीं जा सकता कि 'करना पड़ा'' क्या किया जाए यह मन्त्रशास्त्र है'। हमें चाहिये कि जैन मन्त्रशास्त्र में जो अपमिश्रण हुआ के विभिन्न कालखण्डों में, उसकी सावधान जाँच-पड़ताल करें और फिर पूरे साहस से/अभय से विशुद्ध शास्त्र को प्रकाश में लायें।

मैं पूछता हूँ कि क्या मोक्षमार्ग से बड़ा कोई मन्त्र हो सकता है ? जिस लौकिकता को छोड़ कोई मुनि, ऐलक, क्षुल्लक या आर्यिका का वेश धारण करता है, क्या उसे फिर 'लवि' में वर्णित उपायों की अनुमति मिल सकती है ?

इस पड़ाव पर, हमारा ध्यान, आचार्य शुभचन्द्र के जीवनवृत्त और उनकी बहुमूल्य कृति 'ज्ञानार्णव' पर जाता है।

कहा जाता है 'शतकत्रय' के रचयिता भर्तृहरि शुभचन्द्राचार्य के लघुभ्राता थे। वे राजा मुंज के भी अनुज थे। भर्तृहरि बड़े पराक्रमी और प्रतिभावान् थे। उनका पराक्रमी/मेधावी होना उन्हें बड़ा महँगा पड़ा। राजा मुंज ने देखा कि कहीं ऐसा न हो कि भर्तृहरि के कारण उन्हें राज्य से हाथ धोना पड़े, अत: उन्होंने भर्तृहरि को राज्य से युक्तिपूर्वक निष्कासित कर दिया। भर्तृहरि बारह वर्ष की वय में ही तापस बन गये और बारह वर्षों तक दुर्द्धर तपस्या करते रहे फलस्वरूप उन्हें स्वर्णरस-की-सिद्धि हुई और वे मालामाल हो गये।

एक बार जब वे निकटवर्ती विजन वन से निकल रहे थे तब उन्होंने देखा कि उनका छोटा भाई शुभचन्द्र निर्वस्त्र खड़ा है और कोई तपस्या कर रहा है। उन्हें सहज ही लगा कि उसकी यह तपस्या स्वर्णरस-सिद्धि के लिए ही होगी। वे दौड़े-दौड़े शुभचन्द्र के पास गये। शुभचन्द्र दिगम्बर मुनि हुए थे और एक उत्तप्त शिलाखण्ड पर मौन साधना में खड़े थे। भर्तृहरि लौट गये; किन्तु उन्होंने अपने कुछ शिष्यों के साथ एक घड़ा स्वर्णरस-सिद्धि रसायन का उन्हें यह कहलवा कर भेजा कि इसके उपयोग से

वह चाहे जितना सोना बना सकता है। उसे इस तरह निरम्बर, दीन-हीन अवस्था में अब नहीं रहना है;

किन्तु यह क्या शुभचन्द्र ने 'स्वर्णरस-सिद्धि' को लौटा दिया। दूसरा घड़ा भेजा गया। वह भी वापिस। तीसरा भी वापिस। भर्तृहरि बड़ी उलझन में पड़ गये। इस बार वे स्वयं चार घड़े ले कर गये और बोले – भाई, ऐसी तपस्या से क्या लाभ जिससे तुम कंगाल-के-कंगाल बने रहे? एक वस्त्रखण्ड भी तुम्हारे पास नहीं है। इधर देखो मैंने पूरे बारह वर्ष प्रखर तप किया है और इस दुर्लभ 'स्वर्णरस-सिद्धि' को उपलब्ध किया है। यह विलक्षण है। इससे चाहे जितना सोना हम बना सकते हैं। मुनि शुभचन्द्र गहन साधना में डूबे थे; किन्तु अपने भाई का भ्रम तोड़ना चाहते थे; अतः उन्होंने अपनी पगतली के नीचे से एक चुटकी धूलि उठायी और पास के शिलाखण्ड पर छोड़ दी। देखते-देखते शिलाखण्ड स्वर्णखण्ड में बदल गया। भर्तृहरि की आँखें चौंधिया गयीं। शुभचन्द्र मुनि बोले – 'मुझे यह रसायन नहीं आत्मबोधि-की-रसायन चाहिये। उसके सम्मुख इसका कोई मूल्य नहीं है। यह तो सहज/सर्वत्र उपलब्ध है; किन्तु वस्तुस्वरूप को जानना सहज नहीं है। मैं उसी की खोज में हूँ।'

भर्तृहरि स्तब्ध। वे शुभचन्द्र के चरणों में झुक गये। उनका सारा अहंकार चकनाचूर हो गया। उन्हें खयाल आया कि लौकिक संपदाओं और समृद्धियों के आगे का जगत् ही महत्त्वपूर्ण है। यह 'स्वर्णरस-रसायन' व्यर्थ है। नगण्य है। 'अध्यात्म-रसायन' के आगे दुनिया की सारी रसायनें बेमानी हैं। वे दिगम्बर मुनि हुए और इस तरह उन्हें वह सब मिला जो भेदविज्ञान का चरमबिन्दु है।

इसी सन्दर्भ में मेरे सामने खुला हुआ है 'लघुविद्यानुवाद' का वह पृष्ठ (अ. ५, पृ. २५) जिस पर पूज्यपाद स्वामी द्वारा प्रतिपादित सोना बनाने की विधि दी गयी है; चाँदी/हीरे बनाने की तरकीबें दी गयी हैं। एक तो 'पूज्यपाद' कभी ऐसा कर नहीं सकते, क्योंकि करते ही वे 'अपूज्यपाद' हो गुज़रेंगे; दूसरे आचार्य कुन्थुसागरजी इन तमाम विधियों को, जो प्रयोग के तल पर नितान्त असफल सिद्ध होंगी, जीवन्त कर कहना या करना क्या चाहते हैं – क्या जैन समाज में तृष्णा बोना चाहते हैं या जैनत्व को किसी तेज़ाब में डालना चाहते हैं? कीमिया (केमिस्ट्री) में यह सब है—यह तो पार्थिव रहस्यों की खोज़बीन है; आखिर भूगर्भ से प्राप्त स्वर्ण किसी रासायनिक प्रक्रिया का ही तो परिणाम है –

जानना मात्र उस रहस्य को है जो प्रकृति-की-अदृश्य/असूर्यम्पश्य पर्तों में छुपा हुआ है; किन्तु आचार्यश्री इस बात को ठीक-ठीक जान लीजिये कि इस तमाम का अध्यात्मशास्त्र से कोई सरोकार नहीं है। वहाँ यह अत्यन्त अकिंचन/महत्त्वहीन/नगण्य है। ध्यान रखें— जैनाचार तृष्णा को, तन को बढ़ाने के लिए नहीं है; वह इन्हें जीतने और कसने के लिए हैं।

अच्छा होता इतना कागज़, इतनी स्याही, इतना श्रम, और इतना पराक्रम किसी परमज्योति को पाने तथा औरों को उस ओर पुरस्सर करने में लगाया जाता –

यह तो अपव्यय है, आपराधिक फिजूलखर्ची; हाँ, 'लवि' के प्रकाशन से एक सबक ज़रूर मिलता है कि जैनों की एक ऐसी 'केन्द्रीय पुस्तक प्रकाशन समिति' होनी चाहिये जो किसी भी ग्रन्थ के प्रकाशन से पूर्व उसकी छानबीन करे और फिर प्रकाशन की अनुमति दे। ग्रन्थ/कृति चाहे किसी मुनि की हो, किसी आर्यिका की हो, किसी पण्डित की हो, किसी श्रावक की हो जब तक उक्त समिति उस पर अपनी 'स्वीकृति/ओ.के.' की मुहर नहीं लगा देती, उसे प्रकाशनीय नहीं समझा जाना चाहिये।

तो हम विचार कर रहे थे 'लवि' के कीमियागर नुसखों पर कि सोना, चाँदी और हीरे कैसे बनाये जा सकते हैं? क्या यह सब किसी श्रमण को शोभा देता है? क्या हम किसी साधु के इस कृतित्व को शुद्ध/निष्कलुष श्रमणत्व की कोटि में ले सकेंगे? क्या यह सिर्फ 'श्रमणाभास' नहीं है? क्या इससे श्रमणाचार की धौली चादर पर कोई अमिट दाग नहीं पड़ता? क्या इस तरह के ग्रन्थों के प्रकाशन से लोक, देव, गुरु मूढ़ताओं का डंका नहीं बजता – जैनधर्म का मुँह काला होने में क्या कोई कसर बच रहती है?
'लवि' का एक-एक शब्द ऐसा है जो जैनधर्म को अपकीर्तित करता है (आरंभ के कुछ पृष्ठों को छोड़ कर)।

ध्यान से देखने पर हमें पुस्तकें चार तरह की दिखायी देती हैं –
एक : वे जो ऊपर से नरम दूब-सी लगती हैं, किन्तु भीतर से कर्कश होती हैं यानी ऊपर से भली लगती हैं, भीतर से मैली होती हैं;
दो : वे जो ऊपर से मैली मालूम देती हैं; किन्तु भीतर से भली और स्वच्छ होती हैं;

तीन : वे जो ऊपर से भी मैली होती हैं और भीतर से भी मैली और अस्वच्छ होती हैं;

चार : वे जो ऊपर से भी भली होती हैं और भीतर से भी भली, भोली ।

'लवि' पहली श्रेणी में आने वाला ग्रन्थ है । यह ऊपर-ऊपर भला है; किन्तु अन्दर-अन्दर मैला है । यह एक ऐसा ग्रन्थ है जिसे हम 'शैतान का-दस्तावेज़' कह सकते हैं ।

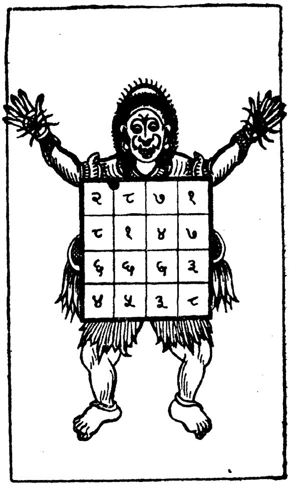

क्या मक़सद है हमारा ऐसी किताबों के प्रकाशन से ? ताज्जुब तब हुआ जब यह गणितज्ञ टोडरमलजी के नगर से प्रकाश में आयी; एक ऐसे नगर से जहाँ चैनसुखदास-जैसा रूढ़िमुक्त और क्रान्तिनिष्ठ व्यक्ति हुआ और वर्षों क्रान्ति का शंखनाद करता रहा । क्या ऐसे नगर से ऐसी 'कूड़ा किताब' का प्रकाशन लज्जाजनक नहीं है ?

क्या हम इस प्रकाशन से सबक ले कर विगत २—३ दशकों के संपूर्ण जैन वाङ्मय का एक व्यापक और अनासक्त सर्वेक्षण नहीं करना चाहेंगे ताकि उन किताबों का पता लगा सकें जिनकी जैन धर्म और दर्शन की अन्तरात्मा से कोई संगति नहीं है ?

एक दृष्टिकोण यह भी हो सकता है कि हम अपनी समकालीन पीढ़ी को पढ़ने-पढ़ाने की पूरी छूट दें और सब प्रकार की पुस्तकें उपलब्ध करायें ताकि वह खुद फैसला कर सके कि उसे कौन-सी पुस्तकें पढ़ना है और कौन-सी नहीं ?

दोनों राहें सुखद हैं; किन्तु दुःखद सिर्फ यह है कि न तो हम इस ओर पर हैं और न ही उस छोर पर; अधर में कहीं हैं; अतः हमें परिवर्तन के इन संवेदनशील क्षणों में बड़ी सावधानी और सतर्कता बरतनी होगी ताकि अराजकताएँ घटें और एक निर्मल/सन्तुलित ज्ञानधारा प्रवाहित हो; क्योंकि इस तथ्य को प्रायः सभी जानते हैं कि जैनधर्म चमत्कारों में विश्वास रखने वाला धर्म नहीं है, वह एक ऐसा धर्म है जिसकी आस्था स्वाभाविकताओं में हैं; उनकी खोज और पहिचान में है ।

'लवि' की विषय-वस्तु शाबर तन्त्र-शास्त्र से आकलित है; किन्तु प्रश्न यह है कि उसे जैन मन्त्र-शास्त्र के अन्तर्गत स्वीकृति कैसे मिल गयी? माना, हमारी मध्ययुगीन पण्डित/साधु-पीढ़ी ने कुछ रक्षात्मक धार्मिक समझौते किये थे, किन्तु वे सतही थे उनका संबन्ध हमारी मौलिकताओं से नहीं था। वे इसलिए हुए शायद कि 'आम जैन' की विचलित मानसिकता को कोई सहारा देना ज़रूरी हुआ था – यही कारण संभवतया था कि हमने रातोंरात हिन्दू/इस्लामी/शाबर तन्त्र-शास्त्रों के नुसखे अपना लिये और आम जैन को संतुष्ट कर लिया, उसे रूठने नहीं दिया। उन दिनों चिकित्सा-शास्त्र का विकास भी अधिक नहीं हुआ था, जो पहले कभी हुआ था वह भी विस्मृत या लुप्त हो चुका था अतः तन्त्र – प्रयोगों ने उसका स्थान भी ले लिया। यौन समस्याएँ भी उठ खड़ी हुई थीं, उनके सस्ते समाधान भी तन्त्रशास्त्र में-से खोज़े गये। कई शुभाशुभ सामाजिक समस्याएँ भी सिर उठा चुकी थीं, उनके हल भी इसी शास्त्र में-से ढूँढ़े गये। स्त्री-वशीकरण, पुत्रोत्पत्ति, बाँझ का अशुभ माना जाना (यदि अलस्सुबह किसी बाँझ का मुँह देख लिया जाए तो वह पूरा दिन खराब जाता है) जैसी बेहूदा समस्याएँ; बनिज-ब्यौपार की उलझनें, दुश्मनों से जूझने और विजय पाने की समस्याएँ, बंदीखाने से छूटने का सवाल; फसलों की अरक्षा, टिड्डी-दलों के आक्रमण, ढोरों को बीमारियाँ कई आर्थिक/सामाजिक/वैयक्तिक समस्याओं का दबाव समाज पर था – जिसका एक मात्र हल तन्त्र-शास्त्र ने प्रस्तुत किया नतीजतन अन्धविश्वास बढ़ते गये और सांयोगिक सफलताओं के कारण मन्त्र-तन्त्र की जड़ें पाताल-तक-गहरी और मजबूत होती गयीं।

मध्ययुगीन मन्त्र-तन्त्र/टोने-टोटकों की पृष्ठभूमि पर सिद्ध-नाथ पंथ की परम्पराएँ थीं अतः अन्धविश्वासों पर धर्म की मुहर लगती गयी और आम आदमी ने विज्ञान/शिक्षा की अनुपस्थिति में, भय और अरक्षा के वातावरण में, इन्हें सिर झुका कर स्वीकार कर लिया।

पता नहीं किस दुर्भाग्यपूर्ण घड़ी में जैनधर्म के वैज्ञानिक ढाँचे में भी तन्त्र-मन्त्र और अन्धविश्वासों ने घुसपैठ कर ली।

अपने सुप्रसिद्ध उपन्यास 'चारु चन्द्रलेख' में आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है: "गोरखनाथी सम्प्रदाय में दो जैन योगियों के सम्प्रदाय अब भी अन्तर्भुक्त हैं। एक को नीमनाथी (नेमिनाथी) कहते हैं और दूसरे को पारसनाथी (पार्श्वनाथी)। साधना-साहित्य के विद्यार्थियों के लिए यह एक कुतूहल का विषय रहा है कि जैन तीर्थंकरों के नाम पर अपना परिचय

देने वाले सम्प्रदाय नाथ-परम्परा में कैसे अन्तर्भुक्त हो गये। जैन अनुश्रुतियों से इस बात का समर्थन हो जाता है कि पारसनाथ के सामने विमर्दित रस (पारा) अमोघ हो जाता है, पर बहुत-सी गुत्थियाँ इस अनुश्रुति से सुलझने के स्थान पर उलझ जाती हैं।"

'लघुविद्यानुवाद' में (अ. ५, पृ. ६) 'नागार्जुनप्रणित अन्तर्ध्यान विधिः' का वर्णन

आया है। सवाल उठता है यह नागार्जुन कौन था? नागार्जुन कई हुए; किन्तु तय है कि इनमें-से जैन एक भी नहीं था। रसायनी नागार्जुन, तान्त्रिक नागार्जुन और दार्शनिक नागार्जुन –

कुछ लोगों ने इन तीनों को अभिन्न मान कर उन्हें तान्त्रिक बौद्ध साधना का प्रवर्तक माना है। श्री सच्चिदानन्द भट्टाचार्य द्वारा प्रणीत भारतीय इतिहास कोश के पृ. २१८ पर नागार्जुन का परिचय इस तरह उपलब्ध है – "एक प्रख्यात हिन्दू रसायनशास्त्र का विद्वान्। उसका समय सातवीं-आठवीं शताब्दी माना जाता है। उसके प्रसिद्ध ग्रन्थ 'रसरत्नाकर' में धातुओं के संशोधन और उनके गुण-दोषों का निरूपण है, जिसमें पारे का उल्लेख 'पारद प्रयोग' सबसे महत्त्वपूर्ण है। अरबों ने नागार्जुन के ग्रन्थों से ही रसायन-विद्या का ज्ञान प्राप्त किया था।"

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार मेरुतुंगकृत 'प्रबन्ध चिन्तामणि' में एक अधभूली-सी कथा आयी है। 'चारु चन्द्रलेख' के 'कथामुख' में उन्होंने इसका उल्लेख किया है; तदनुसार नागार्जुन भूपलदेवी और पाताल-पाल वासुकि नाग का पुत्र था। वासुकि ने ही उसे समस्त औषधियों का ज्ञान दिया था; जिसके प्रभाव से उसे अनायास ही महासिद्धि प्राप्त हो गयी। नागार्जुन शातवाहन राजा का कलागुरु था; किन्तु उसे एक कमी बराबर सालती थी। वह 'गगनगामिनी विद्या' से वंचित था। इस विद्या को सीखने के लिए वह महासिद्ध जैनाचार्य पादलिप्तक (पालित्तिय) के पास गया और बड़े अकिंचन भाव से उनकी सेवा करने लगा। कहा जाता है कि पादलिप्ताचार्य अपने पैरों में १०८ औषधियों का लेप लगा कर गगनगामी हो जाया करते थे।

नागार्जुन पादलिप्तक का परम भक्त था।

वह बड़े प्रेमभाव से उनके चरण धो कर चरणोदक का आचमन किया करता था। स्वाद से उसने जाना कि लेप में १०७ कौन-सी औषधियाँ थीं; किन्तु वह १०८ वीं औषधि का पता नहीं लगा सका। उसने १०७ औषधियों का लेप तैयार किया और उसे लगा कर मोर-मुर्गियों की तरह थोड़ा-थोड़ा उड़ने लगा। उड़ने के इस प्रयत्न में वह एक गर्त में जा गिरा और बुरी तरह लहुलुहान हो गया। पादलिप्त ने जब अपने शिष्य के बारे में यह सब सुना तब वे उसकी प्रतिभा से बहुत प्रभावित हुए और बोले – 'यदि तू इन १०७ औषधियों को साठी चावल के पानी में पीस कर पैरों में उससे तैयार लेप को लगाये तो आकाश-गमन संभव है'। इसी तरह उसने कभी गुरुमुख से यह सुना कि यदि कोई समस्त स्त्री-लक्षणों से युक्त युवती पार्श्वनाथ की रत्नमूर्ति के सामने अपने हाथों से दीर्घकाल तक पारद-मर्दन करे तो कोटिबेधी रस सिद्ध होता है। कथा लम्बी है और नागार्जुन द्वारा कोटिबेधी-रस-की-सिद्धि-तक जाती है, जिससे यह सूत्र मिलता है कि इतिहास में बहुत दूर कहीं जैनधर्म का हिन्दू तन्त्र-परम्परा से स्पर्श हुआ था और वह आध्यात्मिक सिद्धियों को छोड़ लौकिक सिद्धियों/महासिद्धियों के प्रपंच में फँस गया था।

'लवि' का नागार्जुन यही तान्त्रिक है।

'लवि' के पृष्ठों में टोनहाई के कई किस्से यानी नुसखे हैं। ये सारे बड़े अजीबो-गरीब हैं। उदाहरण के लिए–

किस्सा नं. १ (नागार्जुन से संबन्धित)–

'सफेद सुरमा १, सेवार कंटक १, सोनामुखी १, जेठी मध १ ये चारों वस्तु बराबर ले कर कन्या के प्रथम मासिक धर्म के रक्त में गोली बनावे, उस गोली को सोना चाँदी के ताबीज में डाल कर ताबीज को मुँह में रखे तो मनुष्य अदृश्य होता है।'

ध्यान दें। इस नुसखे का संग्रह एक दिगम्बर जैन साधु/साध्वी ने किया है। हम ऊपर कह आये हैं कि जैन साधु को 'आगम-चक्षु' कहा गया है। मासिक धर्म का स्राव हेय है या ग्राह्य? क्या इसे मुँह में रखने की स्वीकृति जैनाचार में कहीं उपलब्ध है? पता नहीं इस तरह की नाना बीभत्सक और मनोरंजक गपों से 'लवि' को क्यों भर दिया गया है?

किस्सा नं. २ (अ. ५, पृ. ७)–

(शेष पृष्ठ १४७ पर)

लोक-विश्वास के आईने में शकुन-अपशकुन

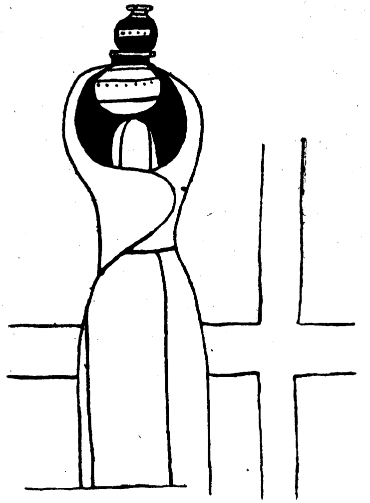

बात सुबह की है। मैं पदगामी था। शायद मॉर्निंग वॉक पर। फागुनी बयार बह रही थी। मन में सुख की तरंगें उमग रहीं थीं और मैं नाना भावों के सतरंगी जाल में उलझा बढ़ा चला जा रहा था कि यकायक मेरे कर्ण-युगल में परिचित-सी आवाज टकरायी। सोच के गह्वर से बाहर निकला तो सामने पड़ौस की 'शब्बो भाभी' नज़र आयीं जो अपनी बायीं बाँह फैला कर मुझे आगे न बढ़ने की हिदायत दे रही थीं; मानो आगे कोई दुर्घटना घट गयी हो। मेरे क़दमों को मानो ब्रेक लग गये। पूछा— 'माजरा क्या है भाभी जान!' उत्तर में वे मेरे और समीप खिसक आयीं और लगभग कान में फुसफुसायीं—'अरे भय्या, सबेरे-सबेरे बिल्ली रस्ता काट गयी। कछू मत पूछो भय्या आज तो काम बिगर जइये, छिन-भर ठहरो कोई और इधर से गुजर जाय तब हम इहन से बढ़ेंगे, तुमऊ एसइ करियो। नाय तो......।'

भीतर के किसी कोने से भय/आशंका ने अपना मुख खोल लिया। मैं कुछ सहमा और क्षण-भर थम कर 'शब्बोभाभी' का शुक्रिया अदा कर आगे मुड़ गया। सोच में मेरे 'शकुन-अपशकुन' शब्द जुड़ गये। यह युग इक्कीसवीं सदी की दौड़ में है। क्या हम अपनी मन:स्थिति को इन विश्वासों से अलग-थलग कर सकते हैं? जो प्रकृति, ज्योतिष, ग्रह, नक्षत्र पर आधृत हैं! मन घुमड़ रहा था। शब्द मचल रहे थे। मेरे सोच का दायरा दरिया में बदलने लगा था। घर पहुँच कर अनुभव के पृष्ठ पलटने लगा और मेरी अँगुलियों पर शब्द चमकने लगे।

लोक-मानस आदिम काल से ही शकुन-विचार, तन्त्र-मन्त्र आदि पर विश्वास करता रहा है। लोक-मानस मिस्टिक अथवा रहस्यशील होता है। वह प्रीलॉजीकल / विवेकपूर्वी होता है। लोक-मानस लोक-विश्वास का मूलाधार है। लोक-साहित्य में अनेक ऐसे लोक-विश्वास दृष्टिगत होते हैं जो ज्योतिष-विषयक मान्यता, शुभाशुभ शकुन-मान्यता, लोकोपचार विषयक मान्यता आदि से प्रभावित होते हैं। लोक में विघ्न-निवारणार्थ अनेक उपचार भी प्रचलित हैं। भूत-प्रेत की बाधा दूर करने के लिए गंगा-स्नान, तन्त्र-मन्त्र आदि का प्रयोग होता है। नज़र लग जाने

—डॉ. आदित्य प्रचण्डिया 'दीति'

पर उसे राई-नोंन से उतारा जाता है। पशुओं में संक्रामक रोग हो जाने पर 'हीर-राँझा' की गाथा सुनायी जाती हैं। कुछ *ऐसे भी लोक-विश्वास परम्परागत मान्यताओं* से अनुप्राणित होते हैं — उदाहरणार्थ छठी के दिन नवजात शिशु के भाग्यलेखन का वर्णन, पूर्व-जन्म का ज्ञान-संबन्धी वर्णन,

भूतप्रेतों का विश्वास आदि। कुछ लोक-विश्वास ऐसे भी दृष्टिगत होते हैं जो मनुष्य की उत्पत्ति किसी अद्भुत ढंग से कहते हैं। यद्यपि आज का वैज्ञानिक इसे कपोल-कल्पना मात्र कहता है, तथापि लोक-मानस का इन पर विश्वास है। जैसे अगस्त्य ऋषि की घटोत्पत्ति, मिट्टी की मूर्ति में प्राण-संचार, स्त्री का पत्थर और पत्थर का पुनः स्त्री रूप में परिवर्तन आदि। कुछ अन्य पौराणिक लोक-विश्वास देखे जाते हैं, जिन्हें विज्ञान आज तक कल्पना ही मानता आया है। कहा जाता है कि गिलहरी के शरीर की तीन रेखाएँ राम के प्रेममय आशीर्वाद देते समय के उँगलियों के निशान हैं। अधिकांश लोगों को मान्य है कि पृथ्वी शेषनाग, या कच्छप, या गाय के सींगों पर टिकी हुई है।

लोक में शुभाशुभ शकुनों से संबन्धित अनेक लोक-विश्वास देख जा सकते हैं। कहा जाता है कि यदि पुरुष की बायीं आँख फड़कती है तो कोई अशुभ कार्य होता है। इसी प्रकार स्त्री की दायीं आँख में स्फुरण भी अशुभ फल का सूचक है। बिल्ली का रास्ता काट जाना अशुभ होता है। यदि हथेली खुजलाती है तो धन-प्राप्ति होती है। वस्तुतः विशेष कार्यारम्भ में दृष्टि-पथ पर आने वाले शुभ और अशुभ लक्षण को 'शकुन' की संज्ञा दी गयी है। यदि शुभ, या अशुभ शकुन निकट हों तो तदनुसार फल भी शीघ्र मिलेगा यदि दूर हों तो उसके अनुसार देर से मिलेगा। शकुनावली में सहदेव जी कहते हैं कि—

गौन समें जो अपशकुन, ते आवत सुखदाय।
गौन समें जो शुभ शकुन, पुर पैठत दुःखदाय।।
शकुन शुभाशुभ जानि, निकट होहि तो
निकट फल।
दूर सों दूर बखान, कहै भड्डली सहदेव जू।।

अँगार, राख, लकड़ियाँ, रस्सी, कर्दम, खल, कपास, तुष, हड्डी, केश, कृष्णा, यवधान्य, कूड़ा-करकट, काला धान्य (तिलमाष आदि), पत्थर, विष्ठा, सर्प, औषधि, तेल, गडू (गिलोय), चर्म, चर्बी, खाली पात्र, वलण, तृण, छाछ, अर्गला, शृंखला, वृष्टि, बिना ऋतु की, और प्रतिकूल वायु ये प्रस्थानादि कार्य में शुभ नहीं माने जाते। यात्रा करते समय यदि सामने कोई छींक दे तो लड़ाई होगी, पीठ-पीछे छींकने से सुख मिलेगा। दायीं ओर छींक हो तो धन का नाश होगा, बायीं ओर की छींक से सदा सुख बढ़ेगा। ऊँची छींक बहुत शुभ फल देती है, नीची छींक बहुत भय उत्पन्न करती है। अपनी छींक महा दुःखद होती है। कहते हैं कि अपनी छींक के समय राम बन गये थे, फल यह हुआ कि शीघ्र ही सीता का हरण हो गया।

यात्रा करते समय भरे हुए जल का घड़ा लिये सौभाग्यवती स्त्री मिल जाए, दही और मछली सामने दिखायी पड़े, गाय बछड़े को दूध पिलाती हुई मिल जाए तो ये शकुन अच्छे कहे गये हैं। यात्रा के समय राह में यदि बार-बार लोमड़ी दिखायी पड़े, बायीं ओर से दायीं ओर हरिण आता हुआ दिखायी पड़े तो ये सभी लक्षण कार्य सिद्ध हो जाने के हैं। यात्रा करते समय रविवार को पान खा कर, सोमवार को आईने में मुँह देख कर, मंगलवार को धनिया खा कर, बुध को दही खा कर, बृहस्पति को गुड़, शुक्र को राई, और शनिवार को भामी रंग खा कर प्रस्थान करने से शुभ फल प्राप्त होता है। सोमवार और शनिवार को पूर्व दिशा की यात्रा न करने की बात कही गयी है, मंगल-बुध को उत्तर की यात्रा निषिद्ध मानी जाती है, बृहस्पति को दक्षिण की यात्रा करने वाला निर्दोष रहने पर भी जूतों से पीटा जाता है। बुध कहता है कि मैं बहुत चतुर हूँ मेरे दिन प्रस्थान न करना, कौड़ी

से भी भेंट न करने दूंगा, कुशलपूर्वक घर पहुँचा दूं यही बहुत है । कुछ स्त्रियाँ और पुरुष दिशाशूल का विचार करते हैं उनके लिए यदि पूर्व दिशा की यात्रा करनी हो तो गोधूलि में, पश्चिम की यात्रा करना चाहें तो प्रातःकाल, उत्तर की यात्रा में दोपहर दिन में, दक्षिण जाना हो तो रात्रि में स्थान करने की बात कही गयी है । इस प्रकार यात्रा करने से दिशाशूल, या भद्रा कुछ भी बिगाड़ नहीं सकते, सभी अनिष्ट चूर-चूर हो जाते हैं ।

यात्रा करते समय यदि कुत्ता कान फड़-फड़ा दे और यदि सामने ही एक शूद्र, दो वैश्य, तीन ब्राह्मण, चार क्षत्रिय, नौ स्त्रियाँ दिखायी पड़ें तो इन्हें अमंगलकारक लक्षण समझना चाहिये । यात्रा करते समय यदि राह में नेवला मिल जाए, बायीं तरफ पक्षी चारा चुगता हुआ दिखायी पड़े, दायीं तरफ कौआ दिखायी पड़े तो इसे मनोरथ सिद्धि का लक्षण समझना चाहिये । यात्रा करते समय यदि कुत्ता अपना शरीर धुनता हुआ दिखायी पड़े या पृथ्वी पर लोटता दिखायी पड़े तो समझ लें कि कार्य-सिद्धि नहीं होगी, क्योंकि ये सभी अपशकुन कहे गये हैं। यात्रा करते समय यदि पाँच भैंसें, छह कुत्ते, एक बैल, एक बकरा, तीन गायें और सात हाथी मिल जाएँ तो अपनी यात्रा बन्द कर देनी चाहिये; क्योंकि ये लक्षण अशुभ हैं। बुध, बृहस्पति और शुक्र ये तीन दिन नये वस्त्र पहनने के लिए उत्तम कहे गये हैं विशेष स्थिति में रविवार को भी पहन सकते हैं । लोक-कवि भड्डुरी कहते हैं, यथा–

कपड़ा पहिरै तीन बार,
बुद्ध वृहस्पत शुक्रवार ।
हारे अबरे का इतवार,
भड्डुर का है यही विचार ।।

अपने पैरों या सवारी का स्खलन होना, दस व्यक्तियों का साथ होना, सवारी (घोड़ा आदि) का भाग जाना, ध्वजरूप

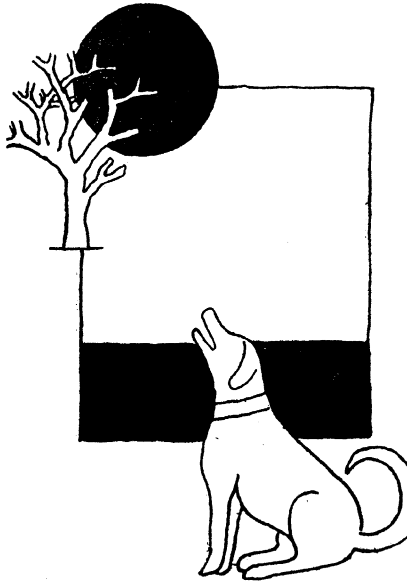

वस्त्र आदि का पतन होना जैसे वणिक् की पगड़ी, क्षत्रिय की तलवार, साधु के रजोहरण आदि के गिर जाना उक्त कार्य यात्री के प्रस्थान में विघ्न का संकेत करने वाले हैं । बिल्लियों का युद्ध, शब्द एवं उनका दर्शन, कुटुम्ब का आपसी कलह और मन को कलुषित करने वाले सभी कार्य ये यात्री के प्रयाण में प्रतिषेधक हैं । बहुत से खग-मृगों का एक साथ संत्रस्त होना एवं एक ही समय में चिल्लाना, परदेशगामी यात्रियों के लिए निश्चित रूप से मरण का कारण होता है ।

एक बार दादूजी महाराज एक जाट के खेत में ठहरे हुए थे । वे ज्यों ही जाने लगे, चिड़िया ने अपशकुन किये । जाट ने कहा– 'भगवन् कुछ देर रुक जाइये । शकुन ठीक नहीं है ।' दादूजी नहीं रुके और चलते समय कहने लगे; यथा –

दादू ! दुनिया झूठ है,
झूठ चिड़ी का सूण ।
लिखणवाला लिख गया,
तो मेटणवाला कूण ।।

विदा हो कर थोड़ी-सी दूर गये कि रास्ते में चोर-डाकू मिले । उन्होंने दादूजी के कपड़े और टोपी छीन ली । दादूजी ने वापिस आ कर जाट को सारा हाल सुनाया और बोले–

दादू ! दुनियाँ साँच है, साँच चिड़ी का सूण ।
दो घड़ी पछै चालता, तो टोपी लेता कूण ।।

भाटी राजपूत कहीं जा रहे थे। रास्ते में एक पथिक शकुन अच्छे न होने से इधर-उधर भटकता हुआ कह रहा था कि 'आगे जाऊँ माँ मरे और पीछे जाऊँ तो मैं मरूँ' । भाटी राजपूत ने कहा–'फेंक दे, फेंक दे' । उसने रोटियों से भरा थैला फेंक दिया, उसमें से एक साँप निकला । किसी व्यक्ति की साँडनी चोरी हो गयी । उसने ठाकुर से फरियाद की । वे राइके (खोजी) को साथ ले कर खोजने चले । रास्ते में साँप मिला, वापस लौटे । प्रातः फिर रवाना हुए, रास्ते में साँप फण फैलाये तैयार था । ठाकुर ने मुँह फेर कर राइके के एक लाठी मारी । वही चोर था, बस साँडनी ला सौंपी ।

सिर पर छिपकली यदि गिरे तो राजसुख मिलने की बात कही गयी है । ललाट पर गिरने से ऐश्वर्य मिलता है, कण्ठ पर गिरने से प्रियजन से मिलन होता है । कन्धे पर गिरने से विजय मिलती है; दोनों कानों पर, दोनों हाथों पर गिरने से धन मिलता है । यदि हाथ पर गिरे तो घर में बहुत सम्पत्ति आती है । पीठ पर गिरने से निश्चित रूप से सुख मिलता है । काँख पर गिरने से प्रिय बन्धु से भेंट होती है । कमर पर गिरने से विविध रंग के कपड़े मिलते हैं, गुदा पर गिरने से विश्वासी मित्र से मिलन होता है । दोनों जाँघों पर गिरने से धन मिलने के साथ मनोरथ की पूर्ति भी होती है । जाँघ पर गिरने से मनुष्य नीरोग होता है । पर्व के दिन गिरने से मरण होता है ।

एक बारात जा रही थी । स्वर्ण चिड़िया बोल उठी । एक शकुनज्ञ ने कहा कि जिसको ब्याहने जा रहे हैं; वह लड़की गर्भवती है । लोगों ने पूछा – इसका क्या सबूत ? शकुनज्ञ का उत्तर था कि जिस टहनी पर चिड़िया बैठी है, उसको चीर कर देखो यदि उसमें कीड़ा (लट) हो तो समझ लेना कि कन्या सगर्भा है । बिस्मित लोगों ने टहनी को चीरा तो लट निकली । सच्चाई की परीक्षा के लिए बारात आगे गयी एवं पता लगाया तो लड़की गर्भवती निकली । एक सैनिक जिसकी शादी अभी हुई थी । वह ससुराल जा रहा था । बीच में बहू के चचा का घर पड़ता था । चचा शकुनज्ञ था । वह कहने लगा–'जमाईलाल, शकुन के अनुसार आप कल शाम तक मर जाएँगे' । सैनिक घबरा कर पास की ढाणी में ससुर के पास पहुँचा । ससुर भी अद्भुत शकुनज्ञ था । दामाद का हाल सुन कर कहा कि तुम सुबह बिलाई गाँव वाली गाय का दूध ले कर चुपचाप चले जाना एवं मेरे भाई के घर के दाहिने द्वार की बाड़ पर वह दूध डाल कर 'तुम्हारे शकुन तुम्हें ही देता हूँ' यूँ कह कर फौरन लौट आना । बाड़ से आग की ज्वाला निकलेगी एवं पकड़ो-पकड़ो कह कर मेरा भाई पीछे दौड़ेगा; लेकिन तुम शीघ्रता से भाग आना । दामाद सैनिक ने उक्त विधि की तो उसका चचा ससुर मर गया ।

ऐसी दन्त-कथा है कि जन्मते बच्चे को यदि पक्षियों का ऐंठा हुआ पानी (कई जगह बर्तन में पानी भर कर एक छींके पर रखा जाता है और पक्षी आ-आ कर उसमें-से पानी पिया करते हैं वह पानी) पिला दिया

जाए तो बच्चा पक्षियों की भाषा समझने लग जाता है ! बीकानेर नरेश के पास एक आदमी पक्षियों की भाषा समझने वाला था । उसने एक दिन महाराज से कहा कि कमेड़ी (कबूतर से मिलता-जुलता पक्षी) कह रही है कि कल सबेरे जोधपुर महाराज झारी का पानी जिसमें महारानी द्वारा ज़हर डाला हुआ होगा, पी लेंगे तब तत्काल मर जाएँगे। उन्हें बचाना हो तो कोई जा कर बचाओ । बीकानेर नरेश को पहले तो विश्वास नहीं हुआ फिर विशेष आग्रह देख कर वायु-वेग से चलने वाली अपनी साँडनी दी साथ में एक पत्र भी दिया जिसमें लिखा था कि यदि इसकी बात झूठ निकले तो इसे वहीं मार दिया जाए। वह शीघ्रातिशीघ्र चला और दिन निकलने से पहले ही जोधपुर पहुँच कर महाराज को पत्र दे दिया । महाराज ने महारानी को बुला कर कहा—'रानी ! इस झारी का जल पीजिये, रानी ने पीने से इन्कार कर दिया । डराने-धमकाने से सब सच उगल दिया । पत्र लाने वाले को इनाम दिया गया और महारानी को सजा सुनायी गयी ।

कहा जाता है कि शुक्र, सोम और बुधवार को बायाँ सुर चलता हो तो विजय मिलती है । इसी सुर में मर्यादा पुरुषोत्तम राम ने लंका जीती थी । वस्तुत: जो सुर चलता हो उसी तरफ पैर आगे बढ़ाना चाहिये । इसमें किसी भी पण्डित से पूछने की ज़रूरत नहीं है । होली के दिन की हवा पर विचार करके शुभ-अशुभ फलों का सारांश इस तरह बताया जा सकता है कि यदि पश्चिम को हवा बहती है तो उसे उत्तम समझना चाहिये ; क्योंकि पृथ्वी जल से तृप्त हो जाएगी । यदि पूरब की हवा बहती हो तो कुछ वर्षा होगी, कुछ सूखा पड़ेगा । यदि दक्खिनी हवा बहती हो तो प्राणियों का वध होगा और नाश होगा । सनई और कपास की उपज बहुत अच्छी होगी । यदि उत्तर की हवा बहती हो तो पृथ्वी पर खूब पानी बरसेगा । यदि चारों ओर की हवा प्रबल वेग से बहे तो लोग दु:खी होंगे ; जीव भयभीत होंगे । यदि हवा ज़ोरदार बह कर ऊपर जाए तो पथ्वी पर संग्राम होगा । रविवार को खेती का काम आरम्भ करने से किसान धनवान होता है । सोमवार को आरम्भ करने से परिश्रम का फल मिलता है । बुध-बृहस्पति और शुक्र को आरम्भ करने से अनाज इतना अधिक होता है कि बखार भर जाते हैं । शनि और मंगल को आरम्भ करने से हानि होती है, बोया हुआ बीज भी वापस नहीं होता ।

भारत की किसी भी भाषा के लोक-साहित्य में शकुन-अपशकुन एक महनीय विषय है । जो व्यक्ति के विश्वास में बल देता है; यही बल हमारी थाती है । □

ई मने गुलाम दौलते आं नेक बंदा ई
कज़ बंदगी ए नफ्से बद आज़ाद मी रवद

मैं उस नेक इन्सान का गुलाम हूँ, जो अपनी बुरी इच्छाओं पर नियन्त्रण रखता है।

खुफ्तगान अज़ ज़िंदगी आगह नींद
ज़िंदा बूदन कारे बदारी बुवद

सोने वाले जीवन की जिम्मेदारियों से अपरिचित हैं; जीवन असल में गति और क्रम का नाम है।

—अमीर खुसरो

—डॉ. एम. पी. पटैरिया

केन्वस नया, रंग पुराने

बाह्य/सांसारिक प्रतीति को शब्दों के माध्यम से व्यक्त किया जा सकता है, और उसे प्रतीकों के माध्यम से समझाया भी जा सकता है; किन्तु 'चेतन' को, खासतौर से 'परम चैतन्य' को व्यक्त करने में न तो शब्द ही सक्षम है और न ही कोई अन्य साधन; फिर भी 'तन्त्र' की मान्यता है कि जगत् के दृश्यमान विकास या विस्तार की जब शाब्दिक अभिव्यक्ति की जाती है, तब वह मन्त्र का स्वरूप ग्रहण कर लेती है; और जब उसे प्रतीकों के माध्यम से आकृतिमूलक अभिव्यक्ति दी जाती है, तब वह 'यन्त्र' का स्वरूप ग्रहण करती है। 'तन्त्र' इन दोनों का मध्यवर्ती है; इसे न तो 'मन्त्र' से पृथक् किया जा सकता है, और न 'यन्त्र' से। जैसे गणित में 'बीज' 'अंक' और 'रेखा' नाम के तीन प्रकार हो जाते हैं, ठीक वैसे ही 'मन्त्र' 'तन्त्र' और 'यन्त्र' का एक गणितीय समीकरण स्पष्ट होता है।

एक समय था, जब, हमारे देश के बारे में पश्चिमी दुनिया की आम धारणा बन गयी थी – 'भारत टोनों-टोटकों का देश है'। मौजूदा वैज्ञानिक परिवेश में भी, इस स्थिति से ऊपर उठ चुका है यह देश, यह बात अभी नहीं है। आज भी हम देखते हैं ग्राम्यांचल में, शिशुओं का अनमना हो जाना, उल्टी करने लगना, या तेज सर्दी/बुखार हो जाने जैसी सामान्य स्थितियों में भी उनकी नज़र उतारना, झाड़-फूँक कराना, उन्हें गंडे/तावीज़ बँधवाना, एक सहज कर्म/धर्म माना जाता है।···कोई नवविवाहिता, शादी के बाद के चार-पाँच वर्षों-के-भीतर, अपने सास-ससुर को पोता-पोती खिलाने का मौका न दे पाये, तो गंडे-तावीज़ बाँधने वालों, झाड़-फूंक करने वालों, ओझाओं/तान्त्रिकों आदि का सम्पर्क/परामर्श, उसकी जवान ज़िंदगी की दैनंदिन-चर्या-सी बन जाता है। तमाम पढ़े-लिखे लोगों को भी ग्रहों/प्रेतों की बाधाएँ दूर कराने के लिए गुनियों/ओझाओं की तलाश करते हुए आधुनिक नगरों तक में देखा जा सकता है। प्रबल आसक्ति/विद्वेष से जन्मी वैयक्तिक/सामाजिक परिस्थितियों का समाधान करने के लिए वशीकरण/उच्चाटन/मारण-प्रयोगों में पारंगत तान्त्रिकों की तलाश कराने वाले भी आसानी से मिल जाते हैं; धरती के गर्भ में छिपे अकूत खज़ानों की बेलाग दौलत पा कर रातों-रात धन्नासेठ बन जाने की लोलुपता, और नाटकीय ढंग से सत्ता/कुर्सी हथिया लेने की लालसा में आज के तथाकथित शिष्ट/सफेदपोश लोगों के तान्त्रिक अनुष्ठानों की चर्चाएँ संचार-माध्यमों से आये दिन हम सभी सुनते-पढ़ते रहते हैं।

इन तमाम तरह के लोगों की यह मान्यता है कि उनके ये सारे प्रयास मात्र अन्धविश्वास पर आधारित नहीं हैं; न ही इन मान्यताओं/विश्वासों की नींव

मात्र कल्पना, भ्रम या इन्द्र/माया जाल के कौतुकों-जैसे आधारहीन धरातलों पर टिकी हुई है; बल्कि इन सब के मूल में भारतीय साधना-परम्परा की विशिष्टतम उपलब्धियों की कोई-न-कोई परत अवश्य रही होती है।

कुछ वर्षों पहिले एक पश्चिमी वैज्ञानिक ने किसी सिद्ध संत से दीक्षा ली थी। उस सन्त के द्वारा उसमें किये गये अपने शक्तिपात से वैज्ञानिक को अपने-आप में एक विलक्षण-से प्रकाश की अनुभूति हुई; उसने देखा वह अपने से दस फुट की दूरी पर पड़े एक भारी सन्दूक को सिर्फ इच्छा-करने-भर से हटाने में सफल हो गया है।...सिरिओस का चित्र लेने वाले एक कैमरे ने सिरिओस के चित्र की बनिस्बत उन चीजों के चित्र ले लिये जो सिरिओस की कल्पना में थे; यह देख कर आज के वैज्ञानिकों को विश्वास तक नहीं हो पाया कि कैमरे-जैसी विश्वसनीय वस्तु भी कल्पना-शक्ति से प्रभावित हो सकती है; पर यथार्थ पर अविश्वास कर पाना भी उनके वश में नहीं था।...बाज़ार में चल रही ट्राम को रोक देने, सिर्फ देखने-भर-से अँगूठी के टुकड़े कर देने, और लन्दन के 'टॉवर' में लगी घड़ी की सुइयों को उलटा घुमा देने वाले यूरी गैलर की विचित्र शक्ति ने...तथा, घड़ी की सुइयों को वहीं-का-वहीं जाम कर देने वाली मास्कोवासी नेग्या सिखालोवना की दृष्टि-शक्ति ने भी, आज के भौतिकी-विज्ञानियों को हतप्रभ कर दिया। इन वैज्ञानिकों को, इस बात से और अधिक परेशानी/बेचैनी हुई कि उक्त करतब दिखलाने वाले कोई सन्त/सिद्ध व्यक्ति नहीं हैं।

इन दिनों अमेरिका में अत्यन्त लोकप्रिय हो रहीं दो विलक्षण/रहस्यमय चिकित्सा-पद्धतियाँ भी वैज्ञानिकों के लिए परेशानी/बेचैनी का कारण बनी हुई हैं। इन्हें 'थैरेप्युटिक टच' और 'बायोफीड बैक' नाम से जाना जा रहा है वहाँ। भारतीय 'झाड़-फूंक' और चीनी 'एक्यूपंक्चर' से भी अधिक रहस्यपूर्ण माना जा रहा है इन्हें। विश्व के तमाम आयुर्विज्ञानी इन पद्धतियों से न सिर्फ आश्चर्य चकित हैं, बल्कि इन्हें परिभाषित कर पाने में उनकी अक्षमता भी स्पष्टतः प्रकट हो चुकी है।

न्यूयॉर्क विश्वविद्यालय की महिला प्रोफेसर (नर्सिंग) डॉ. डोलोरस क्रीगर ने भारतीय धर्मों का गहन अध्ययन किया, और पाया कि भारतीय जीवन-स्तर में स्वीकृत 'प्राण' लालरक्त कोशिकाओं 'हीमोग्लोबिन' से काफी-कुछ मिलता-जुलता है। उन्होंने, जीवन में प्राण के अस्तित्व को उसी तरह अन्तर्भूत हुआ अनुभव किया, जिस तरह ऑक्सीजन का एक अणु। इस अध्ययन के आधार पर, इलाज़ से 'एंजाइम ट्रिप्सन' पर पड़ने वाले प्रभाव के प्रयोगों में अपनी धारणा को सैद्धान्तिक रूप से जोड़ कर हीमोग्लोबिन पर प्रयोग आरम्भ कर दिये। एक मित्र की सहायता से किये गये इन प्रयोगों के अन्त में उन्होंने पाया कि रोगियों के हीमोग्लोबिन में

उल्लेखनीय परिवर्तन हुए हैं । डॉ. क्रीगर ने अमेरिका एवं कनाड़ा के नर्सिंग स्कूलों में इस पद्धति को विकसित करके, सन् १९७२ में 'चिकित्सीय स्पर्श' में दक्ष नर्सों को उपलब्ध करा दिया । आज इन दोनों देशों में सर्वाधिक लोकप्रिय इस 'थेरेप्युटिक टच'/जादुई स्पर्श के जैव रासायनिक प्रभावों से सहमत नहीं हो पा रहे हैं वहाँ के डॉक्टर ।

'मनोभौतिकी' एवं 'बायोफीड बैक' की संस्थापिका एलिस ग्रीन और उनके पति एल्मर ग्रीन 'बायोफीड बैक' चिकित्सा-पद्धति के विशेषज्ञ हैं । इस पद्धति में रोगी को एक अत्यन्त संवेदनशील 'मॉनीटर' के माध्यम से, आत्मनियन्त्रण द्वारा अपनी आन्तरिक शक्ति को बल प्रदान करने में सक्षम बनाया जाता है ।

एमरोय विश्वविद्यालय में क्षतिग्रस्त पेशियों को पुनर्जीवित करने के लिए, इस पद्धति का सफल प्रयोग किया जा चुका है । बर्मिंघम और मिशीगन के व्यवहार-विषयक मनोरोग तथा मनोविज्ञान-केन्द्र तथा 'मेनिगर क्लिनिक' में 'माइग्रेन' के दर्द को दूर करने के लिए इस पद्धति को सर्वोत्तम; प्रभावशाली पाया गया है । सेनफ्रेंसिस्को मेडिकल सेंटर कैलीफोर्निया विश्वविद्यालय के मनोवैज्ञानिक बर्नार्ड एंजिल ने इस पद्धति द्वारा कुछ रोगियों को दिल की धड़कनों पर काबू करना तक सिखला दिया; और कोलम्बिया के डॉ. केनेथ ग्रीन स्वान ने इसी पद्धति से २२ पोस्टसर्जिकल कार्डीवास्कुलर रोगियों को तीन महीने की ही चिकित्सा में बिल्कुल ठीक कर दिया । डॉ. ग्रीन की मान्यता है कि यह पद्धति 'रोगियों के अन्दर मौजूद डॉक्टर' को सक्रिय बनाने की कला/विद्या है । इसी मान्यता के अनुसार उन्होंने उक्त अपंग रोगियों को ऐसा प्रशिक्षण भी दिया जिससे वे अपने अंगों का तापमान बढ़ा कर, रोग-प्रभावित अंगों में अधिक रक्त भेज सकें; और रक्त के थक्कों की बाधा दूर करके, अपनी रक्त-वाहनियों को सुचारू रूप से काम करने योग्य बना सकें ।

'बायोफीड बैक' चिकित्सा-पद्धति में यन्त्रों की सहायता से रोगियों को सिखाये जाने वाली आत्मनियन्त्रण की क्षमता प्रशिक्षण के उपरान्त उनमें कम हो जाती है, जबकि भारतीय साधक/योगी, जब चाहें तब, इस सामर्थ्य का प्रयोग करने में समर्थ रहते हैं । इसी फर्क को देखते हुए आधुनिकतम यन्त्रों से 'बायोफीड बैक' को और अधिक विकसित करने के प्रयास, अमेरिका में अभी जारी है । देखना यह है कि पश्चिमी आयुर्विज्ञानी किन ऊँचाइयों तक इस पद्धति को पहुँचा कर उसे भारतीय योग की बराबरी पर ला सकने में समर्थ होते हैं ।

वस्तुतः, पश्चिमी दुनिया आज वैज्ञानिक प्रगति से पीड़ित है । वे कृत्रिम/भौतिक संसार से ऊब चुके हैं; और भाग कर भारत आ रहे हैं, या फिर, इसकी ओर आशाभरी निगाहों से निहार रहे हैं, कि यहाँ से उन्हें एक ऐसा जीवन-दर्शन

मिलेगा, जो उन्हें भौतिक उत्तेजनाओं से मुक्ति दिला सकेगा। उन्मुक्त यौनाचार और मादकों का सेवन करते हुए, वे कर तो रहे हैं शान्ति की तलाश; किन्तु तनावों/उत्तेजनाओं और कुण्ठाओं-से-भरे भौतिक उपकरणों के भार से लदा हुआ पश्चिमी विचार-चिन्तन, इन्हीं विकारों को जीवन का आनन्द मान बैठा है; ऐसे कैसे मिल सकेगी उसे शान्ति ?...विज्ञान पर विकसित शक्ति के माध्यम से वह इतना बहिर्मुखी हो गया है कि अपनी देह में, अपने अन्तस् में छिपे आनन्द-निष्यन्द का उसे ज्ञान ही नहीं हो पाता फिर, आधुनिक सभ्यता में रचा-पचा जीवन आज यह विश्वास ही नहीं कर पाता है कि 'तन्त्र' एक ऐसी दृष्टि है, जो व्यक्ति को तनावों/उत्तेजनाओं से दूर रहने की मनोभूमि का निर्माण करती है; या इससे भी बहुत आगे दैहिक आवर्तों का भेदन करा कर मानव की अन्तर्यात्रा को महाशून्य के पास पहुँचा सकती है। यह, सांसारिकता से भी विमुख/अपरिचित नहीं है; बल्कि, मारण, मोहन, उच्चाटन आदि से काम-सिद्धि का जीवन-दर्शन बतलाते हुए अक्षर, आनन्द, और परिपूर्ण परमात्मभाव की साधना का प्रतिपादन मूल लक्ष्य मानती है अपना।

हम जिस दुनिया में जी/रह रहे हैं,-वह कुछ छोटे-बड़े द्वीपों का समूह है। ये द्वीप भी कुछ महासागरों से घिरे हुए हैं। ये सारे एक-दूसरे से दूर-दूर हैं, भिन्न हैं; महासागर भी इसी तरह के हैं, पर तात्त्विक दृष्टि से देखें, तो पता चलेगा चलेगा कि ये सब न तो दूर-दूर ही हैं, न ही भिन्न-भिन्न हैं। द्वीपों की दूरी और भिन्नता में महासागर का जल कारण/व्यवधान बना हुआ है, और महासागरों की दूरी/भिन्नता में ये द्वीप/धरती कारण/व्यवधान है। वास्तविकता यह है कि इन सारे द्वीपों में कठोरता/भूमिमयता के रूप में मौजूद 'तत्त्व' एक ही है; इसी तरह, महासागरों में भी तरलता आदि रूपों में मौजूद तत्त्व एक ही है। ऐसे ही धरती/जल के ऊपर शून्य/आकाश में मौजूद पदार्थों/जीवों की दृश्यमान पारस्परिक दूरियों/भिन्नताओं में आकाश तत्त्व व्यवधान रूप में उपस्थित रहता है, और इन सारे पदार्थों के व्यवधान से आकाश में भी भेद दिखलायी पड़ता है। ये सारे भेद/

दूरियाँ सहज ही मिट जाएँ यदि उनमें-से ये तात्त्विक व्यवधान/आवरण हट जाएँ फिर सारी धरती एकरूप हो जाएगी, सारे सागर एक हो जाएँगे और समग्र आकाश एक/अखण्ड बन जाएगा। तन्त्र अपने प्राथमिक स्तर पर, तत्त्वों के इस आवरण तो तोड़ने का उपक्रम रचता है, और बतलाता है कि इनका बाह्य स्वरूप, जो दिखलायी पड़ रहा है, उससे भिन्न है इनका आन्तरिक स्वरूप। इन्द्रियों की सीमा/अनुभूति में आने वाला इन सबका बाह्य ज्ञान, हमारी स्थूल प्रतीति है; जब कि इससे आगे शुरू होती है सत्त्व, रजस् और तमस् गुणों की सीमा, जो काम-क्रोध-मद-लोभ-मोह के समानान्तर अहिंसा सत्य, शौच, अस्तेय, प्रेम, और दया आदि रूपों में प्रतीति/अनुभूति का विषय बनती है।

सामान्यत:, व्यक्ति के ज्ञान (इन्द्रिय)/चेतना के केन्द्र इतने प्रबल नहीं होते कि वह परमात्मा के अरूप आभास की प्रतीति कर सकें। आत्मसाधना के इतिहास-पृष्ठ ऋषियों/मुनियों को साधना-विरत करने में, इन्द्र द्वारा उत्पन्न बाधाओं के जिन-जिन प्रयासों से रंगे पड़े हैं, वे सारे दृश्य, इन्द्र के बाह्य स्वरूप के परिचायक हैं; पर मैं यह मानता हूँ कि इन सबका आन्तरिक स्वरूप हैं इन्द्रियाँ, और उनकी विषय-लोलुपता; जो हर साधक को पग-पग पर; उसकी आध्यात्मिक उछाल/प्रगति में बाधक बनती रही है; और 'स्वर्ग' आदि लोकों की बाह्य सत्ता की तरह पश्यन्ती, बैखरी, मध्यमा आदि रूपों में उनकी आन्तरिक सत्ता है, जिनका आकर्षण/विकर्षण साधना-विग्रहों का इतिहास सदा-सदा से दुहरता चला आया है। साधना के उत्क्रम/प्रगति में प्राप्त होने वाली सिद्धियों को भी मैं, परब्रह्म का वह लीलारूप मानता हूँ, जिसे वह अपनी माया-शक्ति के बल पर तत्तत् विभूतियों के रूप में प्रस्तुत करता है। वस्तुतः इन सिद्धियों/विभूतियों के ऐश्वर्य से अभिभत हो जाना ही साधना से च्युत हो जाना है। इस स्थिति में हम यह अनुभव नहीं कर पाते कि साधना-मार्ग के परिपक्व अनुभव के बिना, आध्यात्मिक उछाल भरने वाला इस तरह की अड़चनें आ जाने पर और ऊपर नहीं जा पायेगा; बल्कि वह नीचे ही आ कर गिरेगा। 'तन्त्र', इन सारे व्यवधानों/अड़चनों को पार कर, ऊँचे, उठने का क्रमिक मार्ग बतलाता है।

भारत का सारा ज्ञान 'गुह्य' माना गया है; इसलिए कि वह प्रदर्शन/दिखावा और आडम्बर का आकांक्षी कभी नहीं रहा है; वह तो निराकांक्ष/निष्काम भाव-भूमिका पर आधारित रहा है सदा से। जो लोग विश्वस्त रहे/हैं आध्यात्मिक प्रगति में, वे ही उसके ओर-छोर को देख/परख सके; और यह मानी हुई बात है कि 'विश्वास' हमेशा से 'अन्धा'/आँख बन्द कर के किया जाता रहा है, और रहेगा। उसने हमेशा ही श्रद्धाभिभूत आँख/मन को ही पसन्द किया है। तन्त्र भी एक ऐसा ज्ञान/विज्ञान है, जिसके अन्तस् में पैठ पाने के लिए न सिर्फ वैज्ञानिक होने

का 'अहं' विसर्जित करना होता है; बल्कि तमाम कल्पित ऊँचाइयों से नीचे उतर कर, उस सहज मनोभाव-भूमि पर स्वयं को/साधक को खड़ा होना पड़ता है, जहाँ अपने अन्तर्विवेक/प्रकाश के सहारे, श्रद्धा/सीढ़ियों को माध्यम बना कर आध्यात्मिक गहराइयों में स्वयं को पहुँचा/उतार सकता है। यहाँ तक पहुँच जाने पर, आदमी को, बहुत कुछ ऐसा प्राप्त हो सकता है, जिसे पा लेने पर, आज तक की सारी वैज्ञानिक उपलब्धियाँ और आधुनिकता/भौतिकता का सारा विस्तार, व्यर्थ-सा जान पड़े यहाँ पहुँचने पर, यह विशेष सतर्कता उसे बरतनी पड़ती है, जिससे, वहाँ मिलने/दिखलायी पड़ने वाली सिद्धियों/सफलताओं को सतही/वैज्ञानिक शब्दावली से तौलने/समझने के बजाय, हमारे दार्शनिक/तान्त्रिक विश्वासों/परिस्थितियों के सन्दर्भ में उन्हें समझा जा सके अन्यथा 'अल्फा' 'बीटा' और 'गामा' किरणों की गति-पद्धति/प्रकार-भर को शिव-त्रिशूल की तीन नोकों/शूलों में सहज सामान्यता के साथ देख पायेगा; 'परम शिव' के परम-स्वरूप की प्रतीति/अनुभूति उसे नहीं हो पायेगी, क्योंकि 'शिव' के 'परम/स्वरूप का दर्शन' ही तो व्यक्ति/साधक का आत्मबोध/साक्षात्कार है। उसे प्रतीकों/उपमानों की सीमा में समेट पाना किसी भी भाषा/शब्दावली के वश की बात नहीं है।

प्राय: शब्द को नितान्त स्थूल मान कर उसके प्रायोगिक व्यवहार में ही हम जीते/मरते रहते हैं; यह दृष्टि न सिर्फ बहिर्मुखी है, बल्कि संकीर्ण भी है। जैसे— जब हम किसी रंगीन कपड़े को देखते हैं, उसके 'लाल' 'हरे' 'नीले' 'पीले' रंगों में-से किसी एक रंग को, अपने पूर्वाग्रह/अपनी उपयोगवादी धारणा के आधार पर पसन्द कर लेते हैं, और शेष को अग्राह्य/उपेक्षणीय कह देते हैं; किन्तु एक तान्त्रिक, वस्त्रों के रंग-संयोजन और धागे के रूप-गुणों के विश्लेषण को आधार बना कर, उनमें-से किसी एक रंग के वस्त्र का सलेक्शन/चयन करता है; क्योंकि 'तन्त्र' उस 'सत्'/'अस्तित्व' को 'परम' मानता है, जो 'निष्कल' है, 'ज्ञानातीत' है, 'निर्भिन्न' है, 'अवाच्य' है। यही 'परम' शब्द, 'तत्त्व' के साथ संयोजित होने पर उसे 'परमतत्त्व', 'शिव' के साथ संयोजित होने पर उसे 'परम शिव', और 'पुरुष' के साथ संयोजित होने पर उसे 'परम पुरुष' बना देता है।

'परम' से संयोजित 'तत्त्व' 'पुरुष' या 'शिव'/'ब्रह्म' से ही इच्छा, ज्ञान और क्रिया/आचार की त्रिवेणी क्षरित होती है; या यों कहें, उस 'निष्कल'/'अवाच्य' के ऐश्वर्य का विस्तार होता है। इस समग्र विस्तार के माध्यम से 'निर्भिन्न सत्' के तात्त्विक/मूल स्वरूप को जानना/समझना तन्त्र का आध्यात्मिक/ज्ञान-पक्ष हैं; और इस विस्तार की कार्य-प्रणाली के रहस्यों को अनावृत कर, उसे व्यक्ति/समाज की आवश्यकताओं के अनुरूप उपयोगी बनाना, तन्त्र का लौकिक पक्ष है। तन्त्र के इन दोनों पक्षों में, हम भौतिक/रसायन विज्ञान के यथार्थ सूत्रों को आसानी से खोज सकते हैं।

अचेतन जगत्/ब्रह्माण्ड का सूक्ष्मतम अंश है 'परमाणु'। जब दो परमाणु परस्पर मिलते/जुड़ते हैं, तब जगत् का विस्तार अँगड़ाने लगता है; और बाद में

दो द्वयणुकों के पारस्परिक सम्मेलन से ले कर स्कन्धों/स्कन्ध-देशों का मेल-जोल होने तक का सारा जोड़-तोड़ एक स्वरूप ग्रहण कर लेता है आज की दुनिया-जैसा। इस समस्त विस्तार की अभिव्यक्ति को, जब हम कोई आकार देना चाहेंगे. तब निश्चित है कि एक 'ग्लोब'-जैसा बना कर, उसमें तमाम द्वीपों/देशों, नदी-वन-पर्वतों आदि का प्रतीकात्मक रेखांकन भी करना पड़ेगा। यह 'रेखांकन', यद्यपि, उन सबका मूल स्वरूप नहीं होगा; किन्तु उसका बोध कराने में सक्षम तो होगा ही। इसी तरह जब इस समग्र विस्तार को हम व्यक्त करना चाहेंगे, तब निश्चित है कि हमें 'भाषा' को माध्यम बनाना पड़ेगा; और उन द्वीपों/देशों, नदी-वन-पर्वतों का बोध कराने वाले कुछ 'संज्ञा' 'सर्वनाम' 'विशेषण' शब्दों को गढ़ना पड़ेगा। ये सारे शब्द/ये सारी अभिव्यक्तियाँ उन-उन द्वीपों/देशों आदि का यथार्थ/तात्त्विक रूप नहीं होती हैं, तथापि उन सबका तात्त्विक बोध कराने में सक्षम तो होती ही हैं।

इसी तरह, 'तन्त्र' भी, अचेतन जगत् के समग्र विस्तार की प्रतीकात्मक विवेचना और उसका रेखांकन अपनी एक विशिष्ट पद्धति के अनुसार करता है। जगत् का मूल कारण परमाणु है। 'बिन्दु' रूप में, प्रतीकात्मक पद्धति से, 'तन्त्र' उसके एक सूक्ष्मतम स्वरूप की परिकल्पना कर लेता है; और उसके विस्तार की प्रतीक विभिन्न रेखाओं को उस बिन्दु/बीज से संयुक्त कर उसे 'चाक्षुष' बनाता है। यहाँ यह स्मरणीय है कि 'बिन्दु', जहाँ/जिस क्षण से, रेखाओं का संयोग पाने लगता है, वहीं/उसी क्षण से, वह 'शब्द' के द्वारा भी अभिव्यक्त होने लगता है। कारण यह है कि जिस तरह 'रेखांकन' में बिन्दु और रेखाओं का संयोग आधार बनता है; उसी तरह भाषा/शब्द/वर्ण का आधार भी बिन्दु-रेखा संयोग होता है।

• बाह्य/सांसारिक प्रतीति को शब्दों के माध्यम से व्यक्त किया जा सकता है, और उसे प्रतीकों के माध्यम से समझाया भी जा सकता है; किन्तु 'चेतन' को, खासतौर से 'परम चैतन्य' को, व्यक्त करने में न तो 'शब्द' ही सक्षम हैं, और न ही कोई अन्य साधन; फिर भी तन्त्र की मान्यता है कि जगत् के दृश्यमान विकास/विस्तार की जब शाब्दिक अभिव्यक्ति की जाती है, तब वह 'मन्त्र' का स्वरूप ग्रहण कर लेती है; और जब उसे प्रतीकों के माध्यम से आकृति-मूलक अभिव्यक्ति दी जाती है, तब वह 'यन्त्र' का स्वरूप ग्रहण करती है। 'तन्त्र' इन दोनों का मध्यवर्ती है। इसे, न तो 'मन्त्र' से पथक् किया जा सकता है, न 'यन्त्र' से। जैसे गणित में 'बीज' 'अंक' और 'रेखा' नाम के तीन प्रकार हो जाते हैं, ठीक वैसे ही, 'मन्त्र' 'तन्त्र' और 'यन्त्र' का एक गणितीय समीकरण स्पष्ट होता है।

स्थूल जगत् के रहस्यों को प्रकट करते हुए सूक्ष्म तक पहुँचने की प्रक्रिया में, ये तीनों पृथक्-पृथक्, स्वतन्त्र रूप से सक्षम होते हुए भी परस्पर-सापेक्ष बने रहते हैं। फर्क सिर्फ यह रहता है इन तीनों में कि वे पूर्व-पूर्व की अपेक्षा से,

अधिक आध्यात्मिक शक्ति-सम्पन्न होते हैं; यानी आत्मज्ञान/साक्षात्कार में 'मन्त्र' जितना सबल माध्यम बनता है, उतना सक्षम 'तन्त्र' नहीं बन पाता; और, 'तन्त्र' जितनी प्रबलता 'यन्त्र' में नहीं बन पाती । इसके विपरीत सांसारिक हित, मारण, मोहन आदि कर्म 'यन्त्र' के द्वारा जितनी सहजता से सिद्ध किये जा सकते हैं, उतनी सहजता 'मन्त्र' में सुलभ नहीं हो पाती ।

किन्तु तन्त्र का लक्ष्य, सिर्फ सांसारिक कार्य सिद्ध करना-भर नहीं है, उसका मूल लक्ष्य है : 'आत्मज्ञान' । यही उसका 'परमार्थ' है ।

व्यक्ति को आध्यात्मिक पथ से विचलित कर सांसारिक संकीर्णता में बाँध कर रखने में राग-द्वेष की भूमिका महत्त्वपूर्ण रहती है । राग 'प्रेम' का जनक होता है, और द्वेष 'क्रोध' का । राग-द्वेष की यह भिन्नता भी सांसारिक दृष्टि से सत्य जान पड़ती है । तात्त्विक/परमार्थ दृष्टि से देखने पर इन दोनों में कोई अन्तर नहीं जान पड़ता; क्योंकि 'प्रेम' और 'क्रोध' दोनों ही मन की नितान्त सांसारिक प्रबल प्रतीति के द्योतक हैं । मस्तिष्क की शिराओं में उत्तेजना पैदा कर, एक ग्रन्थि-विशष को विमोचित करता है क्रोध; जबकि प्रेम की उत्तेजना उसी ग्रन्थि को शिथिल बना देती है । ये दोनों ही उत्तेजनाएँ/स्थितियाँ व्यक्ति की भाव-ग्रन्थि को न तो उदात्त ही बनाती हैं, न ही उन्हें भेद पाती हैं । जबकि तान्त्रिक साधना में, ग्रन्थियों/चक्रों का भेदन करके आगे बढ़ना जरूरी होता है । आगे बढ़ने की इसी प्रक्रिया को प्रतीकों, ध्वनियों, पदार्थों, और रेखांकनों के माध्यम से व्यक्त करना, 'मन्त्र', 'तन्त्र' और 'यन्त्र' का मुख्य प्रतिपाद्य है ।

यह सारा संसार तत्त्वों/पदार्थों का, और उनके गुणों का विस्तार है, ठीक वैसे ही जैसे सारा-का-सारा गणित-शास्त्र एक से ले कर नौ तक के अंकों का विस्तार है; और संसार की 'त्रिलोकता' तत्त्वों की त्रिगुणात्मकता पर आधारित है । 'स्वर्ग' में मौजूद तत्त्वों को सत्त्वगुण प्रधान माना जाता है, तो 'नरक' के तत्त्वों को तमोगुण प्रधान, और मत्यु/मध्यलोक को रजोगुण प्रधान । जहाँ-जहाँ 'तत्त्व' मौजूद हैं, वहाँ सब जगह उनके गुण भी मौजूद रहते हैं । धरती आदि तत्त्वों के गुण हैं – गन्ध, रूप, रस आदि । पदार्थों की तरह इनके गुणों में भी त्रिगुणात्मकता रहती है । गन्ध जब 'सत्त्व' से विशिष्ट हो कर प्रकट होती है, तब वह हर मानव को भली लगती है । इसी तरह, सुन्दर रूप, सुन्दर शब्द, सुन्दर रस, और सुन्दर स्पश भी सबको सुखदायी लगते हैं । इनका यह सर्वसुखद स्वरूप तभी प्रकट होता है, जब इन सब में 'सत्त्व' गुण की प्रधानता होती है । 'सत्त्व' शान्ति/तटस्थता का, माध्यस्थ्य भाव का जनक होता है; यानी सत्त्वगुण, सापेक्षता का अपेक्षी नहीं होता; वह तो निरपेक्ष ही होता है; यह उसका स्वभाव/प्रकृति है । प्रकृति में जब 'विकृति' शुरू होती है, तब वह सापेक्ष बनती है : सापेक्षता की स्थिति में ही सुगन्ध, सुरूप,

सुरस आदि दुर्गंध, कुरूप और कुरस जैसे लगने लगते हैं । सर्पदंश से प्रभावित व्यक्ति को नीम के पत्तों की कड़ुआहट भी मधुर जान पड़ती है । सुअर जैसे प्राणी, दुर्गंध में-से ही जीवन का सुरस पाते हैं । ये स्थितियाँ, उन सबकी 'प्रकृति'-जैसी जानी/देखी जाती हैं; पर तात्त्विक रूप में, ये उनकी विकृतियाँ ही हैं; क्योंकि, 'चैतन्य' मात्र स्वभावतः/प्रकृति से सत्त्वप्रधानी होता है । विकृतिमय सांसारिकता से प्रभावित होता हुआ वह, 'कर्म' और 'कर्म-विपाक' के कारण विकृति-प्रधान बनता जाता है । जिस चैतन्य/प्राणी में, विकृति की मात्रा जितनी होती है, उसी के अनुसार उसकी प्रकृति का निर्धारण होता है । ऐसी प्रकृष्ट विकृति-प्रधान चैतन्य-स्थितियों को को छोड़ कर, सामान्य प्रकृति से सुगन्ध, सुरूप आदि हर मनाव को भले लगते हैं।

इस आधार पर यह माना जाता है कि मानव-मात्र की प्रकृति/स्वभाव 'सत्त्वप्रधान' है; इसीलिए तो उसे सदा शान्ति की चाह में, सुख की खोज में, प्रयत्नशील पाया जाता है । उसके ये प्रयत्न बतलाते हैं कि वह सामान्यतः सत्त्व रूप है; अतः उसे प्रकृष्ट/शुद्ध सत्त्व को प्राप्त करना चाहिये; किन्तु इन्द्रियों को सुख देने वाले विषय, सांसारिक सापेक्षता/विकृति-से-युक्त होने के कारण, उनमें स्वयं को रमाने वाले व्यक्ति को भी विकृतिमय बना डालते हैं; फलतः वह स्थूल जगत् में उसकी त्रिगुणात्मकता के विवर्त में फँस कर रह जाता है; जिससे उसका सहज सत्त्वभाव रजस् से अभिभूत हो कर काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि रूप-प्रतीतियों/ विकृतियों में उलझता जाता है; और तमस् से प्रभावित दुःख, दैन्य आदि भोगने लग जाता है ।

संसार का स्वरूप और गुण/धर्म, जिन तत्त्वों से रचित है, उन्हीं से निर्मित/संरचित है मानव का बाह्य स्वरूप । इस नाते जीव और जगत् दोनों ही परस्पर जुड़े हैं घनिष्ठता में; इसलिए मानव-मात्र की प्रवृत्ति, धन/पुत्र आदि की प्राप्ति के प्रति सहज ही बन जाती है । ऐसे लोगों के जीवन का लक्ष्य, सांसारिकता ही बन जाती है । तन्त्र-के-ग्रन्थ, इसी तरह के/सांसारिक वृत्ति वाले लोगों के लिए पुत्र-लाभ, धन-प्राप्ति, शत्रु-नाश जैसे प्रयोगों को प्रकट करते रहे हैं । तन्त्र का यह पक्ष, मानव के बाहरी परिवेश की तरह, बाह्य पक्ष है । वस्तुतः तन्त्र-ग्रन्थों के प्रणेता उस ड्राइवर/मैकेनिक की तरह थे, जो मोटर के पुर्जे-पुर्जे का कार्य, उसकी शक्ति, और उपयोगिता को भलीभाँति जानता है । वह जानता है कि मोटर का सही उपयोग, यात्रा/गन्तव्य के अन्तिम छोर तक पहुँचने में है; किन्तु इस यात्रा-अवधि में, उसके पुर्जों को डीजल/पेट्रोल, मोबिलऑइल/ग्रीस आदि देना भी आवश्यक होता है; ठीक इसी तरह, सांसारिक तत्त्वों से निर्मित 'देह' को, उसके लिए वाञ्छित भोगों का उपभोग कराते हुए, अपने अन्तिम लक्ष्य/आत्म-साक्षात्कार तक पहुँचने में मदद करना ही उसका सही उपयोग हो सकता है । तन्त्रज्ञों की मान्यता है कि तन्त्र की आकृतियों, उपकरणों और प्रयोगों आदि से सांसारिक कार्य/सिद्धियाँ भी संपन्न होती हैं; किन्तु इन सिद्धियों का उपयोग आत्म-साक्षात्कार के निमित्त करना ही तन्त्र का मूललक्ष्य है, उसका परमार्थ है ।

मानव-मन भी त्रिगुणात्मक है; किन्तु 'चित्त' और 'बुद्धि' सत्त्वगुण-प्रधान हैं । मन की वृत्ति अधोगामी है, जबकि चित्त/बुद्धि ऊर्ध्वगामी हैं । हालाँकि 'चित्त'

और 'बुद्धि' की संरचना में भी मन जैसी त्रिगुणात्मकता समाहित रहती है; इसलिए उनमें मौजूद सत्त्व की प्रधानता को विशुद्ध सत्त्व रूप में रूपान्तरित करना सहज होता है। यही वजह रही होगी शायद, जिससे भारतीय 'तन्त्र' और 'योग' आदि में 'मन' को नियन्त्रित करके 'चित्त' को निर्मल करने की बात कही गयी है। यहाँ प्रयुक्त 'निर्मल' शब्द से स्पष्ट होता है कि 'सत्त्व' भी 'मल' है रजस्-तमस् की तरह; क्योंकि, 'गुण' ही तो 'तत्त्व' को गुणित/'मल्टीप्लाइ' करके विस्तार देते हैं। फर्क सिर्फ यह होता है कि 'रजस्' और 'तमस्' से रहित होना, जितना दुष्कर होता है, उस अपेक्षा से काफी-कुछ सहज होता है 'सत्त्व' से रहित होना। आत्म-साक्षात्कार/आत्मज्ञान का अर्थ ही होता है गुणित/विस्तार से स्वयं को ऊपर उठा लेना; यानी, देह-बोध से परे बन जाना।

'तन्त्र' की सारी प्रक्रिया मानव को इसी दिशा में अग्रसर बनाने की त्रि-आयामी प्रक्रिया है, जिसमें विभिन्न प्रयोगों के माध्यम से, मानव में एक ऐसी शक्ति को जागृत किया जाता है, जो उसके अन्तस् की तमाम कोशिकाओं/ग्रन्थियों और चक्रों का भेदन करके उसे सांसारिकता से परे पहुँचा देती है। हम-आप रोज ही देखते हैं कि सौ वाट पॉवर वाले बल्ब पर यदि सहसा एक हज़ार वाट का पॉवर पड़ जाए, तो वह 'फ्यूज' हो जाता है और अधिक वोल्टेज पड़ने पर वह फट तक जाता है। यही स्थिति तन्त्र के प्रयोगों की होती है। 'मारण' आदि प्रयोगों में जितनी तीव्र शक्ति मानव के अन्तस् में जागृत होती है, उसे धारण कर पाना, हर व्यक्ति के वश की बात नहीं होती। इससे व्यक्ति पागल, उन्मत्त तक हो जाता है। कारण होता है उन तान्त्रिकों/साधकों में तीव्र शक्ति को धारण कर पाने की अक्षमता। अधिक मात्रा में शक्ति-जागरण से व्यक्ति का देहान्त तक हो सकता है, आत्म-साक्षात्कार के सन्दर्भ में मारण जैसे तान्त्रिक प्रयोगों की साधना, इस दृष्टि से सार्थक मानी जाती है कि ये प्रयोग, तान्त्रिक में शक्ति की धारणा को समाहित किये रहने की सामर्थ्य/अभ्यास कराते हैं। इन्हीं अभ्यासों के चलते-चलाते, परम शक्ति के आविर्भाव की भाव-भूमिका सुदृढ़ बनती है।

आइन्स्टाइन के ज़माने से ही आज के वैज्ञानिक यह मानने लगे थे कि व्यक्ति-का-अन्तर्मन बेहद / विलक्षण शक्ति वाला है। उसमें विद्युत् शक्ति है। उसकी एक-एक 'कोशिका' बिजली पैदा करती है; यदि एक आदमी की सारी कोशिकाओं द्वारा पैदा की गयी विद्युत् को नापा जाए तो उसका वोल्टेज करोड़ों की संख्या में निकलेगा। यह स्वीकृति इसका प्रतीक है कि आधुनिक विज्ञान ने मानवीय चेतना के सिर्फ अस्तित्व को ही नहीं स्वीकारा; बल्कि उसकी शक्तिमत्ता को भी अपना आदाब बजाया है। हाँ, यह बात अलग है कि चेतन-शक्ति की अभिव्यक्ति के लिए उनके पास 'विद्युत्' के अलावा कोई और दूसरा 'शब्द' नहीं है।

आइन्स्टाइन ने तो यहाँ तक स्वीकार किया है कि वैज्ञानिक प्रगति 'अन्तर्ज्ञान' से ही संभव है; और 'परम सत्य' को केवल विज्ञान से ही जाना जा सकता है। आइन्स्टाइन की इस स्वीकृति में, अन्तर्विरोध का दर्शन कर सकते हैं कुछ लोग; पर वस्तुतः ऐसा है नहीं; बल्कि उनका सुझाव तो यह जान पड़ता है मुझे कि अध्यात्म-विज्ञान से भौतिक/जड़ विज्ञान को जोड़ने की आवश्यकता है। भारतीय योग-साधना की मान्यता है कि सारा ज्ञान-विज्ञान 'मध्यमा' की परिधि में ही संचित है। जब कभी कोई साधक/वैज्ञानिक, जो कुछ, उस क्षेत्र से पा लेता है, वही विलक्षण बन जाता है; दरअसल, एक वैज्ञानिक जिस तल्लीनता, मनोयोग और एकाग्रता से अपने शोध में दत्तचित्त बनता है, और सफल होता है, उसकी उस सारी तल्लीनता को, सिद्धि को, ध्यान-साधना की सिद्धि नहीं माना जा सकता है क्या? चूँकि हर वैज्ञानिक अपनी इस तरह की सिद्धियों को, मात्र श्रम का परिणाम मानता है, इसलिए उसकी इस दृष्टि को 'भौतिकवादी दृष्टि' ही माना जाएगा।

आज अमेरिका, इंग्लैण्ड, रूस, और चेकोस्वलोवाकिया आदि पश्चिमी देशों में परामनोविज्ञान के क्षेत्र में व्यापक शोध हो रहा है। पश्चिमी देश साधन-संपन्न हैं; उनके पास मनीषी/विद्वान् हैं, वैज्ञानिक हैं, जहाँ-कहीं कुछ अलौकिक घटित होता है, वे, उसकी खोज़बीन में लग जाते हैं। वैज्ञानिकों की मान्यता है कि ज्ञान/उपलब्धि, चाहे भौतिक क्षेत्र में हो, अथवा अभौतिक/अलौकिक क्षेत्र में, उसे समाज-कल्याण में लगाना, सर्वोपयोगी बनाना, हर वैज्ञानिक का मूलभूत धर्म/कर्त्तव्य है; क्योंकि, विज्ञान वचनबद्ध है समाज-कल्याण के लिए। यद्यपि वे यह नहीं जानते कि आत्मज्ञान/आत्म-साक्षात्कार, कभी भी सार्वजनिक नहीं हो सका, न हो सकेगा; तथापि उनके इन प्रयासों से, अन्य विषयों की तरह, अध्यात्म-साधना का भी विशिष्टीकरण हो जाएगा; बल्कि यों कहें, जब 'विज्ञान' और 'अध्यात्म' दोनों ही आयाम भली-भाँति स्पष्ट हो जाएँगे; तब संभव है, एक ऐसी संस्कृति का नवोन्मेष हो, जिसमें भौतिकता और आध्यात्मिकता, दोनों ही एक-दूसरे के गले मिलतीं नज़र आयें। इस स्थिति में सारे दर्शनों को एक नयी शक्ल मिलेगी; और समग्र वैज्ञानिक शोधों/अनुसंधानों की दिशा/दृष्टि में आमूल-चूल बदलाव हो जाएगा। अब आवश्यक यही जान पड़ता है कि हम धीरज के साथ देखें, और प्रतीक्षा करें, कि इक्कीसवीं सदी का विज्ञान, मन्त्र, तन्त्र और यन्त्र तथा योग से जुड़ी अध्यात्म-साधना की ऊँचाइयों को किस तरह, किस हद तक छू पाता है। □□

नदी में गोताखारी के फायदे तो बहुत-से हो सकते हैं; किन्तु यदि तू जान की हिफाज़ज चाहता है तो किनारे पर ही रह।

— **शेख सादी**

स्वप्न : हवाई किले या ठोस धरती ?

हमारा संपूर्ण जीवन अस्तित्व और मृत्यु के हाशियों में क़ैद है। इन दो बिन्दुओं के बीच है निद्रा की सीमा-रेखा, उसका अपना जगत् है। स्वप्न इसी जगत् की स्वर्णभूमि है। कोले ने कहा है : निद्रा में आगत विचार एवं बिम्ब ही स्वप्न हैं। फ्रायड के अनुसार स्वप्न अज्ञात मन में प्रवेश का राजमार्ग है। मनुष्य का बहुभाग भीतरी और स्वप्नमयी है, जिसे समझ कर ही हम मानव-चरित्र की जटिलताओं को चीरते हुए यथार्थ तक अपनी पहुँच बना सकते हैं। —**डॉ. रवीन्द्रकुमार जैन**

संभवतः मानव-सभ्यता के आविर्भाव-काल से ही उसकी जिजीविषा के अनेक आधारों में स्वप्न-जिजीविषा का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। प्रत्येक चैतन्यवान्, प्रतिभा-सम्पन्न एवं ऊर्जामय व्यक्ति अपने वर्तमान को चीर कर एक शक्तिशाली एवं सुन्दर भविष्य की कल्पना करता है। यह कल्पना कवि, कलाकार, दार्शनिक, प्रेमी एवं ऋषि-मुनि सभी करते हैं। यही कल्पना बिम्ब, प्रतीक, कल्पना-तरंग, कल्पना-लोक एवं स्वप्न के रूप में हमारे समक्ष आती है। विज्ञान के प्रत्येक आविष्कार के मूल में भी प्राक्कल्पना (हायपोथेसिस), कल्पना (थीसिस), विपरीत कल्पना (एन्टी-थीसिस) एवं परिकल्पना (सिंथेसिस) के तत्त्व रहते ही हैं। अनुसन्धान-के-क्षेत्र में भी इन तत्त्वों की महत्ता है। यहाँ ध्यान में रखने का व्यावर्तक तात्त्विक मुद्दा यह है कि जब किसी निश्चित, ठोस मूल आधार रूपी बीज की कल्पना-तरंग या प्राक्कल्पना में परिणति होती है, तब उसकी स्थिति को तथ्यात्मक स्तर पर समझा जा सकता है, परन्तु जब किसी आधार के परमाणु के अभाव में किसी स्वप्न या कल्पना ने जन्म लिया हो तो उसकी सचाई को कैसे तय किया जाए ?

स्वप्न पर विवेचन अपेक्षित है, अतः यहाँ स्वप्न के ही स्वरूप एवं प्रकारों को विश्लेषित करना उचित होगा। हिन्दू-धर्म, ईसाई-धर्म, इस्लाम-धर्म, यहूदी-धर्म और जैनधर्म में स्वप्न की वास्तविकता को स्वीकार किया गया है। मनोविज्ञान के क्षेत्र में तो स्वप्न-विज्ञान एक शाखा ही है। फ्रायड, एडलर एवं जुंग ने इसे महत्ता प्रदान की है। स्वप्न की परिभाषा के आधार पर उसकी परीक्षा करना उचित होगा। निद्रावस्था में प्राप्त अनुभव स्वप्न है। हमारा समस्त जीवन अस्तित्व और मृत्यु के हाशियों में घिरा है। इन दोनों के बीच निद्रा की एक सीमा-रेखा है। निद्रा का अपना एक अलग ही संसार है। इसी निद्रा-जगत् की स्वर्णभूमि है स्वप्न। कोले ने ठीक ही कहा है कि 'निद्रा में आगत विचार एवं बिम्ब ही स्वप्न हैं'। 'चेम्बर्स डिक्शनरी' (पृ. २१८४; ३२१) में स्वप्न को निद्रागत विचार एवं कल्पनाओं की एक शृंखला माना गया है।

स्वप्न का अनुभव निद्रावस्था में ही होता है। वह निद्रा चाहे दिन की हो, या रात की। सामान्य प्रचलित मान्यता यह है कि प्रातःकालीन अर्थात् ब्राह्म मुहूर्त की निद्रा में देखे गये स्वप्न सच होते हैं, अन्य समयों के स्वप्नों को लोग उतना महत्त्व नहीं देते। धर्म-ग्रन्थों में भी ऐसा ही माना गया है। तीर्थंकरों की माताओं को भी ब्राह्म मुहूर्त में १६ या १४ स्वप्न ही दिखे थे। ब्राह्म मुहूर्त का समय स्वच्छ एवं निर्विकार निद्रा का बताया गया है; परन्तु स्वप्न किसी भी समय देखा गया हो, वह निराधार या सर्वथा असत्य नहीं हो सकता, यह मनोवैज्ञानिकों का मन्तव्य है। स्वप्न-दृष्टा का अपना एक निजी संसार होता है, जिसमें वह निर्भय एवं बन्धन-मुक्त हो कर विचरण करता है। मानव की अनेक आकांक्षाएँ दमित एवं कुण्ठित रह जाती हैं। उन्हें वह किसी से कह भी नहीं पाता है। इन्हीं का साक्षात्कार वह प्रायः स्वप्न में करता है। स्वप्न में हम अपनी सृष्टि के सम्राट् होते हैं। स्वप्न प्रायः दृश्य-बिम्बों से भरपूर होते हैं; कुछ श्रवण-बिम्ब भी आ जाते हैं। अन्य इन्द्रियों के बिम्ब प्रायः स्वप्न में नहीं आते। स्वप्न में वे ही वस्तुएँ, क्रियाएँ एवं व्यक्ति दृष्टिगोचर होते हैं, जिन्हें हमने कभी-न-कभी अवश्य देखा है, भले ही उनका सम्पर्क-सूत्र इतना महीन हो कि जिसे हम पकड़ न सकें। स्वप्न सुखद भी होते हैं और दुःखद भी। कुछ स्वप्नों की भयानकता का बहुत देर तक व्यापक प्रभाव हमारे मन पर रहता है। कुछ स्वप्नों की संगति नहीं बैठती और हम उन्हें तुरन्त भूल जाते हैं। स्वप्नों का भी एक विचित्र जगत् है। इसके अन्तर्गत हम कुछ ही क्षणों में सम्पूर्ण जीवन एवं जगत् की यात्रा कर लेते हैं। स्वप्न देश-काल के बन्धनों से मुक्त है। स्वप्न प्रायः अलग-अलग आयु-वर्गों में परिस्थिति और रुचि के अनुसार अलग-अलग होते हैं। स्वप्न प्रायः दुर्लभ या दुष्कर कार्य का ही देखा जाता है; अतः सहसा उसकी असलियत पर विश्वास नहीं होता।

उक्त विवेचन के साथ यह भी सामान्य धारणा है कि स्वप्न उद्देश्य-रहित विचार एवं मनमाने ढंग की कल्पना है, जिसकी प्रामाणिकता प्रायः असंभव है। असंभव को संभव और दुर्लभ को सुलभ मान कर इसी में तृप्ति-प्राप्ति का क्रम एक आलसी जीवन का स्पष्ट लक्षण है। इसे ही मनोराज्य या दिवास्वप्न भी कहा गया है।

स्वप्न को निराधार एवं मिथ्या भी माना गया है। वेब्सटर ने अपने कोश में स्वप्न के विषय में कहा है—'ए केसल इन द एयर' अर्थात् हवाई किला। इसी धारणा के कारण किसी कमज़ोर विचार या निराधार बात को 'स्वप्न' कह कर उपेक्षित भी कर दिया जाता है।

यहाँ ध्यान देने की मुख्य बात यह है कि किसी स्वप्न का आधारभूत मूलबीज स्वप्न-दृष्टा के मन में, किसी-न-किसी रूप में रहा है; स्वप्न उसी का

विकसित रूप है। वास्तविक कठोरता का जगत् इस सूक्ष्म सत्य को स्वीकार नहीं करता।

स्वप्न के प्रकार एवं तत्त्वों को भी समझना आवश्यक है।

कल्पना (इमेजिनेशन) – किसी भी स्वप्न की निर्मिति में हमारी मानसिक क्रिया का प्रमुख हाथ होता है। कल्पना एक बिम्बविधायिनी सृजनात्मिका शक्ति है। कल्पना हमारे अतीत की स्मृतियों पर आधारित होती है और वह भविष्यत् के प्रति उन्मुख होती है। कल्पना विशुद्ध वैयक्तिक होती है। यह कल्पना एवं कल्पना-तरंग स्वप्न की जननी है। मानव प्रत्यक्षतः सीमित एवं लघु है, वह अपनी छोटी-छोटी कामनाएँ भी पूरी नहीं कर पाता, अतः वह सहज ही कल्पना-जीवी हो जाता है। 'सपने में राजपद पाया' – एक मज़दूर के मन में राजा बनने का स्वप्न था, वह निद्रा द्वारा पूरा भी हुआ। इसमें सत्य इतना ही है कि मज़दूर के मन का सत्य स्वप्न में प्रकट हुआ, वह वास्तव में राजा बना या नहीं, यह यहाँ अप्रासंगिक है।

दिवास्वप्न – 'दिवास्वप्न' शब्द से सामान्यतया दिन में देखे गये स्वप्न को ही समझा जाता है और इसे निराधार एवं मिथ्या भी माना जाता है; परन्तु वस्तुतः यह अनिद्रित अवस्था की एक सूझ, कल्पना या स्वप्नाभा है। दिन का इससे कोई संबन्ध नहीं है।

भयंकर मानसिक तनाव या शिथिलता के किसी क्षण में हमारा मस्तिष्क विशृंखलित हो कर न जाने क्या-क्या अनहोनी बातें सोचने लगता है। हम धीरे-धीरे मूल समस्या से हट कर बहुत दूर चले जाते हैं। उस समय हम काफी भटके-से लगते हैं; परन्तु इस भटकन में भी चिन्तन के साहचर्य की कड़ी खोजी जा सकती है। इस मुक्त साहचर्य (फ्री एसोसिएशन) की प्रक्रिया में कभी जीवन की विस्मृतियाँ खिलखिला उठती हैं। दिवास्वप्न द्वारा मानव का पराजित या निराश मन स्वयं को, किसी प्रकार काल्पनिक स्तर पर ही सही, जीवित रखता है। दिवास्वप्न वास्तव में संसार की कठोर वास्तविकता से पलायन है। वह क्षण-भर को ही सही

हमें तृप्ति देता है और कुण्ठा से बचाता है। हारे-थके मानव का एक सहारा है दिवास्वप्न।

दृष्टि-भ्रम (इल्यूज़न) – मिथ्या प्रत्यक्ष ज्ञान दृष्टि-भ्रम या मति-भ्रम है। तथ्य (फैक्ट) सत्य (ट्रुथ) रूपी साध्य की प्राप्ति में साधन हैं; परन्तु कभी-कभी यह साधन साधक न हो कर बाधक भी होता है। तथ्य से बहुत गहरा एवं भावात्मक होता है सत्य। क़ानून तथ्य पर आधृत है, अतः बहुधा ग़लत फ़ैसले भी देता है। भ्रान्ति-ग्रसित व्यक्ति प्रायः रस्सी में साँप को देखने लगता है। स्वप्न भी प्रायः भ्रान्ति-जीवी होता है। स्वप्न प्रत्यक्ष पर आधारित होने पर भी उसका अनुभव प्रत्यक्ष के अभाव में होता है; अतः स्वप्न भ्रान्ति की अपेक्षा मति-भ्रम के अधिक निकट है। स्वप्न के अतिसूक्ष्म वास्तविक तन्तु को समझ पाना बहुत कठिन है, अतः भ्रम की स्थिति बनती है।

मति-भ्रम (हेल्यूसिनेशन) – किसी पदार्थ की अनुपस्थिति में भी उस पदार्थ को देखना, या उससे बातें करना मति-भ्रम है। दृष्टि-भ्रम में विपरीत ज्ञान हो जाता है, जबकि मति-भ्रम में सर्वथा अस्तित्वहीनता है। इन दोनों ही क्रियाओं में अनुभूत ज्ञान अयथार्थ है। मृग-मरीचिका के समान स्वप्न कभी-कभी हमें बहुत भटकाता भी है। वास्तव में मति-भ्रम भी तो गहरी-प्यास की पूर्ति के अभाव के कारण ही होता है, अतः इसकी भी असलियत को समझना होगा। जब मानव पागल हो जाता है तब सभी उसे पागल कहते हैं; परन्तु वह पागल क्यों हुआ, यह जाने बिना, उसे पूरी तरह नहीं समझा जा सकता।

स्वप्न और समाज – मानव सृष्टि की सर्वोत्तम कृति है। वह बुद्धिवान्, प्रतिभा-सम्पन्न एवं परम कल्पनाशील है। विकास के क्रम में वह सृष्टि का आधुनिकतम प्राणी है। वह पच्चीस लाख वर्षों के जीवन-विकास का परिणाम है। वह स्वयं अपने जीवन और भाग्य का नियामक है। उसकी वैयक्तिक सत्ता है और वह समाज-सापेक्ष भी है। वह सामाजिक प्राणी है। वह सामाजिक साहचर्य से ही अपने जीवन को सार्थक कर सकता है; अतः वह समाज का ही एक अंग है।

स्वप्न मानव का निजी अनुभव है। मानव स्वयं जब समाज में अपने स्वप्नगत अनुभवों को प्रकट करता है, तभी समाज उसे अपनी प्रतिक्रिया से अवगत कराता है। वास्तव में स्वप्न मानव की सामाजिक अनुभवों पर व्यक्त प्रतिक्रिया है; अतः स्वप्न में सामाजिकता का सन्दर्भ है ही। वास्तव में व्यक्तिगत माध्यम से स्वप्न की सामाजिकता को विश्व-मानव-समाज तक परखा जा सकता है। विश्व के प्रायः सभी देशों में स्वप्न की वैयक्तिकता, सामाजिकता, ईश्वरीयता एवं व्यापकता को स्वीकार किया गया है। कतिपय देशों की स्वप्न-संबन्धी मान्यताओं की एक झलक यहाँ काफी होगी।

यूनान – विश्व के प्राचीनतम देशों में और उनकी संस्कृतियों में यूनान का स्थान अग्रणी रहा है। स्वप्न के प्रति यूनान की दृष्टि प्रमुखतः धार्मिक ही रही। बाद में वह आम व्यवसाय की चीज भी बन गया। होमर के प्रसिद्ध महाकाव्य 'इलियड' और 'ओडेसी' में पुरुषों और स्त्रियों के अनेक स्वप्नों का वर्णन है। स्वप्न को ईश्वरीय सन्देश की समता दी गयी है। प्लेटो, पेथागोरस एवं पिण्डार ने भी स्वप्न की सत्ता को स्वीकार किया है।

मोसोपोटामिया एवं बाबीलोनिया की संस्कृति के सूचक कीलक अक्षरों में लिखित शकुन-परीक्षण संबन्धी बातों में स्वप्नों का भी उल्लेख है। वहाँ स्वप्न-द्वारा मानव अपना भावी कार्यक्रम तय करता था। युद्ध आदि का निश्चय भी स्वप्न-संकेत पर होता था।

प्राचीन मिस्र की संस्कृति विख्यात थी। वहाँ भी स्वप्न को ईश्वरीय सन्देश माना गया है। मिस्र में नर-नारी अपनी बीमारी, वैवाहिक समस्या एवं अन्य जटिल समस्याओं के समाधान के लिए धर्म-स्थलों में जा कर सो जाते थे और स्वप्न में ईश्वरीय आदेश की प्रतीक्षा करते थे। इनके देवी-देवता (सूर्य आदि) आदेश देते थे। मन्दिर का पुजारी इसमें सहायता करता था।

बर्मा एवं तिब्बत – बर्मा में यह धारणा है कि प्रत्येक शरीर में एक तितली-आत्मा है, जो मानव के सोते समय बाहर निकल कर चक्कर लगाती है और अनेक प्रकार के स्वप्न-सन्देश लाती है। ये स्वप्न पूर्वरात्रि, मध्यरात्रि एवं प्रातः-कालीन रात्रि के अनुसार वर्गीकृत होते हैं और शुभाशुभ बताते हैं। तिब्बत में भी स्वप्न पर अटूट विश्वास रहा है। शुभाशुभ स्वप्न की व्याख्या भी वहाँ बहुत हुई है।

चीन और जापान में स्वप्न-सिद्धान्त के प्रति शकुन आदि के रूप में प्राचीन-काल में मान्यता रही है। शकुन का आधार स्वप्न ही होता था।

ग्रेट ब्रिटेन – इंग्लैण्ड में दिव्यदृष्टि (सेकंड साइट), फ्रांस में अन्तर्दृष्टि और जर्मनी में वोरस्पुक नामों से स्वप्न-जनित घटनाओं को मान्यता प्राप्त है। सेन्ट अगनेस के समय में श्रद्धा-सहित मनन करने की प्रथा थी। अनेक काव्यों में इसका भव्य वर्णन है। ब्रिटेन में शकुन और अन्धविश्वास आज भी प्रचलित हैं। राजकीय स्वप्न पुस्तक (रॉयल ड्रीम बुक) इस सन्दर्भ में दृष्टव्य है। स्वप्न में इन्द्रधनुष, दैत्य, जलता हुआ चूल्हा, धान्य आदि के दर्शन की तरह-तरह से व्याख्या की गयी है।

इस्लाम – मुसलमान जाति के सभी देशों में स्वप्न को बहुत मान्यता मिली है। अब्दुलघानी नामक लेखक (१६४१-१७३१) ने स्वप्न-संबन्धी विश्वकोश ही रचा। इस कोश में स्वप्न में देखी गयीं वस्तुओं को वर्णमाला के क्रम में रख कर

उनके गुण-दोष बताये गये हैं। स्वप्न तीन प्रकार के माने गये हैं: (१) ईश्वरीय सन्देश-वाहक स्वप्न; (२) शैतान की चेतावनी वाले स्वप्न; (३) व्यक्ति के अपने स्वप्न।

भारत (हिन्दू-धर्म) – भारतवर्ष प्रमुख रूप से हिन्दू सभ्यता एवं संस्कृति का प्राचीनतम देश है। इसमें वैदिक, श्रमण, इस्लाम आदि अनेक सभ्यताएँ अन्तः-स्यूत हैं। समस्त भारत में थोड़े-बहुत अन्तर के साथ स्वप्न-संबन्धी मान्यताएँ प्रायः एक-सी हैं। बंगाल, उड़ीसा, केरल और कश्मीर में स्वप्न और जादू-टोना (अन्ध-विश्वास) पर अपेक्षाकृत अधिक विश्वास रहा है। ये प्रान्त प्रगति एवं परम्परा के विपरीत ताने-बाने से बुने हुए हैं। प्रातःकालीन स्वप्न प्रायः सच माने गये हैं, जबकि पूर्वरात्रि एवं मध्यरात्रि के या दिन के स्वप्नों पर उतनी आस्था नहीं है। शुभ स्वप्न किसी से कह दिये जाने पर फलदायी नहीं होता और अशुभ स्वप्न कह दिये जाने पर नष्ट हो जाता है। सभी भारतीय धर्मों में स्वप्न को स्वीकृति मिली है। भारतीय स्वप्न-मीमांसा तो एक समुद्र ही है।

आधुनिक मनोविज्ञान मानव-मन की अनुभूतियों एवं व्यवहारों को समझने का विज्ञान है। स्वप्न को भी विज्ञान मानव-मन का ही व्यापार मानता है। स्वप्न को ईश्वर, दर्शन या कायिक विज्ञान से जोड़ना उचित नहीं है। आधुनिक मनो-विज्ञान अनुभव-मूलक है। स्वप्न का संबन्ध मूलतः मन से है। फ्रायड के अनुसार स्वप्न अज्ञात मन में प्रवेश करने का राजमार्ग है। अचेतन मन की इच्छापूर्ति स्वप्न से होती है। अज्ञात मन की इच्छाएँ ही स्वप्न की कारण हैं। बचपन से ले कर बड़ी उम्र तक हमारे मन की अनेक इच्छाएँ-आकांक्षाएँ सामाजिक, पारिवारिक एवं प्रशासनिक कारणों से दमित रह जाती हैं। ये मरती नहीं हैं। अवसर पा कर स्वप्न-रूप में ये प्रकट होती हैं। इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि स्वप्न को जादू या अन्ध-विश्वास या ईश्वरीय चमत्कार के रूप में समझना उचित नहीं है। स्वप्न का वास्तविक विश्लेषण करके उसमें व्याप्त मूल भाव को समझा जा सकता है। मानव का बहुभाग, जो भीतरी और स्वप्नगर्भी है, उसे समझ कर ही हम मानव-चरित्र की असलियत तक पहुँच सकते हैं। इसके अभाव में मानव के विषय में हमारा ज्ञान अव्यावहारिक एवं सतही ही कहा जाएगा।

स्वप्न को उसके सही सन्दर्भ में एक विशिष्ट मनोवैज्ञानिक ही समझ सकता है; अतः यह स्पष्ट है कि स्वप्न मानव-जीवन का अविभाज्य अंग है और वह उसकी भीतरी स्थितियों का दिग्दर्शक भी है। हम प्रायः स्वप्न की बीजभूत गहराई तक आते ही नहीं, और आतुरता में उसे अस्वीकृत कर मिथ्या कह देते हैं।

□□

टोने-टोटके : विकृत मन की परछाँहियाँ

जैन वाङ्मय में टोने-टोटकों का कहीं कोई उल्लेख नहीं है । इससे स्पष्ट है कि जैनाचार्यों ने टोने-टोटकों तथा झाड़-फूँक का जीवन में कोई स्थान नहीं माना है । कुछ लोग कार्य-सिद्धि के लिए देवी-देवताओं का आह्वान तथा स्तुतिगान करते हैं; लेकिन यह भी मिथ्या कृत्य है जिसका जैनधर्म की अन्तरात्मा से कोई सरोकार नहीं है ।

–डॉ. अनिलकुमार जैन

जब कभी मैं जादू-टोने, मन्त्र-तन्त्र के बारे में विभिन्न लोगों से बात करता हूँ, तब हमेशा विभिन्न मत सुनने को मिलते हैं । एक ओर कुछ लोग इनका माहात्म्य कहते नहीं थकते, दूसरी ओर सुधारवादी लोग इसे मात्र ढोंग, अन्धविश्वास कह कर इनकी उपेक्षा और इनका उपहास करते हैं । एक ओर हमारे बहुत से साधु भी इस क्षेत्र में बहुत उलझ गये हैं तथा आम जनता को इनके माध्यम से लाभ पहुँचाने का श्रम करते हैं, दूसरी ओर कुछ चिन्तक तथा विचारक इन सब का विरोध करते हैं । आजकल तो झाड़-फूँक, टोना-टोटका तथा मन्त्र-तन्त्रों की बहुत-सी दुकानें भी खुल गयी हैं तथा इन्हें वैज्ञानिक दृष्टिकोण से समझाने का प्रयत्न भी किया जा रहा है । ऐसी स्थिति में आम जनता भ्रमित है; अतः वस्तु-स्थिति का पता लगाने के लिए हमें दोनों पक्षों पर खुल कर विचार करना चाहिये ।

बहुत-से सुबह-से-शाम तक विभिन्न टोनों-टोटकों तथा मन्त्र-तन्त्र आदि के चक्कर में पड़े रहते हैं । प्रातः उठते ही हथेलियाँ चूमते हैं । घर से बाहर निकलने से पहले रुद्राक्ष की माला तथा मूँगे की अँगूठी पहिनते हैं । शकुन-अपशकुन तथा दिशा-शूल का विचार करते हैं । प्रतिदिन क़िस्म-क़िस्म के मन्त्रों का जाप करते हैं, हवन करते हैं; तावीज़ पहनते हैं । इस सब की पीठ पर मात्र एक कारण नज़र आता है– पैसा । किसी भी तरह घर में अधिक-से-अधिक पैसा (धन) आना चाहिये ।

टोने-टोटकों का उपयोग बीमारियों को दूर करने के लिए भी किया जाता है । झाड़-फूँक करना, और नीम आदि गले में बाँधना बहुत सामान्य क्रियाएँ हैं । बच्चों की नज़र उतारने की घटनाएँ भी सामान्य हैं । ऐसी आम धारणा है कि यदि किसी बच्चे पर किसी की कुदृष्टि पड़ जाए तो बच्चा बीमार पड़ जाता है और कुछ टोटकों से वह ठीक हो जाता है ।

विभिन्न कार्यों-की-सिद्धि-के-लिए विभिन्न मन्त्रों का प्रयोग किया जाता है। पुत्र-प्राप्ति, धन-प्राप्ति, यश-प्राप्ति, वशीकरण इत्यादि न जाने कितने कार्यों के लिए मन्त्रों का प्रयोग कया जाता है । कुछ लोग दूसरों का अहित करने के लिए भी मन्त्रों का प्रयोग करते हैं। मूठ फेंकने की कई कहानियाँ मैंने सुनी हैं। कई लोगों ने मूठ को उड़ते हुए भी देखा है।

इधर कुछ लोग झाड़-फूँक, रुद्राक्ष, मूँगे तथा तन्त्र-मन्त्र के वैज्ञानिक आधार खोजने का प्रयत्न भी कर रहे हैं। उनकी मान्यता है कि झाड़-फूँक करने पर रोगी के शरीर के हानिकारक जीवाणु नष्ट हो जाते हैं, जिससे रोगी स्वस्थ होने लगता है। रुद्राक्ष तथा मूँगे का प्रकाशीय प्रभाव होता है । इन्हें पहिनने से उन प्रकाश-किरणों तथा तरंगों का इनके द्वारा अवशोषण हो

जाता है, जो मानव-शरीर के लिए हानिकारक हैं। मन्त्रों के संबन्ध में कहा जाता है कि उनके उच्चारण से एक विशेष प्रकार का वायुमण्डल/वातावरण तैयार हो जाता है, जो कर्म-वर्गणाओं पर भी प्रभाव डालता है। परमाणु में बहुत शक्ति है; अत: यदि मन्त्रों की विशेष ध्वनियों/बीजाक्षरों का सही-सही उच्चारण किया जाए तो निश्चित रूप से वातावरण को बदला जा सकता है।

यदि उपर्युक्त बातों को सही मानें तो ये निष्कर्ष सामने आते हैं–

(१) टोना, टोटका, रुद्राक्ष, मूंगा आदि स्वास्थ्य पर प्रभाव डालते हैं।

(२) मन्त्रों में शक्ति होती है तथा वे मानव-जीवन में परिवर्तन लाने में समर्थ हैं।

(३) शकुन-अपशकुन कार्य सिद्ध होने, या न होने की पूर्व सूचना देते हैं।

अब हम दूसरे पक्ष की ओर ध्यान देते हैं। मन्त्रों की क्षमता के बारे में कविवर दौलतरामजी कहते हैं: 'मणि मन्त्र-तन्त्र बहु होई, मरते न बचावें कोई।' कई अन्य विद्वानों ने भी मन्त्र-तन्त्र आदि को विशेष महत्त्व नहीं दिया है, बल्कि उनका मानना है कि जो कर्म हमने बाँधे हैं, उनका फल तो भोगना ही पड़ेगा। एक कवि लिखते हैं: 'कर्म लिखी सोई होय, मिटत नहिं मेटे तें'।

हिन्दी के महान् साहित्यकार तथा विचारक भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से सभी लोग भली-भाँति परिचित हैं। उन्होंने 'भारत-दुर्दशा' नाटक लिखा है, जिसमें उन्होंने बताया है कि भारत की दुर्दशा के मुख्य कारण यहाँ व्याप्त आलस्य, रोग, तथा अन्धकार ही हैं; यहाँ 'अन्धकार' से उनका तात्पर्य जादू-टोना, मन्त्र-तन्त्र आदि से ही है। भारतवासी अन्धविश्वासी हो कर इन सबके चक्कर में बुरी तरह फँसे रहते हैं तथा उन्हें सत्यता का भान तक नहीं हो पाता है। भारत दुर्दशा का एक मुख्य कारण यही है। बहुत से अन्य विद्वानों ने भी ऐसे ही विचार व्यक्त किये हैं।

एक दिलचस्प बात और यह है कि जो लोग शकुन-अपशकुन, जादू-टोना या मन्त्र-तन्त्र में विश्वास नहीं करते वे कहीं अधिक सुख-शान्ति से जीवन बिताते हैं। भारत में कई जातियाँ हैं जो विवाह-शादी जैसे अवसरों पर भी किसी तिथि, या दिन का विचार नहीं करती हैं तथा सुखमय जीवन बिताती हैं। दिशाशूल तो आजकल बिल्कुल व्यर्थ की बात लगती है। हर रोज हर दिशा में रेल-गाड़ियाँ/बसें चलती हैं तथा लाखों यात्री सफर करते हैं। क्या इन पर दिशाशूल कोई असर नहीं डालता?

यहाँ हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि–

(१) मन्त्र आदि किसी की मृत्यु टालने में सहायक नहीं हैं।

(२) जैसे कर्म बाँधे हैं, वैसा ही उनका फल भोगना होगा।

(३) जो लोग जादू-टोने तथा मन्त्र-तन्त्र में विश्वास रखते हैं, वे अन्धविश्वासी हैं, अन्धकार में हैं, सत्य से कोसों दूर हैं।

(४) जो लोग टोने-टोटके, शकुन-अपशकुन या मन्त्र-तन्त्र को नहीं मानते हैं, वे भी निष्कण्टक रहते हैं। सामान्यतया उन्हें स्वस्थ ही पाया जाता है।

जैन दृष्टि

जादू, टोना, टोटका तथा मन्त्र-तन्त्र के समर्थन तथा विरोध दोनों पक्षों पर विचार करने के बाद कोई भी असमंजस में पड़ सकता है; अत: इसके स्पष्टीकरण के लिए हमें इन सब बातों को जैनधर्म के परिप्रेक्ष्य में भी देखना चाहिये।

जैन साहित्य में कई मन्त्र तथा स्तोत्र मिलते हैं। 'णमोकार मन्त्र' को महामन्त्र

माना गया है। 'भक्तामर स्तोत्र' भी बहुत प्रसिद्ध है। और भी कई मन्त्र तथा स्तोत्र हैं। इन सब में पंच परमेष्ठी को नमस्कार, भगवान् आदिनाथ या/तथा अन्य तीर्थंकरों का गुणानुवाद है। यदि सच्चे मन से इन मन्त्रों तथा स्तोत्रों का पाठ किया जाए तो ये मोक्षमार्ग में सहायक सिद्ध हो सकते हैं; लेकिन सामान्यतः लोग इन्हें लौकिक, सुख की प्राप्ति के लिए ही काम में लाते हैं। इन मन्त्रों के कई यन्त्र भी बनाये गये हैं। मोक्ष-प्राप्ति के उद्देश्य से इनका चिन्तन-मनन उचित है; लेकिन लौकिक सुख की प्राप्ति के लिए इनका प्रयोग ग़लत है; इससे अशुभ कर्म का बन्ध होता है। जो दवा रोगी को ठीक करने के काम आती है, ग़लत प्रयोग से वही दवा स्वस्थ मनुष्य के लिए ज़हर का काम करती है।

जैसे गेहूँ की खेती करने वाले को भूसा अपने-से-ही मिल जाता है, वैसे ही मोक्ष-की-प्राप्ति के उद्देश्य से कोई भी कार्य किया जाए उसमें लौकिक सुख स्वयमेव मिल जाते हैं। कोई भी व्यक्ति भूसा पाने के उद्देश्य से खेती नहीं करता; अतः जो भी व्यक्ति लौकिक सुख पाने के उद्देश्य से मन्त्र-पाठ आदि करता है, वह मूर्ख है तथा पाप-काबन्ध करता है। वैसे भी जैन-धर्म में लौकिक सुख पाने के उद्देश्य से किसी कार्य-विशेष को करने का कोई प्रावधान नहीं है। इस प्रकार का कुछ साहित्य यदि मिल भी जाए तो उसे जैनधर्म का अविभाज्य अंग नहीं मानना चाहिये।

बहुत-से लोग कार्य-सिद्धि के लिए पशु-बलि, नरबलि तक देते हैं। यह साक्षात् हिंसा है तथा जीवन को नरक बनाने वाली हैं। यदि कोई व्यक्ति किसी दूसरे को हानि पहुँचाने के उद्देश्य से जादू-टोना, तन्त्र-मन्त्र आदि का प्रयोग करता है तो वह अधर्मी है तथा आर्त-रौद्र परिणामी है। आजकल सामान्यतया लोग धन-प्राप्ति के उद्देश्य से ही तन्त्र-मन्त्र आदि का उपयोग करते हैं। जैनधर्म में इनके लिए कोई स्थान नहीं है। परिग्रह पाँच पापों में-से एक है; अतः उसके लिए किया गया कोई भी उद्यम पाप-बन्ध का कारण है।

जैन साहित्य में कहीं भी जादू-टोनों या टोटकों का उल्लेख नहीं है। इससे स्पष्ट है कि जैनाचार्यों ने टोनों-टोटकों तथा झाड़-फूँक का जीवन में कोई स्थान नहीं माना है। कुछ लोग विभिन्न कार्यों की सिद्धि के लिए देवी-देवताओं का आह्वान तथा स्तुति-गान करते हैं, लेकिन यह भी मिथ्या कृत्य है तथा जैनधर्म की अन्तरात्मा से इसका कोई सरोकार नहीं है।

जैनधर्म के अनुसार किसी भी कार्य-की-सिद्धि द्रव्य, क्षेत्र, काल, तथा भाव की अनुकूलता होने पर ही होती है। यहाँ भावों की मुख्यता है। भावों को व्यक्ति के विचारों से, उसके विश्वास से जोड़ा जा सकता है। व्यक्ति के मस्तिष्क पर मनोवैज्ञानिक प्रभाव पड़ता है/पड़ सकता है यह सामान्य अवधारणा है। किसी रोगी का अच्छे डॉक्टर द्वारा अच्छे-से-अच्छा उपचार कराया जाए, लेकिन यदि उसे उस डॉक्टर पर श्रद्धा या विश्वास नहीं है तो देखा गया है कि रोगी पर उसकी दवा कम असर करती है। दूसरी ओर यदि किसी रोगी को किसी डॉक्टर-विशेष पर विश्वास है तो डॉक्टर के नब्ज़ पकड़ते ही वह अपने को कुछ हलका महसूस करने लगता है। किसी व्यक्ति की कार्य-सिद्धि भले ही अन्य कारणों से हुई हो, लेकिन यदि वह झाड़-फूँक, टोने-टोटके, या जन्तर-मन्तर के उपचार में विश्वास रखता है तो वह यही मानेगा कि उसकी कार्य-सिद्धि इन्हीं कारणों से हुई है।

महाकवि तुलसीदास ने 'रामचरित मानस' में लिखा है: 'जाकी रही भावना जैसी, प्रभु मूरत देखी तिन तैसी'। वास्तविकता यही है। झाड़-फूँक, नीम, रुद्राक्ष,

तथा मूंगा आदि प्राकृतिक उपचार हो सकते हैं, लेकिन हमारी समझ में किसी को भी टोने-टोटके तथा मन्त्र-तन्त्र के चक्कर में नहीं पड़ना चाहिये; इससे व्यक्ति के विचार संकुचित हो जाते हैं और उसका पुरुषार्थ घट जाता है।

प्रेत-बाधा

जहाँ देश एक ओर इक्कीसवीं सदी के आगमन का बेसब्री से इन्तज़ार कर रहा है, वहाँ दूसरी ओर अनेक भारतवासी आज भी प्रेत-बाधा के चक्कर में पड़े हुए हैं। विज्ञान-के-इस युग में प्रेत-बाधा का जिक्र हास्यास्पद लगता है; लेकिन चूँकि आज भी बहुत सारे जैन इस प्रेत-बाधा-जैसे अन्ध-विश्वास के शिकार हैं, अतः इस मुद्दे पर विचार करना प्रासंगिक लगता है।

मुझे कुछ अतिशय तीर्थ-क्षेत्रों पर जाने के कई अवसर मिले हैं। मैं यहाँ मुख्यतः दो अतिशय क्षेत्रों की ही बात करूँगा। ये क्षेत्र हैं – जयपुर के निकट पद्मपुरा तथा अलवर के निकट तिजारा। इन क्षेत्रों में ऐसी कई औरतों को देखा जा सकता है, जिनके सिर के बाल बिखरे रहते हैं तथा जो भगवान् की अतिशय-युक्त प्रतिमा के आगे बैठ कर बहुत तेजी से सिर हिलाती रहती हैं। पूछने पर पता चला कि इनके सिर पर (तीर्थंकर) भगवान् की सवारी आती है। यह जान कर बहुत आश्चर्य हुआ कि सिद्धशिला में विराजमान हमारे भगवान् अपने भक्तों के सिर पर 'सवारी' ले कर क्यों आते हैं?

मेरे विचार में धर्म का यह अतिविकृत रूप है। सही मायनों में ऐसे लोग जैनधर्म के मूलभूत सिद्धान्तों की जड़ें काटने में लगे हुए हैं। हमने अतिशय क्षेत्रों को तमाशा-घर (नाटक-घर) बना दिया है। लोगों का विश्वास है कि जिन लोगों को प्रेत-बाधा होती है यदि वे इन अतिशय क्षेत्रों में आयें तो 'भगवान्-की-सवारी' के सिर पर आने से प्रेत-बाधा दूर हो जाती है। हमें यहाँ यह तो विचार करना ही चाहिये कि आखिर ये 'प्रेत' क्या हैं तथा ये लोगों को तंग क्यों करते हैं?

कुछ लोगों का मानना है कि घर के बुजुर्ग लोग मृत्यूपरान्त, या वे लोग जिनकी अकाल मृत्यु हो जाती है, प्रेत-योनि में जन्म लेते हैं। यह मिथ्या धारणा है। क्या हमारे पुरखों ने इतने पाप किये हैं कि उन्हें इस योनि में जन्म लेना पड़ा है? आखिर ये अपने ही लोगों को क्यों सताते हैं?

जैन धर्मानुसार चार गतियों में-से एक देवगति है। देवों के चार प्रकार हैं–– कल्पवासी, भवनवासी, ज्योतिष तथा व्यन्तर। व्यन्तर देव अति निम्नकोटि के होते हैं। ये सामान्यतः खाली-पुराने भवनों, जंगलों तथा निर्जन-विजन स्थानों में रहते हैं। ये वैक्रियक ऋद्धि के धारक होते हैं तथा सामान्यतया इन्हें देखा नहीं जा सकता है। इसके बावजूद भी ये हीन संहनन के धारी होते हैं तथा मनुष्यों से डरते भी हैं। इन्हें ही भूत-प्रेत आदि नामों से जाना जाता है।

व्यन्तर योनि में जन्म लेने वाला जीव अपने पूर्वभव में दुष्ट प्रवृत्ति का रहा होता है। तमाम खोटे कार्य इसने किये होते हैं; अतः इस योनि में आने के बाद भी उसकी प्रवृत्ति विकृत ही बनी रहती है; अतः मौका पाते ही ये सामान्य जन को हानि भी पहुँचाते हैं; लेकिन भूत-प्रेतों के जैसे किस्से सुनते हैं तथा प्रेत-बाधा दूर करने के जो करिश्मे सुनते हैं, वे सब ग़लत हैं। सामान्यतः ये व्यन्तर जन किसी से कुछ भी नहीं कहते हैं; चुपचाप अपनी ज़िन्दगी बसर करते हैं।

भूत-प्रेतों के बारे में एक बात मशहूर है कि ये सबको नहीं सताते; बल्कि उन्हें

सताते हैं — जिन्हें अधिक डर लगता है, या जिनके दिल कमज़ोर होते हैं। ये भी लोगों को पहले से ही भाँप लेते हैं कि वे उन पर हावी हो सकते हैं या नहीं। अन्य शब्दों में, जो लोग इनके अस्तित्व में विश्वास करते हैं, या अधिक सोचते हैं, या इनकी शक्ति को मानव-शक्ति की तुलना में अधिक मानते हैं, उन्हें ही ये सताते हैं। दूसरी ओर, जो लोग इनके अस्तित्व को नहीं मानते, उनके बारे में आज तक यह नहीं सुना गया है कि किसी भूत ने उन्हें सताया है।

जिस तरह कुत्ता, बिल्ली, गाय, मनुष्य आदि योनियाँ हैं; उसी तरह भूत, प्रेत, या व्यन्तर योनियाँ भी हैं। यदि हम किसी कुत्ते, गाय, या मनुष्य को नित्य प्रति भोजन करायें, उसे उचित सम्मान दें तो वह प्रतिदिन हमारे घर आयेगा; और यदि हम किसी व्यक्ति को बहुत विद्वान्, अपने से अधिक शक्ति वाला या भगवान् का अवतार मानें तो निश्चित रूप से वह हम पर पूरी तरह हावी हो जाएगा तथा हमें अपने इशारों पर नचाने लगेगा। और यदि हम उस व्यक्ति को बुरा-भला कहें, उसे अपशब्द कहें, या मारें या यों कहें कि उसे कोई 'लिफ्ट' न दें तो वह व्यक्ति दुबारा हमारे घर कभी नहीं आयेगा। यही स्थिति भूत, प्रेत या व्यन्तरों की है। जो व्यक्ति उनसे डरता है, उनकी शक्ति को अपनी शक्ति से ज्यादा आँकता है, या फिर उन्हें भगवान् का ही एक रूप मान कर उन्हें पूजता है, तो वह प्रेत बार-बार उस व्यक्ति के घर आने की इच्छा रखता है; लेकिन दूसरी ओर जो प्रेत-की-शक्ति को अपनी शक्ति से कम मानता है तथा उसे कोई लिफ्ट नहीं देता है, उसके पास ये प्रेत भी नहीं आते हैं। वस्तुतः प्रेत मनुष्यों से डरते हैं, हीन संहनन वाले होते हैं, तथा मनुष्यों से इनकी शक्ति बहुत कम होती है। ये सज्जन तथा धर्मात्मा पुरुषों के निकट आने में संकोच करते हैं; अतः किसी को भी इनसे डरने की कोई ज़रूरत नहीं है। □□

---

*

**

***

**** *ग्रीक संस्कृति का प्रथम आचार्य और आधुनिक प्रकृत विज्ञान का पिता पायथोगोरस (ईसा-पूर्व छठी शताब्दी) जैनों के तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ का समकालीन था। उसकी उनसे भेंट हुई थी; फलस्वरूप उसने मांसाहार छोड़ दिया था। जहाँ एक ओर वह एक आश्रम-गुरु था, वहीं दूसरी ओर वह एक कुशल शोध-संस्थान-निदेशक भी था। उसका निष्कर्ष था कि प्रकृति के रहस्य को समझने की कुंजी गणित है। प्रकृति-की-किताब गणित-की-भाषा में लिखी हुई है। इसी आधार पर उसने पुनर्जन्म-के-सिद्धान्त का प्रतिपादन किया और 'वसुधैवकुटुम्बकम्' का बहुमूल्य सूत्र विश्व को दिया। उसकी चतुर्दिशिका (दशक बिन्दु आकृति), जो अंकों के स्वरूप पर प्रकाश डालती है, गणित की अपूर्व पूँजी है।*

तीर्थंकर शाकाहार प्रकोष्ठ

६५, पत्रकार कॉलोनी इन्दौर-४५२००१ मध्यप्रदेश

☐ हमारे सांस्कृतिक अस्तित्व को चुनौती देने वाले मांसाहार के तेजी से बढ़ते क़दम रोकिये।

☐ अहिंसा के प्रचार-प्रसार और उसकी सही समझ के विस्तार में प्रकोष्ठ की तन-मन-धन से सहायता कीजिये।

☐ प्रकोष्ठ द्वारा लागत मूल्य पर प्रकाशित साहित्य को जन-जन तक पहुँचाइये।

☐ १०० रुपये भेज कर इसके सदस्य बनिये।

☐ 'शाकाहार-समाचार' (प्रकोष्ठ द्वारा प्रकाशित द्वैमासिक : वार्षिक शुल्क-बीस रुपये) के सदस्य बनिये तथा अपने गाँव/नगर से संबन्धित शाकाहार-गतिविधियों की रपट भेजिये।

☐ प्रकोष्ठ द्वारा प्रकाशित 'बेकसूर प्राणियों के खून-में-सने हमारे ये बर्बर शौक' (मूल्य दो रुपये) की जितनी भी प्रतियाँ आप बाँट सकें, बाँटिये। इसी तरह इतने ही मूल्य में प्रकाशित 'अण्डा : ज़हर-ही-ज़हर' तथा 'धूम्रपान : पिघली हुई मौत' की प्रतियाँ भी उन्मुक्तता से वितरित कीजिये।

☐ अपने पत्रों – लिफाफों, अन्तर्देशीय पत्रों, कार्डों, मनीऑर्डर-कूपनों, बिलों, केशमेमो, नुस्खों (यदि चिकित्सक हों तो) पर शाकाहार की उपयोगिता और महत्ता पर विज्ञान-सम्मत प्रकाश डालने वाले वाक्यों-से-युक्त रबर-सीलें लगाइये। पन्द्रह रबर सीलों का सेट (डाकखर्च-सहित) १०५ रुपयों में तथा एक सील (डाक-खर्च-सहित) सात रुपयों में मंगाइये।

☐ अपने दोनों समय के भोजन में-से एक कौर बचाइये और माह के अन्त में उतनी रकम प्रकोष्ठ को भेजिये, या प्रतिदिन दो मुट्ठी अनाज अलग रख दीजिये और उसकी कीमत प्रकोष्ठ को दीजिये। अपने संकल्प की सूचना दीजिये।

☐ मांसाहार के प्रचार-प्रसार के लिए सरकारी, अर्द्धसरकारी तथा गैरसरकारी एजेन्सियाँ करोड़ों का खर्च कर रही हैं, आप पीछे मत रहिये। प्रकोष्ठ के माध्यम से देश-भर में शाकाहार की उपयोगिता और महत्ता का उद्घोष कीजिये। सभी सामाजिक और धार्मिक अवसरों पर प्रकोष्ठ को सहायता भेजिये।

☐ संकल्प कीजिये कि आप तो जीवन-भर शाकाहारी रहेंगे ही, अपने संपर्कों को भी उस ओर प्रेरित करेंगे। अपने रसोईघर (किचन) की रक्षा कीजिये।

☐ अपने गाँव या अपने शहर में प्रकोष्ठ की शाखाएँ स्थापित कीजिये।

साधु-संत विद्वान् बुद्धिजीवी तक इस चक्कर में हैं

—राजमल पवैया

जंतर-मंतर आदि टोटके, टोनों का मत लो आधार ।
अकर्मण्यता के प्रतीक ये, इन पर थोड़ा करो विचार ।।

पाप उदय में मंत्र-तंत्र कोई भी काम नहीं आता,
पुण्य-उदय में साता का संयोग स्वयं ही मिल जाता,
अपने किये हुए कर्मों का, सुफल-कुफल सब ही पाते,
इसे जान कर भी अज्ञानी, दुष्कृत्यों में फँस जाते,
घोर अन्धविश्वास त्याग कर, करो सुकृत्यों का व्यापार ।
जंतर-मंतर आदि टोटके, दोनों का मत लो आधार ।। १ ।।

साधु-संत विद्वान् बुद्धिजीवी, तक इस चक्कर में हैं,
धर्म-पंथ को छोड़ अधर्मों की छलना के घर में हैं,
अगर ध्येय आध्यात्मिकता का हृदयंगम हो जाएगा,
जंत्र-मंत्र टोहना-टोटका, पल-भर में उड़ जाएगा,
फिर पुरुषार्थ-शक्ति का, जग में गूँज उठेगा जय-जयकार ।
जंतर-मंतर आदि टोटके, टोनों का मत लो आधार ।। २ ।।

झाड़ा-फूँकी, जंतर-मंतर, टोना, सब कोरी बकवास,
जिन्हें धर्म का पता नहीं, उनको ही है इन पर विश्वास,
यति-मुनियों को इस चक्कर में हो, जाता संयम का घात,
प्रबल मोह मिथ्यात्व-उदय में छायी है भ्रम-तम की रात,
इनसे वही ठगा है जिसने किया धर्म से कभी न प्यार ।
जंतर-मंतर आदि टोटके, टोनों का मत लो आधार ॥ ३ ॥

गज़नी ने जब किया आक्रमण, कोई मंत्र न आया काम,
सोमनाथ तक तोड़-फोड़ की, लूटा फिर जा किया विराम,
मन्दिर-मूर्ति सहस्रों टूटीं, भारत देश हुआ बदनाम,
होनहार के आगे सारे मंत्र-तंत्र होते बेकाम,
कसो तर्क की खरी कसौटी पर फिर इनको दो दुत्कार ।
जंतर-मंतर आदि टोटके, टोनों का मत लो आधार ॥ ४ ॥

बड़े-बड़े ढोंगी साधू-सन्यासी, छोड़ आत्म-कल्याण,
हिंसा-पूर्ण मंत्र-तंत्रों पर, करते जीवों का बलिदान,
कहाँ आत्म-उत्थान भावना, कहाँ मान-धन का दुर्लक्ष्य,
खोटी गतियों में जाएँगे, सार्वधर्म कहता प्रत्यक्ष,
भोगों की लिप्सा न जगाओ, करो नहीं मिथ्यात्व-प्रचार ।
जंतर-मंतर आदि टोटके, टोनों का मत लो आधार ॥ ५ ॥

कोई धन का मंत्र बताता, कोई रोग-नाश का मंत्र,
कोई पुत्र-प्राप्ति का देता, कोई वशीकरण का तंत्र,
कोई उच्चाटन-मारण का, कोई द्यूत क्रिया का मीत,
कोई सट्टा सिखलाता है, कोई न्यायालय की जीत,
सारे खोटे कर्मों का मंत्रों से करते सदा प्रसार ।
जंतर-मंतर आदि टोटके, टोनों का मत लो आधार ॥ ६ ॥

देश-धर्म पर जब-जब संकट, आता तो हो जाते मौन,
बहिन-बेटियों की जब लज्जा लुटती तब हो जाते गौण,
सूखा या कि बाढ़ आ जाए, मचे देश में हाहाकार,
भोले-भाले लोगों का धन, धर्म लूटने को तैयार,
ऐसे पाखंडी लोगों से, रहना है हर दम हुशियार ।
जंतर-मंतर आदि टोटके, टोनों का मत लो आधार ॥ ७ ॥

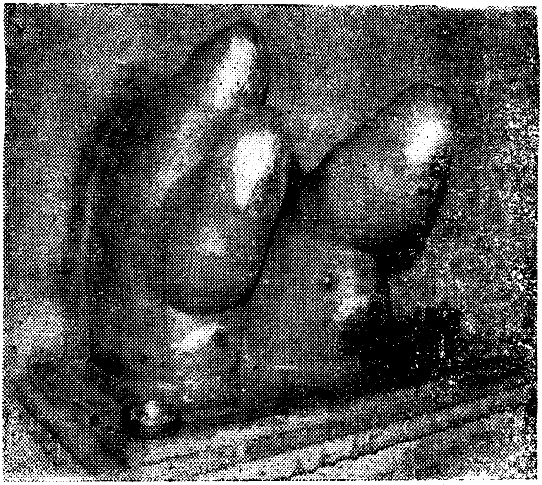

अगर किसी में मंत्र-शक्ति है, तो जग के संकट हर ले,
सीमाओं के उग्रवादियों के, झगड़े सब क्षय कर ले,
तीर्थ-धर्म की करे सुरक्षा, कर दे प्राणी-व्यथा-अभाव,
सारी जगती जान जाएगी, मंत्र-तंत्र का अमिट प्रभाव,
नहीं कर सके तो फिर समझो, सभी टोटके हैं निस्सार ।
जंतर-मंतर आदि टोटके, टोनों का मत लो आधार ॥ ८ ॥

एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का, कभी न कुछ कर सकता है,
फिर गंडा-तावीज़-मंत्र किसका क्या कर-धर सकता है
एकमात्र यह मिथ्या भ्रम है, शुद्ध बुद्धि का हर्त्ता है,
जन्म-मरण यश-अपयश, लाभालाभ कर्म अनुसर्त्ता है,
सद्विवेक से सदा काम लो, छोड़ो दुर्मति का व्यवहार ।
जंतर-मंतर आदि टोटके, टोनों का मत लो आधार ॥ ९ ॥

मंत्र वही जो आत्म-शान्ति का, पथ प्रशस्त कर दे उत्तम,
तंत्र वही है मोक्ष-मार्ग का, जाग्रत हो जिसमें उद्यम
भौतिक सुख-सुविधा, कषाय-भोगों की हो जिसमें चाह,
ऐसे खोटे मंत्र-तंत्र से बढ़ती, सदा राग की दाह,
शाश्वत सुख का मूल मंत्र है, वीतराग-विज्ञान अपार ।
जंतर-मंतर आदि टोटके, टोनों का मत लो आधार ॥
'अकर्मण्यता के प्रतीक ये', इस पर थोड़ा करो विचार ॥१०॥ □□

काठ ज्यों कटत है

रवि के उदोत[1] अस्त होत दिन दिन प्रति,
अंजुली के जीवन[2] ज्यों जीवन[3] घटत[4] है।
काल के ग्रसत छिन छिन[5] होत छिन[6] तन,
आरे[7] के चलत मानो काठ[8] ज्यों कटत है।
एतेपरि[9] मूरख न खोजे परमारथ को[10],
स्वारथ के हेतु[11] भ्रम भारत[12] ठटत[13] है।
लाग्यो फिरे[14] लोकनिसों पग्योपर जोगनि सों[15],
विषैरस भोगनिसों नेक[16] न हटत है[17]।।

ठानि ठानि भ्रम भूमि —

जैसे मृग मत्त वृषादित्य[18] की तपनि[19] मांहि,
तृषावंत[20] मृषाजल[21] कारण अटत[22] है।
तैसे भववासी[23] मायाहीसों हित मानि मानि,
ठानि ठानि भ्रम भूमि नाटक नटत[24] है।
आगे को ठुकत[25] धाइ[26] पाछे बछारा[27] चवाई,[28]
जैसे दृगहीन[29] नर जेवरी[30] बटत है[31]।
तैसे मूढ चेतन सुकृत करतूति करे[32],
रोवत हसत फल खोवत खटत[33] है।।

—बनारसीदास

---

१. प्रकाश। २. जल, पानी। ३. उम्र। ४. घटती है। ५. क्षण, पल। ६. क्षीण, दुर्बल। ७. आरा, करौंत। ८. लकड़ी, काष्ठ। ९. इतने पर भी। १०. परमार्थ को, मुक्ति को, जीवन के सर्वोत्तम लक्ष्य को। ११. लिए, निमित्त। १२. घमासान युद्ध। १३. जूझता है। १४. लगा फिरता है। १५. योगों से, मन-वचन-काय से। १६. जरा भी। १७. विरक्त नहीं होता है। १८. वृष राशि के ज्येष्ठ मास की संक्रान्ति का सूर्य, जिसका ताप बहुत अधिक होता है। १९. तावड़ा, ताप, घाम। २०. प्यासा। २१. मिथ्या जल। २२. भटकता है। २३. सांसारिक जन। २४. खेलता है। २५. टकराता है। २६. दौड़ कर। २७. बछेरा। २८. धूर्त, बदनामी फैलाने वाला। २९. अन्धा। ३०. रस्सी। ३१. बँटता है। ३२. सुकार्य, पुण्य कार्य। ३३. अधिक और कठोर श्रम करता है; व्यथित होता है।

जैनधर्म के आराध्य देवता

कई लोग लौकिक कामनाओं की पूर्ति के लिए स-रागी देवों की पूजा करते हैं; जबकि जिनेन्द्र-पूजन का लक्ष्य उत्तम सुख की प्राप्ति ही हो सकता है। जैसे किसान गेहूँ के लिए खेती करता है, भूसे के लिए नहीं; क्योंकि वह जानता है कि भूसा तो गेहूँ के साथ मिलने ही वाला है; अतः लौकिक इच्छाओं की पूर्ति अर्थात् बिना-कमाये धन की कामना, बिना अध्ययन किये परीक्षा उत्तीर्ण करने की कामना, कोर्ट-कचहरी में न्यायोचित विरोधी को हराने की कामना कुछ ऐसे प्रसंग हैं जिनका जैनधर्म और दर्शन के मौलिक ढाँचे से कोई सरोकार नहीं है।

—डॉ. कन्छेदीलाल जैन

जिनो देवो यस्य सः जैनः अर्थात् रागद्वेषादि विकारों को जीतने वाला 'जिन' ही जिनका देवता है वे जैन हैं। इस प्रकार वीतरागी, हितोपदेशी, एवं अनन्तज्ञानी अरिहन्त भगवान् ही जैनधर्म में सच्चे देव माने गये हैं। उनकी वाणी के आधार पर रचे गये शास्त्र ही सच्चे शास्त्र हैं, जिनवाणी के बताये अनुसार चर्या करने वाले वीतरागी निर्ग्रन्थ ही सच्चे गुरु हैं। इन तीनों की पूजा ही देव-शास्त्र-गुरु की पूजा के रूप में प्रतिदिन की जाती है।

इसी आधार पर नौ देवता भी परिकल्पित हैं। वे भी इन्हीं गुणों से संपन्न हैं। अरिहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु ये पाँच परमेष्ठी हैं। इन्हें भी देवता माना गया है। अरिहन्त और सिद्ध परमेष्ठी वीतरागी एवं अनन्तज्ञान-युक्त हैं। अरिहन्त चार घातिया कर्म-रहित सशरीरी होते हैं, वे हितोपदेश भी देते हैं; किन्तु जब समस्त कर्मों-के-क्षय से सिद्ध अवस्था प्राप्त हो जाती है तो हितोपदेश बन्द हो जाता है। वीतरागी एवं अनन्तज्ञानी तो वे सदैव रहते ही हैं।

आचार्य, उपाध्याय, साधु ये तीनों सच्चे गुरु हैं। गुरु की ही ये तीन श्रेणियाँ हैं। उपाध्याय मुनियों को अध्ययन कराते हैं। आचार्य स्वयं पाँच आचारों का पालन करते हुए मुनियों को दीक्षा देते हैं तथा उनकी चर्या पर भी नियन्त्रण रखते हैं।

जिनवाणी को भी देवता माना गया है, जिनवाणी का ही दूसरा नाम सच्चा शास्त्र है; क्योंकि वीतरागी अनन्तज्ञानी सच्चे देव द्वारा उपदिष्ट वाणी ही जिनवाणी है।

अहिंसा धर्म अथवा वीतराग धर्म अथवा जिनधर्म को भी देवता माना गया है। सच्चे देव के द्वारा प्रतिपादित धर्म जीवन में आचरण करने योग्य गुण हैं, अतः उस धर्म को भी पूज्य अर्थात् देवता मान लिया गया है, यह कोई मूर्त देवता नहीं है। सच्चे देव आधार हैं, जिनधर्म आधेय है, अर्थात् जिनधर्म गुण है; तथा वीतरागी देव गुणी हैं।

जिन-चैत्य अर्थात् जिन (भगवान्) की प्रतिमाओं को भी देवता माना गया है, जिन-प्रतिमा अरिहन्त की तदाकार स्थापना है। जिन-प्रतिमा सच्चे देव का मूर्त-प्रतीक है इसलिए वह सच्चे देव का ही रूप है।

चैत्यालय को भी देवताओं में परिगणित किया गया है; क्योंकि चैत्यालय अर्थात् जिन-मन्दिर, जिन-प्रतिमा का आधार होने से पूज्य हैं। इस प्रकार सच्चे देव, शास्त्र, गुरु ही पूज्य हैं अथवा इन्हीं के दूसरे रूप उपर्युक्त 'नव देवता' पूज्य हैं।

राग-द्वेष एक-दूसरे से संबद्ध हैं। जहाँ राग के परिणाम होते हैं, वहाँ द्वेष है। यह बात दूसरी है कि किसी का राग शुभ हो, परन्तु यह निश्चित है कि राग भी मुक्त होने में बाधक है।

भगवान् महावीर से उनके मुख्य गणधर गौतम ने एक प्रश्न किया था कि मेरे बाद दीक्षित हुए मुनि तो केवलज्ञान प्राप्त कर रहे हैं; परन्तु मुझे केवलज्ञान नहीं हुआ, इसका क्या कारण है? भगवान् महावीर का उत्तर था कि तुम्हें मेरे प्रति राग है, वह राग ही केवलज्ञान की प्राप्ति में बाधक है। जब भगवान् महावीर का निर्वाण हुआ, तभी गौतम का पूर्ण राग छूटा और उन्हें तत्काल केवलज्ञान हुआ। राग मोहनीय कर्म का अंश है। रति-अरति नामक नो कषाय राग-द्वेष के ही रूप हैं। ये नो कषायें मोहनीय कर्म के ही भेद-प्रभेद हैं।

शुभ राग, अशुभ राग की अपेक्षा उपादेय है, क्योंकि अशुभ राग तो संसार में दुःखद पर्यायों में ले जाने वाला है। शुभ राग ऐसे भी निमित्त जुटाता है, जो परम्परा से मुक्ति का कारण बन सकते हैं। पूजन-पाठ, वीतराग-की-भक्ति, परोपकार, दान, जिनवाणी के प्रति भक्ति आदि शुभ राग हैं।

अन्य धर्म वाले यह कहते हैं कि किसी से द्वेष न करो, सबसे प्रेम करो, परन्तु जैनधर्म प्रेम को भी हेय कहता है, प्रेम राग का ही दूसरा नाम है। इसी राग के कारण, जब बच्चे या पत्नी को कोई कष्ट होता है तो उसका पिता या पति (शारीरिक वेदना न होते हुए भी) दुःखी होता है। जब राग को अच्छा मान लिया जाता है तो उसे छोड़ने का मन नहीं करता है; जैसे-सोने की वस्तुओं को आभूषण मान लिया जाता है तो उन्हें छोड़ने की बात तो दूर, हमेशा पहिनने एवं संग्रह की भावना होती है। लोहे के आभूषणों को कोई नहीं पहिनता है, उन्हें तो बेड़ी-हथकड़ी मानते हैं। यद्यपि सोने का आभूषण भी एक बन्धन है, इसी प्रकार राग भी एक बन्धन है। जैसे चन्दन शीतल होता है; परन्तु उसकी आग भी दाहक होती है।

जो डाकू, चोर, तस्कर, आतंकवादी आदि समाज को हानि पहुँचाने वाले दुष्ट तत्त्व हैं, वे अतितीव्र द्वेषभाव वाले होते हैं; किन्तु दूसरी ओर वे अपने परिवार

के प्रति, अपनी पत्नी के प्रति, अपनी माता, पुत्र, पुत्रियों के प्रति रागी भी होते हैं। कई लोग किसी धर्म-विशेष के प्रति तीव्र राग के कारण दूसरों के प्रति तीव्र द्वेष के काम करते हैं। आशय यह है कि रागी व्यक्ति किसी भी प्रकार पूज्य होने की श्रेणी में नहीं आते हैं। यक्ष, यक्षिणी, क्षेत्रपाल, पद्मावती आदि देवी-देवता रागी हैं, अतः पूज्य नहीं हैं।

प्रसिद्ध दार्शनिक विद्वान् टॉल्सटाय द्वारा लिखित एक कहानी अंग्रेजी में कभी पढ़ी थी, उसमें भूख, ग़रीबी आदि को दुःख का कारण बताते हुए अन्त में प्रेम को दुःख का कारण बताया गया था। द्वेष को छोड़ना तो आसान है, परन्तु राग को छोड़ना कठिन है; द्वेष की मात्रा तो कम होती है, राग की मात्रा अधिक होती है। धन के प्रति, परिवार के प्रति, शरीर के प्रति जो राग होता है उसी के कारण मनुष्य बड़े-से-बड़े पाप कर डालता है। राग बढ़ाने के लिए, यानी संसार बढ़ाने के लिए अपरिचित को भी वह अपना बना कर उनसे राग करता है। वर-वधू एक दूसरे से (विवाह-के-पूर्व) अपरिचित ही तो होते हैं; परन्तु वे राग की गोंद से संबद्ध हो जाते हैं।

दूसरी ओर जिन्हें संसार छोड़ कर मुक्ति-मार्ग पर चलना होता है, वे अपने परिवार के निकटतम परिचित पत्नी, पुत्र-पुत्री, माता-पिता, भाई-बहिन से भी राग छोड़ कर समता-भाव धारण करते हैं। रागभाव एक कैमरे की भाँति है। कैमरे के सामने आने वाले दृश्य उसकी रील में चिपक जाता है, या उस पर अंकित हो जाते हैं, जबकि समता-भाव यानी वीतराग-भाव दर्पण की भाँति है उसके सामने आने वाले दृश्य अथवा पदार्थों के प्रतिबिम्ब दर्पण में झलकते तो हैं, परन्तु उसमें चिपकते नहीं हैं।

राग-द्वेष के संबन्ध में इतनी चर्चा का उद्देश्य यह है कि यक्ष, यक्षिणी, क्षेत्रपाल, पद्मावती, धरणेन्द्र आदि की पूजा करने के पक्ष में यह तर्क दिया जाता है कि वे भगवान् जिनेन्द्र के प्रति अनुरागी अर्थात् भक्त हैं इसलिए पूज्य हैं। वे जिनेन्द्र के प्रति भी रागी हैं तो भी रागी व्यक्ति धार्मिक क्षेत्र में पूज्य नहीं हो सकते हैं। साधर्मी व्यक्ति वात्सल्य, या सम्मान का पात्र हो सकता है। धार्मिक वात्सल्य तो अपने साथ के जीवित व्यक्तियों के साथ किया जाता है; देवगति के देवों के साथ वह किस प्रकार संभव है! यों तो लौकिक कार्यक्षेत्र में देश-सेवकों, नेताओं, मन्त्रियों, अपने अधिकारियों के प्रति भी लोक-व्यवहार के अनुरूप सम्मान प्रकट करते हैं; किन्तु धर्म-क्षेत्र की पूजा-अर्चा किसी भी प्रकार विधेय नहीं है।

वीतराग देव तथा देवगति-के-देवों में अत्यन्त भिन्नता है। एक अ-संसारी हैं दूसरे संसार के सुखों में आकण्ठ निमग्न हैं। देवों में जो चार भेद बताये गये हैं, उनमें भवनवासी, व्यन्तर तथा ज्योतिषी देवों में मिथ्यादृष्टि जीव ही उत्पन्न होते हैं,

अर्थात् इनका पूर्व जन्म का (पिछला) रिकॉर्ड धर्म का न हो कर अधर्म का होता है। ये तीनों निम्न श्रेणी के देव माने गये हैं। यक्ष, क्षेत्रपाल आदि इन्हीं निम्न श्रेणी के देवों में-से होते हैं। यदि देवगति के देव पूज्य होते तो वैमानिक देवों में-से लोकान्तिक देव अथवा सर्वार्थसिद्धि के देव विशेष पूज्य होते, उनकी भी मूर्तियाँ लोग स्थापित कर सकते थे, वे तो आगामी मनुष्य-भव पा कर मोक्ष जाने वाले हैं। वे अपना संपूर्ण समय स्वाध्याय एवं धर्म-चिन्तन में ही बिताते हैं। सौधर्म इन्द्र और उसकी इन्द्राणी भी जिनेन्द्र-भक्त होते हैं, वे भी एक भवावतारी हैं, मोक्षगामी जीव हैं; जब उनकी पूजा, मूर्ति-स्थापना का विधान नहीं है तब यक्ष, क्षेत्रपाल पद्मावती आदि की पूजा कैसे की जा सकती है?

देवगति के देवों के चतुर्थ गुणस्थान से अधिक नहीं होता अनेक तो मिथ्यादृष्टि ही होते हैं, उनके संयम का अभाव है जबकि मनुष्य पूर्ण संयमी एवं तिर्यंच देशसंयमी पंचम गुणस्थान वाले भी होते हैं, संयम की क्षमता के अभाव के कारण तीर्थंकर के दीक्षा-कल्याणक में दोनों को पालकी उठाने का अवसर नहीं मिलता है। यदि भगवान् की भक्ति के आधार पर पूजा-आरती की जा सकती है तो भगवान् के भक्त पंचम गुणस्थानवर्ती श्रावक-श्राविकाओं की भी पूजा-आरती का प्रसंग उपस्थित हो जाएगा। कमल की पँखुरी ले जाने वाले मेंढक की भी मूर्ति बना कर पूजने का प्रसंग आ खड़ा होगा।

धरणेन्द्र-पद्मावती ने भगवान् पार्श्वनाथ पर आने वाले उपसर्ग को दूर किया इसलिए वे पूज्य हैं तो जिस शूकर ने मुनि की रक्षा की भावना से सिंह से जूझ कर अपने प्राण गँवा कर साधु परमेष्ठी की रक्षा की थी, उस शूकर की भी मूर्ति-स्थापना एवं पूजा-आरती का अनिष्ट प्रसंग उपस्थित हो जाएगा। अनेक सरकारी पुलिस के लोग भी मन्दिरों, मूर्तियों की सुरक्षा करते हैं; मन्दिर का चौकीदार तथा माली भी मन्दिर एवं मूर्तियों की सुरक्षा करता है, क्या ये सभी पूजा-पात्र हो जाएँगे?

अनेक श्रावक ऐसे होते हैं जो मन्दिरों की, मूर्तियों की, जिनवाणी की रक्षा धन से तथा जीवन की बाजी लगा कर करते हैं, उनकी भी मूर्तियाँ बना कर पूजने का प्रसंग उपस्थित हो जाएगा। अकलंक-निकलंक दोनों भाइयों का जीवन हम पढ़ते हैं। निकलंक ने जिनवाणी एवं जैनधर्म की रक्षा के लिए अपने प्राणों का उत्सर्ग किया था। वे भी जिनेन्द्र-भक्त थे, उनकी भक्ति-भावना धरणेन्द्र-पद्मावती से कम नहीं थी फिर भी निकलंक की मूर्तियाँ स्थापित कर उन्हें कोई नहीं पूजता-पूछता।

जब प्रतिमा का निर्माण होता है और उसे पंचकल्याणक आदि प्रतिष्ठा द्वारा प्रतिष्ठित किया जाता है, तब वह पूज्य होती है; अतः क्षेत्रपाल, पद्मावती आदि की

मूर्तियों की प्रतिष्ठा का प्रश्न भी उपस्थित होता है । इनकी प्रतिष्ठा-विधि एवं क्रियाएँ नहीं हैं । इस प्रकार इन अनेक युक्तियों से इनकी पूज्यता खण्डित हो जाती है ।

हम कल्पना करके पूजन करते हैं कि मन्दिर 'समोसरण'-रूप है । उसमें विराजमान प्रतिमाएँ अरिहन्त की प्रतीक हैं तथा हम इन्द्र हैं । इन्द्र कभी अपने से हीन कोटि के देवों की पूजा नहीं करता । अपने को इन्द्र मान कर पूजा करने वाला व्यक्ति उन देवों की पूजा कैसे कर सकता है, जो इन्द्र से हीन हैं ? एक तो वे वैमानिकों की अपेक्षा हीन कोटि के हैं दूसरे इन्द्र तो देवों-का-राजा है । वह भी सौधर्म स्वर्ग का इन्द्र; वह नियमतः सम्यग्दृष्टि होता है । किसी अवसर पर बोली बुलवाते हैं तो उसी सौधर्म इन्द्र की बोली सर्वप्रथम बुलवाते हैं । यद्यपि व्यन्तर आदि देवों में भी इन्द्र होते हैं; परन्तु उनका धार्मिक क्षेत्र में महत्त्व नहीं है । यों तो जंगल-का-राजा कहा जाने वाला सिंह भी तिर्यंचों-का-इन्द्र होता है ।

हुंडावसर्पिणी काल के कारण अनेक व्यतिक्रम हुए जिनमें से तीर्थंकर अवस्था में भगवान् पार्श्वनाथ पर हुआ उपसर्ग भी एक अभूतपूर्व घटना है (सिद्धान्ततः केवलज्ञान हो जाने पर तीर्थंकर पर उपसर्ग नहीं होता) । उपसर्ग को दूर करने वाले धरणेन्द्र-पद्मावती की पूजा लोगों ने चालू कर दी । हुंडावसर्पिणी काल को छोड़ कर अन्य कभी ऐसे उपसर्ग नहीं होते हैं; अतः ऐसे उपसर्गों को दूर करने का प्रश्न ही नहीं उठता । इस तरह जब अन्य कालों में अ-वीतरागी देवों की पूजा नहीं होती है तो इस काल में भी रागी देवों की पूजा उचित नहीं है ।

कई लोगों का कहना है कि ये क्षेत्रपाल आदि मंदिरों/मूर्तियों की उपसर्गों एवं उपद्रवों से रक्षा करें इसलिए इनकी स्थापना तथा पूजा की जाती है । इस संबन्ध में दो बातें हैं : एक, जब वे जिनेन्द्र-भक्त हैं और देव होने के कारण अवधि-ज्ञानी हैं तब उन्हें अपनी पूजा आरती की आकांक्षा के बिना स्वयं ही रक्षा करनी चाहिये । क्या भगवान् पार्श्वनाथ का उपसर्ग किसी के द्वारा पूजा-आरती करने पर उन्होंने दूर किया था ? या स्वतः सद्कर्त्तव्य समझ कर ? इस दृष्टि से भी उनकी पूजा व्यर्थ है; दो, बात यह है कि अनेक स्थानों पर क्षेत्रपाल बनाये गये हैं उनकी पूजा भी होती है, फिर भी मंदिरों में उपद्रव हो जाते हैं । मूर्तियों एवं अन्य उप-करणों की चोरी हो जाती है; इसलिए यह हेतु भी अनेकान्तिक या व्यभिचारी है ।

जब महमूद गजनबी ने सोमनाथ के मन्दिर पर चढ़ाई करने की योजना बनायी थी, तब उस मन्दिर के पुजारियों ने मन्दिर की रक्षार्थ पहुँचे राजाओं से कह दिया था कि तुम पागल हो गये हो कि सर्वशक्तिमान भगवान् की रक्षा करने आये हो, भगवान् की मूर्ति में ऐसा अतिशय होगा कि गजनबी यहाँ कुछ भी उपद्रव न कर पायेगा । पुजारियों की बात सुन कर राजा शिथिल हो गये थे । महमूद गजनबी ने मन्दिर एवं मूर्ति को ध्वस्त कर दिया तथा हीरे-ज़वाहरात

लेकर चला गया। वही हाल इन क्षेत्रपाल-पद्मावती की मूर्तियों का है। अनुचित साधनों से धन कमाने वाले जैन कुलोत्पन्न लोगों का हाथ जैन मूर्तियों की चोरी कराने तथा तस्करी में पाया गया है, उनका भी प्रतिरोध क्षेत्रपालादि ने नहीं किया। मूर्तियों का निर्माण मनुष्य कराता है; अतः मूर्तियों की रक्षा भी उसे ही करनी होगी। क्षेत्रपालादि रक्षा नहीं कर सकते। रक्षा के कारण दूसरे हो सकते हैं, श्रेय भले ही क्षेत्रपाल की मूर्ति को दे दिया जाए। क्षेत्रपाल केवल अन्धविश्वास है।

इसके विपरीत यह देखा जाता है कि जहाँ-जहाँ क्षेत्रपाल आदि की स्थापना है, उनमें-से कुछ स्थानों पर इतर धर्मावलम्बियों ने उन्हें अपने देवताओं की मूर्ति बता कर, जैन मन्दिरों के साथ झगड़े आरम्भ कर दिये, क्योंकि जैन मूर्तियाँ तो वीतराग, रंग-रोगन-से-रहित, पहिनाव-शृंगार से रहित नग्न होती हैं। झगड़े की यह जड़ हमेशा के लिए जैनों का सिरदर्द बन गयी है।

कई लोग लौकिक कामनाओं की पूर्ति हेतु सरागी देवों की पूजा करते हैं, जबकि जिनेन्द्र-पूजन का लक्ष्य उत्तम सुख की प्राप्ति ही होना चाहिये, जैसे किसान गेहूँ के लिए खेती करता है, भूसे के लिए नहीं; क्योंकि वह जानता है कि भूसा तो गेहूँ के साथ मिलने वाला आनुषंगिक फल है ही। लौकिक सुख जिनेन्द्र-पूजन का आनुषंगिक फल हो सकता है। लौकिक कामनाओं में अनुचित रूप से, बिना-कमाये धन पाने की कामना, बिना-परिश्रम के परीक्षा पास कयने की आकांक्षा, न्यायालय में विरोधी को पराजित करने की इच्छा आदि बातें आयेंगी। लोक में अफसरों को घूस दे कर ऐसे अनुचित कार्य कराना भ्रष्टाचार कहलाता है।

उल्लेख मिलता है कि रावण ने ऐसी ही अनुचित आकांक्षा की पूर्ति के लिए शान्तिनाथ भगवान् का जप एवं पूजन-विधान किया था। परिणाम अच्छा नहीं हुआ। वह नरकगामी हुआ। आचार्य सूर्यसागरजी से एक व्यक्ति ने शंका की थी कि णमोकार मंत्र को सिद्धिदायक मन्त्र माना गया है, अतः यदि कोई अपने शत्रु के विनाश की कामना से णमोकार मन्त्र का जाप करेगा तो कैसा रहेगा? आचार्यश्री ने उत्तर दिया था: इस प्रकार णमोकार मन्त्र का जाप करने से नरकगति तक का बन्ध हो सकता है। लोगों ने पूर्वापर प्रसंग के बिना आचार्यश्री को बदनाम करने का प्रयास किया था कि आचार्यश्री तो णमोकार मन्त्र जपने का फल नरक बताते हैं। इस प्रकार 'धर्म' का दुरुपयोग करना, उसका उपहास करना है; ठीक उसी तरह जिस तरह आतंकवादी उसका दुरुपयोग करते हैं या कर रहे हैं।

इस प्रकार वीतरागता से रहित देव-देवियों की स्थापना, पूजा-स्तुति-आरती करना सैद्धान्तिक एवं तर्कसंगत नहीं है। □□

साधु-संस्था और चमत्कार

☐ **सभी प्रकार के इन्द्रियजन्य सुख दुःख-रूप ही होते हैं; वे सान्त और पापबीज हैं, अतः लौकिक सुखाभासों को धर्म-का-फल मानना या प्रतिपादित करना जिनधर्म का अनादर है, उसकी गहन अवमानना है।**

☐ *जैनदर्शन में चमत्कार-जैसी कोई वस्तु नहीं है; तदनुसार कोई भी अतिशय ठोस कार्य-कारण-भाव (लॉ ऑफ कॉजेशन), या निमित्त-नैमित्तिक संबन्ध-से-रहित नहीं है।*

—नरेन्द्र प्रकाश जैन

दिगम्बर जैन साधु का पद अपनी अलौकिक वृत्ति के लिए विख्यात है। आज जब किसी निर्ग्रन्थ साधु को हम झाड़-फूँक और यन्त्र-मन्त्र के जाल में उलझा हुआ पाते हैं, तब कष्ट होता है। जैनागम के अनुसार सदाकाल परमपद का अन्वेषण करनेवाला साधु कहलाता है।[1] आत्मशुद्धि के अभाव में निर्ग्रन्थ होने मात्र से हम किसी को साधु नहीं कह सकते। आचार्य कुन्दकुन्द ने कहा है कि जो निर्ग्रन्थ रूप से प्रव्रजित हुआ है, वह यदि इस लोक-संबन्धी (सांसारिक) कार्यों में प्रवृत्त होता है, तो तप-संयम से युक्त होते हुए भी वह लौकिक प्राणी ही है (पारमार्थिक मुनि नहीं)।[2]

गृहस्थों को पुत्र की प्राप्ति, धन की वृद्धि, शत्रु पर विजय प्राप्त करने, मुक़दमे में जीतने, आजीविका-लाभ आदि के लिए उपाय बताना लौकिक क्रियाएँ ही हैं। कोई भी मुनि महाराज किसी को लौकिक आशीष नहीं देते हैं। उनके द्वारा भक्तों को 'धन-वृद्धि' का नहीं, 'धर्म-वृद्धि' का आशीर्वाद मिलता है। साधु के कहने से कदाचित् नीरोगता; धन, या पुत्र की प्राप्ति हो भी जाए तो इसमें मुनि को अपनी तपस्या का व्यय करना पड़ता है। इस तरह का आशीर्वाद देना उनके स्वयं के लिए बहुत महँगा पड़ता है। साधु के लिए आत्मज्ञान के अतिरिक्त अन्य किसी भी कार्य को विचार में न लाने का निर्देश है।[3] आगम में कहा गया है कि मुनि को हर आधा घण्टे पीछे पाँच मिनिट के लिए स्थिर ध्यान अवश्य करना चाहिये, क्योंकि छठवें-सातवें गुणस्थान का काल अन्तर्मुहूर्त मात्र है। ख्याति-लाभ और मन्त्र-तन्त्रादि के व्यामोह में फँस कर साधु नियमतः अपने पद को मलिन कर लेता है।

---

१. *परम-प्रिय पथ-विमग्गया साहू (धवला)।*

२. *णिग्गन्थो पव्वइदो वट्टदि जदि एहिगेहि कम्मेहि।*
सो लोगिगो त्ति भणिदो संजव-तव-संजुदो चावि॥

—प्रवचनसार : चारित्ताधिकार

३. *आत्मज्ञानात्परं कार्यं न बुद्धौ धारयेच्चिरम्।* *—समाधितन्त्र*

शास्त्रों में लौकिक सुखों की अभिलाषा करने को गृहस्थों के लिए भी बन्ध का कारण बताया गया है, मुनियों की तो बात ही जुदा है। भोगभूमि के सुखों की वांछा चक्रवर्ती के पद की इच्छा, इन्द्र-अहमिन्द्र होने की भावना, धनवान बनने की चाह आदि की गणना लौकिक ऐन्द्रियिक सुखों में ही की जाती है। इन्हें धर्म का फल मानना, निदान या सुखानुबन्ध नामक दोष है। सभी प्रकार के इन्द्रियजन्य सुख दुःखरूप ही होते हैं तथा वे सभी कर्मपरवंश, सान्त और पाप-बीज हैं;[४] अतः लौकिक सुखाभासों को धर्म का फल मानना, या कहना जिनधर्म का अनादर करना है।

जिन वस्तुओं को साधु स्वयं छोड़ चुका है और जिनका हमारे तीर्थंकरों ने भी निषेध किया है, उन्हीं की प्राप्ति का उपाय दूसरों को भला कैसे बताया जा सकता है? शास्त्रों में परिग्रह को सब दोषों को उत्पत्ति का स्थान[५] तथा संपूर्ण अनर्थों की जड़[६] कहा गया है। एक जैन कवि ने लिखा है—'धन, जोवन अर राज्य-सम्पदा, ये सब हैं सावन-बदरा रे' अर्थात् श्रावण मास के बादलों की तरह धन, यौवन और सम्पत्ति क्षण-भंगुर हैं। आचार्यों के इन्हीं प्रशस्त वचनों पर श्रद्धा रखते हुए ही धन-परिग्रह को छोड़ कर कोई गृहस्थ साधु बनता है। जिसे बुरा समझ-कर वह स्वयं छोड़ चुका है, दूसरों को उसी बुराई में फँसने का प्रलोभन देने वाला कोई भी क्यों न हो, जीव-का-हितैषी कदापि नहीं हो सकता।

पण्डित आशाधरजी ने लिखा है कि जन्मते ही पुत्र स्त्री का हरण कर लेता है, बड़े होने पर बढ़ोतरी को छीनता है, समर्थ हो कर धन पर अधिकार कर लेता है, अतः पुत्र के समान अन्य कोई बैरी नहीं है।[७] यह कथन भी भगवान् महावीर की आज्ञानुसार ही है। उनके ही द्वारा निषिद्ध वस्तु (पुत्र-प्राप्ति) को उन्हीं से माँगना क्या उनकी अवमानना नहीं है? आचार्य उमास्वामी ने 'परविवाह करण' (दूसरों की पुत्र-पुत्रियों के विवाह कराने) को ब्रह्मचर्याणुव्रत के अतिचारों में गिनाया है। तब कोई महाव्रती साधु संसारी प्राणियों की खातिर ऐसे दुनियादारी के झंझटों में फँस कर अपने दिगम्बरत्व का सौदा कैसे कर सकता है? स्व. पं. जुगलकिशोर मुख्त्यार ने ठीक ही लिखा था—"यदि दूसरों को उनके इन्द्रिय-विषय-भोगों की प्राप्ति कराना ही उनका हित-साधन करना है, तो फिर अपने इन्द्रिय-विषय-भोगों ने ही कौन-सा

४. *रत्नकरण्ड श्रावकाचार १/१२।*

५. *सर्वदोषप्रसवयोनिः (तत्त्वार्थ राजवर्तिक)।*

६. *निःशेषानर्थमन्दिरम (ज्ञानार्णव)।*

७. *जाओ हरइ कलत्तं, बढ्ढन्तो बढ्ढिमा हरई।*
अत्थं हरइ समत्थो, पुत्तसमो वैरियो णात्थि॥
—अनगारधर्मामृत

अपराध किया है, जिससे उनकी निवृत्ति की जाए ?"[८] व्रतियों की समस्त क्रियाएँ संवेग और वैराग्य के लिए ही होती हैं; लौकिक यश, या विभूतियों का मिल जाना धर्म की कसौटी कथमपि नहीं है।

जैनदर्शन में चमत्कार-जैसी कोई वस्तु नहीं है। जैन सिद्धान्तानुसार कोई भी अतिशय ठोस कार्य-कारण-भाव या निमित्त-नैमित्तिक-संबन्ध से रहित नहीं है। पुत्र-प्राप्ति, नीरोगता, धन-संचय आदि पुण्यकर्म के कौतुक हैं तो रोग, सन्तानहीनता, निर्धनता आदि पापकर्म के खेल हैं। मन्त्र इसमें क्या कर सकते हैं? देवों के कण्ठ से अमृत झरता है और हमारे कण्ठ से नज़ला। क्या कोई मन्त्र-तन्त्र कर्मोदय-जनित इस दशा को उलटने में समर्थ है? यदि कोई अभव्य जिनेन्द्र प्रभु से मोक्ष की माँग कर बैठे तो क्या उसकी पूर्ति संभव है? अनहोनी कभी नहीं होती; इसीलिए आचार्यों ने सम्यग्दर्शन के अमूढ़दृष्टित्व अंग का वर्णन करते हुए लौकिक चमत्कारों से विमोहित होने को सम्यग्दर्शन का दोष कहा है।

वैष्णव लोग काली विन्ध्येश्वरी आदि देवियों से नाना प्रकार की मनौतियाँ मानते हैं और मुसलमान भाई पीर-पैगम्बरों अथवा ख्वाज़ा-शरीफ, मियाँ अमरोहा आदि से अपनी बहुत-सी तमन्नाओं को पूरी करने की अरदास करते हैं; किन्तु ये सब तो सरागी देवता हैं। उनसे माँगना तो समझ में आता है; किन्तु वीत-रागी प्रभु से याचना करना तो किसी भी प्रकार न्यायसंगत नहीं है। आचार्य समन्तभद्र कहते हैं कि किसी भी जीव को वर-प्राप्ति की इच्छा से आशावान् नहीं होना चाहिये। धनंजय कवि ने लिखा है – 'हे देव! आपकी स्तुति कर मैं दीनता से कोई वर नहीं माँगता हूँ। तुम तो सबसे उपेक्षा रखने वाले हो। दोगे भी क्या?[१०] जैन ग्रन्थों में सर्वत्र याचकवृत्ति का निषेध किया गया है। जैन मान्यता में तो स्वावलम्बन ही मोक्षमार्ग है।

कोई-कोई तर्क देते हैं कि वीतरागी प्रभु तो कुछ देते-लेते नहीं हैं; किन्तु उनके भक्त शासनदेव, यक्ष आदि धर्मानुरागियों की मनोकामना पूरी कर देते हैं। यहाँ दो बातें सदा स्मरण रखनी चाहिये : प्रथम तो ये व्यन्तरादि बड़े मनमौजी और कौतुकी होते हैं। इन्होंने एक ओर जहाँ यमपाल, सीता, सुदर्शन आदि की सहायता की तो वहीं दूसरी ओर अनेक लोगों को सताया भी। सुभौम और लक्ष्मण को इन्होंने ही तो मारा। दूसरी बात यह कि पुण्योदय का योग न होने पर ये देवता भी किसी की मदद नहीं कर पाते। गजकुमार, पंच पाण्डव, सुकुमाल आदि

---

८. *परविवाहकरणेत्वरिका परिगृहीत परिगृहीतागमनानङ्गक्रीड़ा कामतीव्राभिनिवेशाः ।* –तत्वार्थसूत्र ७/२८

९. *जैनदर्शन (वर्ष ४, अंक दिस. १, १९३६)।*

१०. *इति स्तुतिं देव विधाय दैन्याद् वरं न याचेत्वमुप्रेक्षकोसि (विषापहार स्तोत्र)।*

पर जब उपसर्ग हुए, तब ये सब कहाँ सो रहे थे? दण्डक वन में ५०० मुनियों को घानी में पेल दिया गया; उस समय दूर-दूर तक इनका कहीं अता-पता तक नहीं था। इसलिए भव्य प्राणियों को इनके चक्कर में फँस कर अपने सम्यक्त्व को नहीं गँवा देना चाहिये।

विद्वद्वर्य पण्डित माणिकचन्द्रजी न्यायाचार्य प्रायः कहा करते थे – 'उपसर्ग –निवारण हो जाने की अपेक्षा उपसर्ग-सहन का पद बहुत ऊँचा है। बड़ी कमाई होती है। तीन पाण्डवों की मृत्यु विघ्न सहने से ही हुई । यदि किसी देवता ने उनकी रक्षा कर दी होती तो वे भी दीर्घ संसारी ही बने रहते । सीता के लिए बनाया गया अग्नि-कुण्ड जल-कुण्ड बन गया, इस घटना पर लट्टू मत हो जाओ। सीता के उस साहस की प्रशंसा करो कि अपनी आत्मशुद्धि से आश्वस्त वह अग्नि में कूद पड़ी तथा बाद में श्री रामचन्द्रजी के प्रार्थना करने पर भी संसार में नहीं फँसी, आर्यिका बन गयी, धर्म का यह फल अग्नि-परीक्षा से बहुत बड़ा है। प्रशंसा हमेशा पुरुषार्थ की करनी चाहिये, अतिशयों की नहीं ।

जैनग्रन्थों में मन्त्रादि का वर्णन तो है; किन्तु उनका प्रयोग आत्मविशुद्धि, अलौकिक आनन्द की प्राप्ति तथा कर्मों के संवर और निर्जरा के लिए ही होना चाहिये। धन-पुत्रादि की प्राप्ति के लिए मन्त्रों का प्रयोग उचित नहीं है। वात्सल्य, प्रभावना, एवं संयम-रक्षा के लिए कथंचित् मन्त्र-साधन की बात कही भी गयी है, फिर भी वह अपवाद मार्ग है, उत्सर्ग मार्ग नहीं। मुमुक्षु को उच्चाटन, वशीकरण, स्तम्भन, मारण मन्त्रों के प्रसंगों में तो कदापि पड़ना ही नहीं चाहिये; काम्य मन्त्र भी रागवर्धक होने से हेय ही माने गये हैं । मन्त्रों से लौकिक फलों की प्राप्ति की इच्छा रखने वालों को 'अष्टसहस्री' में तीव्र रागी तथा 'अमूल्यदानक्रमी' दोष से दूषित बताया है अर्थात् जिस तरह कोई ग्राहक मूल्य न दे कर दुकानदार से मुफ्त में सौदा झपटना चाहता है, उसी प्रकार लौकिक व्यक्ति पुण्यरहित दशा में तीव्र पुण्यवानों का फल लूटना चाहते हैं।[११]

प्रायः यह भी सुनने में आता रहता है कि मन्त्र-तन्त्रादि का सहारा ले कर कुछ साधु पैसा भी इकट्ठा करते हैं। वह स्वयं नहीं करते तो अपने ही संघ में स्थायी रूप से रहने वाले किसी संचालक, या संचालिका नामधारी को देने के लिए कह देते हैं। धन-संग्रह के लिए इधर तरह-तरह के टोटकों का आविष्कार भी होने लगा है। उन सबकी चर्चा करना इस लेख का विषय नहीं है। हम तो यहाँ मात्र इतना ही निवेदन करना चाहते हैं कि इस तरह की तरकीबों-'स्टण्टों' से निर्मल जिनशासन के गौरव की क्षति होती है तथा वीतराग-मार्ग पर लांछन लगता है। यह सब बन्द होना चाहिये। साधु का काम चमत्कारों का चक्रव्यूह खड़ा करना नहीं है। □

११. *धर्म-फल-सिद्धान्त (पृष्ठ ४५)* ।

तन्त्र-मन्त्र : प्रासंगिक कितने?

☐ **यह देखने में सस्ता और सरल सौदा अन्ततः वास्तव में बड़ा महँगा और पेचीदा सिद्ध होता है। लोग प्रायः भूल जाते हैं कि विपरीत परिस्थितियाँ अपने ही किन्हीं पूर्वकृत कर्मों की फल हैं, जो अपनी बाँधी हुई अवधि, स्थिति, और मर्यादा तक फलीभूत हो कर नष्ट हो जाने वाली हैं। इन्हें मिटाने का सामर्थ्य किसी में नहीं है।**

☐ जहाँ तक हमें ज्ञात है जैनियों में इस प्रकार की मन्त्र-विद्या की चेतना मौलिक नहीं है, दूसरों की देखा-देखी नाना प्रकार की सकाम उपासना, यक्ष, नाग, शासन देवी-देवताओं की पूजा-अर्चना आदि उनमें कालान्तर से प्रवेश कर गयी हैं।

— कन्हैयालाल सरावगी

आदिम अविकसित अवस्था में मनुष्य-मन पशु-मन के संभवतः बहुत पास था। मात्र इतना अन्तर था कि मनुष्य में सोचने-समझने की भी शक्ति थी। उसकी इस शक्ति का ज्यों-ज्यों विकास होता गया, वह चराचर जगत् और प्रकृति पर अधिकार पाता गया। उसके हाथों विज्ञान की भी बहुआयामी और बहुमुखी प्रगति हुई है और वह निर्माण और विनाश की अपार संपदा-शक्ति का स्वामी भी बन गया है। उसके सामने जो कुछ है, आता है अथवा जिसके आने की संभावना होती है, उसे वह 'क्या', 'कब', 'क्यों', 'कैसे' आदि प्रश्नों के कोष्ठक में घेर कर उनके मर्म को जानने, उनका उपयोग करने अथवा उनके दुष्परिणामों से बँधने का उद्यम/उपाय करता है। इस प्रकार विचार के क्षेत्र में भी वह बहुत आगे बढ़ा है।

जीव निसर्ग से ही सुख चाहता है और दुःख से डरता है, अतः उसकी सारी चेष्टाएँ दुःख-निवारण अथवा सुख-प्राप्ति के लिए होती हैं। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए वह विविध नैतिक, अनैतिक, व्यावहारिक, अव्यावहारिक, बौद्धिक, अबौद्धिक, विवेक-युक्त, विवेक-हीन साधनों का उपयोग-प्रयोग करता है। आगे के विचार-क्रम में मानव-मन के एक पहलू की स्थूल झाँकी प्रस्तुत है।

इतनी सारी बौद्धिक, वैज्ञानिक, तकनीकी प्रगतियों, उपलब्धियों के होते हुए भी मानव-समाज के एक बड़े भाग को अन्धविश्वासों; यन्त्रों, मन्त्रों, तन्त्रों, टोनें, टोटकों, गंडा, तावीज़ों, झाड़-फूँक, टुंडर, उतारे, मनौती, बोली, शकुन, भविष्यवाणी आदि के जाल में फँसा देख कर आश्चर्य होता है। जाने क्यों वह इन बातों को विवेक की तुला पर नहीं तोलता? अज्ञान और आर्तध्यान के कारण वह परछाईं को पकड़ने, मृगजल-से-प्यास बुझाने और शृगाल-शृंग के आयुध से विश्व-विजय करने की-सी चेष्टा करता है। वह अनेक प्रकार की लोक-देव, गुरु आदि संबन्धी मूढ़ताओं में फँस कर ठगा जाता है, शोषित और प्रताड़ित होता रहता है।

उसकी अति श्रद्धा का लाभ उठा कर तथाकथित तान्त्रिक, मान्त्रिक, ओझा आदि जादू-टोनों का चमत्कार (हाथ-सफाई) दिखा कर उसका सर्वस्व लूट लेते हैं। नारियाँ इनके चक्र में सहज ही आ जाती हैं और अपना धन, आबरू आदि तक दे बैठती हैं।

प्रायः सभी देशों, जातियों आदि में किसी-न-किसी रूप में ऐसी मूढ़ताएँ पायी जाती हैं; परन्तु भारत में इनके फूलने और फलने के अधिक मौके और सुभीते देखे जाते हैं। अपनी धर्म-अहिंसा भीरुता अथवा कहें धर्म-मूढ़ताओं के कारण यहाँ लोगों ने वचनातीत उत्पात सहे हैं और सहते हैं। अतीत की छोड़ें, वर्तमान में भी यहाँ जितने शास्त्र, भगवान्, योगेश्वर, योगी, साँई, गुसाँई, तथाकथित साधु-संत, मुनि, ब्रह्मचारी, तान्त्रिक, जादूगर, भविष्य-वक्ता, मान्त्रिक आदि हैं, उतने संभवतः और कहीं नहीं हैं। इतिहास साक्षी है कि नौवीं-दसवीं शताब्दियों में यह देश मन्त्र-तन्त्रों में डूबा हुआ था। राजाओं के यहाँ शस्त्रधारी सैनिकों के साथ ही तान्त्रिकों की भी पलटन होने के उल्लेख मिलते हैं। इन बाबाओं के चक्र में भोली जनता तो फँसती ही है, पर तरस आता है उन पढ़े-लिखों, जन-नेताओं, अधिकारियों, बौद्धिकों आदि पर जो अपेक्षाकृत अधिक संख्या में इनके फेर में रहते हैं।

जिन विचारधाराओं में मन्त्र-तन्त्र आदि का प्रचलन है अथवा रहा है, उनमें इन मूढ़ताओं का होना आश्चर्यजनक नहीं है, जितना इनका नैसर्गिक विरोध करने वाले जैनधर्म के अनुयायियों में होना चौंकाने वाला है। कर्म-सिद्धान्त में विश्वास करने, समकिती होने का दावा करने और मूढ़ताओं का विरोध करने वाले धर्म के साधुओं, आचार्यों, मुनियों, पण्डितों आदि को मन्त्र-तन्त्र तावीज़ आदि बाँटते देख कर दाँतों-तले उँगली दबा लेनी पड़ती है। उन्होंने अनेक मन्त्र-तन्त्र स्तोत्र आदि की रचना कर ली है। उनके द्वारा निर्मित कुछ मन्त्रादि के नाम निम्न प्रकार गिनाये जा सकते हैं, यथा–

मन्त्र – ऐश्वर्यदायक, सर्वकार्य-साधक, राज-भय-निवारक, परिवार-रक्षक, द्रव्य-प्रापक , कार्यकारी, मंगलकारी, पुत्रदाता, मंगल, घंटाकर्णी आदि ।

यन्त्र – लक्ष्मी-दायक आदि नाना प्रकार के यन्त्र और विविध काम्य कर्म-विधान, अभिषेक आदि ।

स्तोत्र – उपसर्गहर, नवग्रह-शान्तिकारक, चिन्तामणि, वज्रपंजर आदि ।

आत्मविश्वास की कमी, सम्यक्त्व का अभाव, अज्ञान, क्रोधादि कषाय, हास्यादि नो कषाय, काम, मूढ़ता आदि मन्त्र-तन्त्रों के लिए उर्वर भूमियाँ हैं। दूसरों (पर) अर्थात् देव, मनुष्य, यक्ष, राक्षस, योगिनी, आदि की निर्भरता इन तन्त्रादि के बीज हैं और अनिष्ट की आशंका, अन्धविश्वास और मतानुगमन इनके पोषक हैं। यह देखने में सस्ता और सरल सौदा वास्तव में मँहगा और

पेचीदा सिद्ध होता है। लोग प्रायः भूल जाते हैं कि विपरीत परिस्थितियाँ अपने ही *किन्हीं पूर्वकृत कर्मों की फल हैं, जो अपनी बाँधी हुई अवधि, स्थिति, और मर्यादा तक फल दे कर नष्ट हो जाने वाली हैं। इन्हें मिटाने का सामर्थ्य देव,* मनुष्यादि किसी में नहीं है।

कभी-कभी ऐसा भी होता है कि असाता के निवारण के लिए मन्त्र-तन्त्र आदि के अनुष्ठान का सहारा लेते समय ही उसके तत्संबन्धी कर्मों की निर्जरा का समय आ जाने के कारण उस पीड़ा से मुक्ति मिल जाती है। कर्मों के रहस्य से अनभिज्ञ जीव अपने उद्धार का हेतु उक्त मन्त्रादि को मान कर उनकी संस्तुति गाने लगता है, जिसके कारण और लोग भी इस प्रकार के मिथ्यात्व में फँस जाते हैं। धर्म-ध्यान अर्थात् भावों-की-विशुद्धि के लिए पूजा, जप, ध्यान आदि धर्मानुष्ठानों में हानि नहीं है, वे निर्जरा के कारण हो सकते हैं।

जहाँ तक हमें ज्ञात है, जैनियों में इस प्रकार की मन्त्र-विद्या की चेतना मौलिक नहीं है, दूसरों की देखा-देखी नाना प्रकार की सकाम उपासना, यक्ष, नाग, शासन देवी-देवताओं की पूजा आदि उनमें प्रवेश कर गयी हैं। अन्य धर्मवालों, कापालिकों, वाम-पन्थियों आदि में इनके प्रचार-प्रसार को देख कर जैन जनता इस ओर आकृष्ट होने लगी और विधर्मी तान्त्रिकों आदि के जाल में फँसने लगी। जैनियों को इन मिथ्यात्वों की ओर झुकते देख जैनधर्म के अन्धकारपूर्ण भविष्य की आशंका के कारण संभवतः कुछ भट्टारकों, साधुओं, पण्डितों आदि ने शासन देवों, क्षेत्रपाल, मणिभद्र, पद्मावती, चक्रेश्वरी, कुष्मांडी, व्यन्तर आदि की कल्पनाएँ कर विविध प्रकार के मन्त्र, तन्त्र, यन्त्र, स्तोत्र, आदि के विधान कर दिये और उनके साथ भी वैसी ही फलश्रुतियाँ जोड़ दीं। इससे जैनों को अपने धार्मिक वृत्त में मन्त्र-तन्त्र का विधान तो मिल गया, पर वेष और परिवेश को बदल कर मिथ्यात्व उनमें भी प्रविष्ट हो गया। समयानुसार इस शृंखला में नयी कड़ियाँ जुड़ती गयीं और जुड़ती जा रही हैं। उनकी प्रशस्ति और फलश्रुतियों की अनेक कथाएँ भी गढ़ ली गयी हैं और तद्विषयक आख्यानों की रचना कर दी गयी है, या अन्य कथाओं से उन्हें जोड़ दिया गया है। ज्वालामालिनी कल्प, मन्त्र-महोदधि, मन्त्र-महार्णव, मन्त्र-शास्त्र आदि इनके कुछ साहित्य हैं। जब तक मन्त्रादि के श्रद्धालु रहेंगे तब तक तान्त्रिकों आदि का सम्मान बना रहेगा। इस संबन्ध में 'ज्ञानार्णव' के उस श्लोक की याद आती है, जिसमें कहा है कि कोई-कोई तो सही मार्ग से स्वयं हट जाते हैं, कुछ को मार्ग-भ्रष्ट लोग भ्रष्ट कर देते हैं, और कोई-कोई पाखण्डियों द्वारा रचित ग्रन्थों को देख कर मार्गच्युत हो जाते हैं।

तान्त्रिकों ने अनिष्ट की आशंका और भय दिखा कर अनेक घरों पर त्रिशूल आदि लगवा दिये हैं, मकानों को खुदवा डाला है; हत्याएँ, बलिदान आदि जाने कितने

कुकृत्य करा दिये हैं । अनपढ़ स्त्रियों में डायन के करतबों का भी बहुत प्रचार है । इनके नाम पर गाँवों में आये दिन वैर, वैमनस्य, मारपीट, हत्याएँ आदि होती रहती हैं । शिशुओं में कुपोषण के कारण हुए सूखा, विकलांगता, मृतभ्रूण, मूर्च्छा (मरमूठ) आदि रोगों को डायनों का करतब मान कर उनकी समुचित चिकित्सा के बदले मन्त्र-तन्त्र, झाड़-फूंक आदि के चक्र में पड़ कर जान-माल की हानि उठाना इन अनपढ़ों में होता ही रहता है । मान्त्रिकों में और किसी प्रकार का चमत्कार हो या न हो, परन्तु मानव-मन को विकृत करने का चमत्कार तो प्रत्यक्ष ही देखा जाता है । भारतवर्ष में बाल-मृत्यु का अनुपात अधिक होने के प्रमुख कारणों में लोगों में प्रचलित मन्त्र-मूढ़ता भी है।

मानव-मन को विकृत और परावलम्बित बनाने में आशीर्वादों, वरदानों आदि का भी बहुत बड़ा योगदान रहा है । इनके बल पर तथाकथित बाबाओं, महात्माओं, पंडों, पुजारियों आदि की दूकानें धड़ल्ले से चल रही हैं । इन लोगों ने विविध मूढ़ताओं का प्रचार कर नाम, धन कमाने और अपने नाम पर ट्रस्ट, फाउण्डेशन आदि की स्थापनाएँ करा कर उनमें अपार धनराशि जमा करने की होड़-सी लगा रखी है । साम्प्रदायिक उन्माद पैदा करने में भी इनका बड़ा हाथ रहा है । धर्म, सेवा, साधनाओं आदि की आड़ में उन्होंने शोषण, उत्पीड़न और जाने क्या-क्या किया है और कर रहे हैं ।

रसायन, धातु आदि के मिश्रण-विमिश्रण के विज्ञान-संबन्धी प्रयोगों का चमत्कार दिखा कर भोले-भाले लोगो को ठगने वाले लोगों के कारनामों के वृत्त अखबारों आदि में पढ़ कर भी लोग जाने क्यों फँस जाते हैं ? किसी गूढ़, गोपनीय मन्त्रणा के सूत्र अथवा सम्यक् अर्चन के लाघव और माधुर्य के लिए मन्त्रों का प्रयोग उपयोगी और क्षम्य माना जा सकता है, पर इनके सस्ता लगने वाले प्रचलित आकर्षक सौदों से सावधान रहना ही बुद्धिमानी है । मन्त्र-तन्त्रों की विद्या को गारुड़ी विद्या कहा गया है । आत्मबल की कमी मनुष्य को इस विद्या की ओर आकर्षित करती है, अतः आत्मबल और आत्मनिर्भरता को बढ़ाना ही इससे छुटकारे का उपाय है । कर्म-सिद्धान्त और कार्य-कारण-भाव की श्रद्धा से ही आत्मबल का विकास संभव है ।

इस (आत्मबल) संबन्ध में जैन मनीषा का स्पष्ट और मौलिक अभिमत है कि यह सम्यक् दर्शन, ज्ञान और चारित्र-युक्त आत्मा ही ध्यान का विषय है । सही ध्यान करने पर आत्मा में-से वह शक्ति निःसृत होती है, जिससे सब प्रकार के पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वात-पित्त-कफ आदि जन्य रोग, सर्प आदि के उपसर्ग, खोटे मन्त्र-तन्त्र, मुद्रा-मण्डल, हिंसक पशु, भूत, व्यन्तर, दुर्जनों आदि के सारे दुष्कृत शान्त हो जाते हैं, निर्मल हो जाते हैं । भगवान् महावीर के जीवन में इसे घटित देखा जाता है । अमितगति, शुभचन्द्र आदि आचार्यों का स्पष्ट उद्घोष है कि स्वयं के अर्जित कर्मों के अतिरिक्त दूसरा कोई किसी को, किसी प्रकार का सुख या दुःख नहीं देता या दे सकता है । स्थूल दृष्टि से ऐसा जो देखा जाता है, वह स्व-कर्म-जनित निमित्त मात्र होता है । श्रेयार्थी को इन मूढ़ताओं से सदा बच कर, कट कर और हट कर रहना चाहिये । □

देखें : जब कभी, इनमें-से, आगे और

प्रस्तुत तालिका का आधार 'तीर्थंकर' के संदर्भ-कक्ष में उपलब्ध सामग्री है, जिसे यहाँ अकारादि क्रम से संयोजित किया गया है। इसके अतिरिक्त 'तीर्थंकर' के अप्रैल १९८३ के 'जैन ध्यान/जैन योग विशेषांक' के पृष्ठ १६१-१६८ पर प्रकाशित सूची का उपयोग भी किया जा सकता है। तारांकित ग्रन्थ विशेष पठनीय हैं। –संपादक

अलौकिक शक्तियों की साधना; शत्रुघ्नलाल शुक्ल; हिन्दी सेवा सदन, मथुरा; १९८५

आयुर्वेददूत; संपादक–धनकुमार जैन; आयुर्वेददूत कार्यालय, जयपुर; स्वाधीनता दिवस विशेषांक, सितम्बर १९८६ तथा धन्वन्तरि दीपावली स्मारिका विशेषांक नवम्बर १९८०

इस्लामी तन्त्रशास्त्र; राजेश दीक्षित, असगरअली; दीप पब्लिकेशन, कंचन मार्केट, आगरा; प्र.सं. ८५, द्वि.सं. ८७

ईएसपी/द सिक्स्थ सेंस; ब्रिआन वार्ड; एन आइडिअल्स पब्लिकेशन, आइडिअल्स पब्लिशिंग कॉर्पोरेशन, लंदन

उड्डीशतन्त्रम्; प्रह्लाददास; गोवर्द्धन पुस्तकालय, मथुरा

ए डिक्शनरी ऑफ ओमेन्स एंड सुपरस्टीशन्स; संकलन–फिलिप्पा वारिंग; बेलेंटाइन बुक्स, न्यूयॉर्क; १९७८

एव्हरीडे विचक्राफ्ट; डेल्फिन सी. ल्योन्स; डेल पब्लिशिंग कं., न्यूयॉर्क; १९७२

कादम्बिनी (हिन्दी मासिक); तन्त्र विशेषांक १९८१, १९८२; संपादक–राजेन्द्र अवस्थी; हिन्दुस्तान टाइम्स हाउस, दिल्ली

गणितानुयोग; संपादक–मुनि कन्हैयालाल 'कमल'; आगम अनुयोग ट्रस्ट, अहमदाबाद-१४; १९८६

ग्रेट मिस्ट्रीज़; एल्डस बुक्स, लन्दन; ५ जिल्दें; १/मिस्ट्रीज़ ऑफ द आफ्टर लाइफ, फ्रैंक स्मिथ/रॉय स्टीमन, १९७९; २/मिस्ट्रीज़ ऑफ द इनर सेल्फ, स्टुअर्ट होलरोयद, १९७८; ३/मिस्ट्रीज़ ऑफ द माइंड, कॉलिन विल्सन/स्टुअर्ट होलरोयद,

१९७६; ४/मिस्टीरियस कल्ट्स, एंगस हॉल/जेर्मी किंग्स्टन, १९७९; ५/मिस्ट्रीज़ ऑफ द लॉस्ट लैंड्स, एलीनर वान जंट/रॉय स्टीमन, १९७८

चारुचन्द्र लेख (उपन्यास); हजारीप्रसाद द्विवेदी; राजकमल प्रकाशन, दिल्ली; १९६३

जैन तन्त्र-शास्त्र; राजेश दीक्षित/यतीन्द्रकुमार जैन; दीप पब्लिकेशन, कंचन मार्केट, आगरा-३; १९८३

ज्ञानार्णव; शुभचन्द्राचार्य; जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर; १९७७

तन्त्र (अंग्रेजी); फिलिप रॉसन; थेम्स एंड हडसन लि., लन्दन; १९७९

तन्त्र और आगम शास्त्रों का दिग्दर्शन; गोपीनाथ कविराज; बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना; १९७७

*तन्त्रदर्शन; गोविन्द शास्त्री; सर्वार्थसिद्धि प्रकाशन, १२८, कटवारिया सरायगाँव, नई दिल्ली-६; १९८०

तन्त्र-विज्ञान; गोविन्द शास्त्री; अनुपम पॉकेट बुक्स, कमलानगर, दिल्ली-७; १९७७

तन्त्रशक्ति; के. ए. दुबे 'पद्मेश'; सुबोध पब्लिकेशन्स, २/३ बी अंसारी रोड, नई दिल्ली-२; १९८२

तन्त्र-सिद्धि-रहस्य; गोविन्द शास्त्री; साधना पॉकेट बुक्स, दिल्ली; १९८०

तन्त्राभिधान (तान्त्रिक टेक्स्ट्स, आर्थर एवलॉन, व्हॉ. १); संपादन—पंचानन भट्टाचार्य; संस्कृत बुक डिपो, २८-१, कॉर्नवालिस स्ट्रीट, कलकत्ता; १९३७

तन्त्रालोक ऑफ अभिनव गुप्त; संपा.—आर. सी. द्विवेदी/नवजीवन रस्तोगी; मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली; १९८७

तान्त्रिक बौद्ध साधना और साहित्य; नागेन्द्रनाथ उपाध्याय; नागरी प्रचारिणी सभा, काशी; १९५८

द दिक्शनरी ऑफ ड्रीम्स; गुस्तावस हाइंडमेन मिलर; ब्लेकटन-हॉल लिमिटेड, डेवोन; १९८४

द डिक्शनरी ऑफ द ऑकल्ट; बी. डब्ल्यू. मार्टिन; राइडर एंड कं., लन्दन; १९७९

द तान्त्रिक वे/आर्ट, साइंस, रिच्युअल; अजित मुकर्जी/मधु खन्ना; न्यूयॉर्क ग्राफिक सोसायटी, बोस्टन; १९७७

द बुद्धिस्ट तन्त्राज़ (बुद्धिस्ट ट्रेडीशन्स सीरीज़, व्हॉ. ७); अलेक्स वेमेन; मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली

नरकेसरी साप्ताहिक; दीपावली मन्त्र विशेषांक, ६ नवम्बर १९८६; संपा.—रवीन्द्र वत्स; नरकेसरी कार्यालय, रेल्वे रोड, सोनीपत

नादयोग; चमनलाल गौतम; संस्कृति संस्थान, ख्वाजा कुतुब, बरेली-३; १९८४

परामनोविज्ञान; कीर्तिस्वरूप रावत; नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली; १९८४

परामनोविज्ञान और हमारा जीवन; शान्तिलाल छाजेड़; दादागुरु प्रकाशन, इन्दौर-६; प्र.सं. १९८२

प्रतीकशास्त्र; परिपूर्णानन्द वर्मा; हिन्दी समिति, सूचना विभाग, उत्तरप्रदेश, लखनऊ, १९६४

प्रेक्टिकल्स ऑफ मन्त्राज़ एंड तन्त्राज़; एल. आर. चौधरी; सागर पब्लिकेशन्स, ७२, जनपथ, वेद मेंसन, नई दिल्ली-१; १९८५

बन्धन टूटे (उपन्यास), ३ भाग; गुजराती – वैद्य चुन्नीलाल धामी, अनु. मुनि दुलहराज; आदर्श साहित्य संघ, चुरू (राजस्थान); १९७४

*मन्त्र-रहस्य; नारायणदत्त श्रीमाली; हिन्द पुस्तक भण्डार, खारी बावली, दिल्ली-६; १९८१

मन्त्र-रहस्य; स्वामी मुक्तानन्द; गुरुदेव सिद्धपीठ, गणेशपुरी (ठाणे); १९८४

मन्त्र-विज्ञान; गोविन्द शास्त्री; अनुपम पॉकेट बुक्स, कमलानगर, दिल्ली-७; १९७७

माहेश्वरीय तन्त्रम्; टीका—रामेश्वरदत्त शर्मा; मास्टर खेलाड़ीलाल एंड सन्स, कचौड़ी गली, वाराणसी-२; १९५१

यन्त्र (अंग्रेजी); मधु खन्ना; थेम्स एंड हडसन लिमि., लन्दन; १९७९

योगिनी तन्त्रम्; बिश्वनारायण शास्त्री; भारतीय विद्या प्रकाशन, दिल्ली-७; १९८२

लघुतत्त्वस्फोट; अमृतचन्द्रसूरि; एल.डी. इंस्टीट्यूट ऑफ इंडोलॉजी, अहमदाबाद-९; १९७८

लघुविद्यानुवाद; संकलन—मुनि कुन्थुसागरजी/आर्यिका विजयमतीजी; कुन्थु-विजय ग्रन्थमाला समिति, जयपुर-३; १९८१

लाइफ आफ्टर लाइफ; रेमंड ए. मूडी; इंडिया बुक हाउस प्रा. लि., बम्बई; १९७५

*विज्ञान भैरव; ब्रजवल्लभ द्विवेदी; मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली; १९७८

विचक्राफ्ट एंड द मिस्ट्रीज़; लॉरेन पैने; टेपलिंगर पब्लिशिंग कं., न्यूयॉर्क; १९७५

वैदिक तान्त्रिज्म; एम. एस. भट; मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली १९८७

शावर तन्त्र-शास्त्र; राजेश दीक्षित; दीप पब्लिकेशन, कंचन मार्केट, आगरा-३; १९८६

श्रीचतुर्विंशति तीर्थंकर (अनाहत यंत्र-मंत्रविधि); कन्नड़ से अनुवाद–मुनिश्री कुन्थुसागर अनु. तिथि २० दिस. १९८१; श्री दिगम्बर जैन कुन्थु-विजय ग्रन्थमाला समिति, जयपुर-३; १९८२

श्री आचार्य महावीरकीर्त्ति स्मृति ग्रन्थ; संपादक–लालबहादुर शास्त्री, वर्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री, पं. महेन्द्रकुमार, पं. नरेन्द्र प्रकाश, पं. धर्मप्रकाश; आचार्य महावीर कीर्त्ति दिगम्बर जैन धर्मप्रचारिणी संस्था, अवागढ़ (उत्तरप्रदेश); १९८७

संडे; द तान्त्रिक क्वेस्ट/समरेश बोस; संपादक–एम. जे. अकबर; आनन्द बाज़ार पत्रिका पब्लिकेशन, कलकत्ता-१; २५ जनवरी १९८१

सात मुसाफिर; अमृता प्रीतम; किताबघर मैनरोड, गाँधीनगर, दिल्ली-३१; १९८५

सीक्रेट कल्ट; पीटर हूनम एंड एंड्रयू हॉग; ए लॉयन पेपर बैक, सिडनी; १९८४

सीक्रेट्स ऑफ सॉर्सरी, स्पेल्स एंड लेजर कल्ट्स ऑफ इंडिया; पी. थॉमस; डी. बी. तारापुरवाला सन्स एंड कं. लि., बम्बई; १९६६; पुनर्मुद्रण १९८३

शैतानिज्म एंड एक्झोरिसिज्म; फ्रेंक जे. मेकार्थी; डेल पब्लिशिंग कं., न्यूयॉर्क; १९७४

स्वप्न और शकुन; गौरीशंकर कपूर; रंजन पब्लिकेशन्स, १६, अन्सारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली-२; १९८६

हॉण्टिंग्ज़ एंड अपारीशन्स; एंड्रयू मैकेंजी; ग्रेनेडा पब्लिशिंग लिमिटेड, लंदन; १९८२

हिन्दुस्तान (हिन्दी साप्ताहिक); तन्त्र विशेषांक, ८ नवम्बर १९८६; संपादक–राजेन्द्र अवस्थी; हिन्दुस्तान टाइम्स हाउस, दिल्ली; १९८६

हिन्दू तन्त्र-शास्त्र; राजेश दीक्षित; दीप पब्लिकेशन, अस्पताल रोड, आगरा-३; १९८४

हिन्दू मिस्टिसिज्म; एस. एन. दासगुप्ता; मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली; १९८७

हिप्नोटिज्म फॉर ऑल; अल्फ्रेड जॉन; न्यू लाइट पब्लिशर्स, नई दिल्ली-६०

हिमालय के योगियों की गुप्त सिद्धियाँ; नारायणदत्त श्रीमाली; हिन्द पॉकेट बुक्स, दिल्ली; १९८६

□□

('लघुविद्यानुवाद' उर्फ कुन्थु-कथा-सागर : पृष्ठ ९६ का शेष)

'श्वेत रींगणी मूल पुष्य नक्षत्र में ले कर एक वर्ण की गाय के दूध में पीवे तो वन्ध्या भी पुत्रवान् होती है'।
आकलकों को किसी बाँझ के पुत्रवती होने, न होने में क्या दिलचस्पी होनी चाहिये; यह चिन्ता का विषय है।

किस्सा नं. ३ (अ. ५, पृ. ९)–

'बिल्ली की जरा को (जो बच्चा पैदा होने के समय निकलती है) त्रिलोह के तावीज में डाल कर पास रखें तो अदृश्य होता है'।–बताइये किसी श्रमण या श्रमणी का बिल्ली की जरा से क्या संबन्ध हो सकता है? उसे किसी को अदृश्य होने की सलाह या उपाय क्यों देना अथवा बताना है? असल में उसे इस तरह के तान्त्रिक प्रयोगों में दिलचस्पी होनी चाहिये या मोक्षमार्ग में?

किस्सा नं. ४ (अ. ५, पृ. ९)–

'श्वेतसरपंखा की जड़ को नाभि पर लेप करने से वीर्य का स्तंभ होता है या श्वेतपुनर्नवा की जड़ को दूध के साथ घिस कर पिलाने से स्त्रियों को गर्भ रहता है'। –आप खुद गहरे में उतर कर सोचें कि क्या इन सब कथनों का या तान्त्रिक प्रयोगों का महाश्रमण भगवन्त महावीर द्वारा प्रणीत परम पुनीत ब्रह्मचर्य (महा/अणु) व्रत से कोई सरोकार है?

किस्सा नं. ५ (अ. ५, पृ. १५ : पमाड कल्प)–

'बिल्ली के ऊपर की दाढ़ और कुत्ते के नीचे की दाढ़ को भक्तामर के काव्य का नंबर वाला मन्त्र से मंत्रीक करके शत्रु के घर में गाड़ देने से शत्रु का घर टूट जाता है, महान् उत्पात होता है'।–चिन्ता का विषय है कि एक श्रमण को तृष्णा-पिशाची की दाढ़ों का इलाज़ करना चाहिये या बिल्ली-कुत्ते की दाढ़ें ढुँढ़वाने की झंझट उठानी चाहिये; और क्या भक्तामर-जैसे उदात्त काव्य का बिल्ली-कुत्ते की दाढ़ें मन्त्रित करने के लिए इस्तेमाल किया जाना चाहिये?
क्या इन सारे कौतुकों से जैनधर्म अथवा दर्शन की अन्तरात्मा का कोई संबन्ध है?

किस्सा नं. ६ (अ. ५, पृ. १७ : अथ रक्तगुंजा कल्प)–

'जो घृत में घिस कर करे, लेप मूत्र नर ताय।
भोग-शक्ति बाढ़े अमित, मन अति मोद उठाय।।'

इन पंक्तियों को ब्रह्मचर्य व्रत के आमने-सामने रख कर देखें। क्या यह सब जैनाचार पर एक करारा व्यंग्य या उसके मुँह पर तमाचा नहीं है? क्या इस तरह के साहित्य को कोई दिगम्बर आर्यिका या दिगम्बर आचार्य तरजीह दे सकता है?

किस्सा नं. ७ (अ. ५, पृ. २०)–

'लज्जारिका और मेंढक की चरबी को हाथ पर लगा लेने से अग्नि का स्तंभन होता है और श्वास निराध से तुला दिव्य का स्तंभन होता है'। – कृपया बतायें कि मेंढक-की-चरबी का और अहिंसा को परम धर्म मानने वालों का कोई स्पष्ट रिश्ता हो सकता है? क्या हम इसे फिजूल की बकवास नहीं कहेंगे? है इन सबका जैन श्रमणाचार या श्रावकाचार से कोई संबन्ध? हम पूछते हैं कि इतनी घिनौनी किताब का बिना देखे भगवान् वाहुबली के सहस्राबाद महामस्तकाभिषेक-जैसे अति पावन प्रसंग पर विमोचन क्यों/कैसे हुआ?

किस्सा नं. ८ (अ. ५, पृ. २६)–

'रविहस्त को पमाड की जड़, शनिवार को न्योत कर रविवार को प्रातः उसे ला कर दाईं भुजा में बाँधने से जुआ में जीत होती है'। – इस मन्त्र या तन्त्र द्वारा किसी गृहस्थ से आचार्यप्रवर या आर्यिकाश्रीजी क्या अपेक्षा रखते हैं किसी लॉटरी का खुलना या सट्टे की कोई जीत? क्या जिस द्यूत का जिनागम में खुल कर निषेध हुआ है, और जो सात व्यसनों में-से एक है – उसका यह खुल्लमखुल्ला प्रचार नहीं है?

किस्सा नं. ९ (अ. ५, पृ. ३४ : वहेड़ा कल्प)–

'जैसे:—१/दाहिनी जाँघ के नीचे रख कर भोजन करे तो अपनी खुराक से बीस गुना ज्यादा भोजन कर सकता है'। —क्यों करना है किसी को अघोर की तरह का भोजन? क्या इस सूत्र का न्यूनोदरिका/उपवास/एकासन/बेला/तेला/मास-क्षमण आदि से कोई संबन्ध है? क्या जैनाचार में ज्यादा खाने की कोई उत्तेजना या उद्दीपना दी गयी है? और फिर बीस गुना अधिक खाना है, या बीस गुना अधिक ज्ञानार्जन करना है – पता नहीं यह अध्यात्म-युग्म जैन समाज को कौन-सी दिशा-दृष्टि देना चाहता है?

किस्सा नं. १० (अ. ५, पृ. ४३)–

'बंदा – एक वृक्ष पर दूसरे वृक्ष का निकल आना बंदा कहलाता है। उस वृक्ष की गाँठ लेना चाहिये। –अपनी माँ का नाम कागज पर लिख कर मस्तक के नीचे दबा कर सोने से स्वप्नदोष कभी नहीं होता है। और यह रोग मिट

जाता है।' –पता नहीं इस तरह के नुसखों (रेसिपी) से साधकद्वय ब्रह्मचर्य के किस रूप को विकसित करना चाहते हैं?

चतुर्थ खण्ड में यक्ष-यक्षिणियों के **नाम-स्वरूप** आदि का विस्तृत और सचित्र **विवरण** दिया गया है।

उनकी पंचोपचारी पूजा-का-क्रम, होम-विधि आदि भी इसी में दी गयी है। चित्र कल्पित हैं, उनके असली होने का तो प्रश्न ही नहीं है; आज तक किसने देखा है इन्हें; और फिर जैनधर्म के बुनियादी उसूलों से इनका क्या तालमेल है? जिनके हाथ में तरह-तरह के हथियार हैं उनका भला जैनधर्म की अहिंसक मान्यताओं से कोई सरोकार हो सकता है? ये सिर्फ किसी कालखण्ड में हुए अस्तित्व-रक्षा के अनुबन्ध हैं जिनकी उपयोगिता अब ध्वस्त हो चुकी है। अब इन्हें क्रमशः समाप्त किया जाना चाहिये और सुबह के भूले को शाम होते-होते सूरज की अन्तिम किरण के साये में घर लौट आना चाहिये।

वास्तव में जैनधर्म में निरूपित सम्यक्त्व से इन सब ऊलजलूल बातों का कोई वास्ता नहीं है। यह सब निरर्थक है, प्रयोजन-रहित है, और अन्धविश्वासों की काली छाया को घनीभूत करने वाला है। साधुओं को/श्रावकों को चाहिये कि वे ध्यान आदि की विज्ञान-सम्मत विधियों को बतायें, जानें और जैनधर्म की मौलिकताओं को अनेकान्त के परिवेश में प्रचारित करें, विश्व को समझायें।

□

तृतीय खण्ड में यन्त्रों की चर्चा है।

इसमें भी आडम्बर के अतिरिक्त कुछ नहीं है।

हमारा महामन्त्र है: णमोकार; जो सम्प्रदायातीत है और जो मातृका-सिद्ध है। यह मात्र मन्त्र ही नहीं है संपूर्ण जैनदर्शन का निचोड़ है, उसका परम सारांश है। इसके 'उपांशुजाप' से न केवल मन वशीभूत होता है वरन् हृदय-के-नेत्र भी खुलने लगते हैं।

यह अत्यन्त दिव्य/अलौकिक मन्त्र है, जिसका लौकिक कामनाओं की पूर्ति से कोई संबन्ध नहीं है; किन्तु इसे छोड़ 'लवि' के इस खण्ड में मन्त्रों के जो चोंचले दिये गये हैं उनसे किसी भी साधक का सिर शर्म से झुक जाता है।

माना, गणित की अपनी प्रभाव-परिधि है; किन्तु यह तय है कि शुद्ध गणित का तन्त्र-मन्त्र से कोई सीधा रिश्ता नहीं है।

यन्त्र-महिमा के वर्णन में भी ऊलजलूल बातें कही गयी हैं और अन्त में भगवान् पार्श्वनाथ की 'सिग्नेचर ट्यून' दे कर उसे सुसिद्ध-विधिसम्मत मान लिया गया है।

सब जानते हैं भगवान् पार्श्वनाथ क्षमा-की-जीवन्त मूर्ति थे; अतः उनके परम पुनीत दर्शन/स्मरण से हमें क्षमा और समत्व के लोकोपकारी मन्त्र मिलते हैं। ये दोनों सफलता की कुंजी हैं। जहाँ क्षमा और समता हैं, वहाँ कौन-सी ऋद्धि-सिद्धि नहीं है? सब हैं।

इसी खण्ड के पृष्ठ ३७९ पर कहा गया है कि '···एक चिमगादड़ पक्षी को पकड़ कर लावे। उस चिमगादड़ के पंख पर पीपल, मिरचु घर का धुआँ, बन्दर का विष्टा, नमक, समुद्र फेन इनका चूर्ण कर स्याही बनावे। उस स्याही से लिख कर उस चिमगादड़ पक्षी को उड़ा देवें, चिमगादड़ जिस दिशा में उड़ेगा, उसी दिशा में शत्रु भाग जाएगा। उसका उच्चाटन हो जाएगा—(२४७)। हो सकता है चिमगादड़ विपरीत दिशा में उड़ आये;

आखिर पक्षी ही तो ठहरा, तो फिर शत्रु देश या राज्य में घुस आयेगा। मन्त्र बहुत अस्पष्ट है। इसे खुलासों के साथ दुनिया-भर के मुल्कों की सरकारों को बेच देना चाहिये ताकि वे अपने शत्रु-राष्ट्रों का विद्वेषण कर सकें? भारत सरकार से तो तुरन्त ही कोई अनुबन्ध करना चाहिये; और यदि साधक-युग्म परामर्श माने तो उसे इसका 'पेटेंट' अवश्य ले लेना चाहिये। पता नहीं 'कुविग्रंमास' के संयोजकजी ने 'लवि' का कॉपीराइट अभी तक प्राप्त किया है या नहीं? यदि नहीं किया है तो उन्हें अविलम्ब वैसा कर लेना चाहिये ताकि इतनी बड़ी निधि का कोई दुरुपयोग न कर बैठे? इतना तो पूरी फुर्ती और तत्परता से कर ही लेना चाहिये।

वस्तुत: प्रकृति अत्यन्त व्यवस्थित/नियमित है; वहाँ कोई भी घटना बिना कार्य-कारण के घटित नहीं है। एक तिनका भी यदि इधर-से-उधर होता है तो उसके पीछे सुस्पष्ट कारण होता है;
यह बात बिलकुल अलग है कि हम उसे जान पाने में असफल रहते हों या हमने अपनी क्षमताओं को उस सीमा तक विकसित न किया हो; किन्तु यह शत-प्रतिशत तय है कि लोक में जो भी घटित है उसकी भाषा गणितीय है और उसका आधार कार्य-कारण-नियम है। यदि बिना कार्य-कारण के ऊलजलूल/अव्यवस्थित कुछ भी घटित होने लगे तो कर्मसिद्धान्त धराशायी हो जाएगा और 'गोम्मटसार' आदि ग्रन्थों का गणित व्यर्थ हो जाएगा।
गणित की प्रक्रिया सर्वोपरि है। वहाँ ४×५=२० ही होंगे। उनके १९ या २१ होने का कोई प्रश्न ही नहीं है। भौतिकी का क्षेत्र भी गणितीय धरातल पर खड़ा हुआ है। उसके नियम भी लगभग अपरिहार्य हैं। ध्यान रहे, प्रकृति में आकस्मिक कुछ भी नहीं है; जो है वह सब क्रमबद्ध और पद्धतिबद्ध है। यह बात अलग है कि हम उसके रहस्य और उसकी गतिविधियों को जानते न हों और हमें उसका स्वाभाविक आचरण चमत्कारिक प्रतीत होता हो; किन्तु यह दोष या कमी प्रकृति की नहीं, हमारी है। वहाँ तो जो भी घटित, या अवस्थित है वह सब उत्पाद, व्यय, और ध्रौव्य के त्रिकोण में निबद्ध है। इसके बाहर कुछ भी नहीं है।

स्थितियाँ बन रही हैं, मिट रही हैं; किन्तु न तो कुछ बन ही रहा है और न ही मिट रहा है—एक ध्रौव्य बना हुआ है। ध्रुवता की यह पकड़ अनुभूति में जितने गहरे में प्रकट होती है;

भौतिक रूप में वह उतनी तीव्रता में व्यक्त नहीं हो पाती। अध्यात्म का क्षेत्र अनुभूति का क्षेत्र है। जिस तरह हम इन्द्रियगम्य अस्तित्व को नकार नहीं पाते, उसी तरह इन्द्रियातीत घटनाओं को नकारना या उनके अस्तित्व को न मानना संभव नहीं है। अनुभूति-का-सत्य निश्चय ही सूक्ष्मतर है और उसकी पकड़ उन साधनों से संभव नहीं है जो स्वयं सीमित हैं।

चाहे विज्ञान का क्षेत्र हो या अध्यात्म का, यह असंभव ही है कि हम तर्क की अँगुली छोड़ दें और एक कल्पना-जगत् में ऊलजलूल स्थितियों/निष्कर्षों से जुड़ जाएँ।

'लवि' में ऐसी स्थितियों का उल्लेख/विवरण है जिन्हें भौतिक और आनुभूतिक दोनों ही स्थितियों में पकड़ पाना संभव नहीं है। तीर्थंकर विज्ञान-पुरुष थे। उन्होंने किसी भी तथ्य को तर्क की गैरहाज़िरी में स्वीकार नहीं किया। आप ही सोचें, जो 'परमाणु' को उसकी परिपूर्ण दिगम्बरता में देखने की क्षमता प्राप्त कर चुका हो, उसे छोटे-मोटे तथ्यों को नग्न देखने में क्या कठिनाई हो सकती है?

'लवि' में जो कुछ आकलित है एक तो वह अव्यवस्थित है, दूसरे वह अपरीक्षित है। उसमें कहीं भी भौतिकी, रसायनशास्त्र, गणित आदि के प्रमाण प्राप्य नहीं हैं। जो भी छपा है, वह भी भाषिक तल पर ही अशुद्ध और सदोष है। वस्तुतः 'लवि' में तन्त्रशास्त्र की दुर्बलताओं को तो अभिव्यक्ति मिल गयी है; किन्तु उसकी गरिमा और महत्ता का कहीं कोई वर्णन ही नहीं है। यदि मन्त्र, यन्त्र, और तन्त्र में यही सबकुछ है, जो 'लवि' में दिया गया है तो किसी भी ऐसे व्यक्ति को जो तर्क के धरातल पर स्थितियों की जाँच-पड़ताल करता है, निराशा के अलावा कुछ और हाथ नहीं लग सकता।

एक बात है : तान्त्रिक होना एक जुदा सूरत है और जैन मुनि होना जुदा। इन दोनों को मिला कर देखना उचित नहीं है।

इस संदर्भ में ब्रह्म गुलाल (सत्रहवीं शताब्दी) का प्रसंग याद हो आता है। वे नाना भेष रखा करते थे। एक बार जब उन्हें राजा ने सिंह का रूप धारण करने के लिए कहा तब वे तैयार तो हो गये, किन्तु उन्होंने साफ-साफ कह दिया कि यदि सिंह द्वारा कोई हिंसक घटना होती है, तो उसकी जिम्मेवारी मेरी नहीं होगी। राजा के 'हाँ' भरने पर उन्होंने सिंह का रूप धारण किया और जब राजकुमार ने उनका

उपहास किया तो उस पर आक्रमण कर दिया । आक्रमण में राजकुमार की मृत्यु हो गयी । राजा वचनबद्ध था, चुप रहा; किन्तु उसके मन में गहरे कहीं प्रतिकार-की-भावना बनी रही; अतः उसने ब्रह्म गुलाल से द्वेष रखने वाले चाटुकारों के बहकावे में आ कर जैन मुनि का रूप धारण करने को कहा । ब्रह्म गुलाल ने कहा – 'इस काम में मुझे कम-से-कम छह माह लग जाएँगे' । राजा ने उसकी शर्त को स्वीकार कर लिया । ब्रह्म गुलाल ने छह माह तक मुनित्व की कठोर साधना की ओर छठे मास के अन्त में वह जैन मुनि के रूप में राज दरबार के सामने से निकल गया । कहते हैं तब से उसने तमाम ऐन्द्रजालिकता छोड़ दी और निर्मल चित्त से 'निश्चयचारित्र' में वह उतर गया । क्या ऐसी ही उत्कट/प्रखर साधना की अपेक्षा हम अपने समकालीन साधुओं से नहीं रखना चाहेंगे ? 'लवि' के संकलयिताओं से हम निवेदन करेंगे कि वे तन्तर-मंतर के व्यवहार क्षेत्र को छोड़ें और निश्चयचारित्र में असंदिग्ध छलाँग लगायें । हम उनके व्यक्तित्व में ब्रह्म गुलाल और शुभचन्द्र के व्यक्तित्व को उभरता/अँगड़ाई भरता देखना चाहेंगे; हम ही क्यों संपूर्ण द्वादशांग उनमें जैनत्व का/जैन साधुत्व का निर्मलतम स्वरूप देखने की अभिलाषा रखता है ।

यह मात्र सुझाव है; जिसे मानना, न मानना हमारे हाथ में नहीं है । हम तो मात्र स्थितियों का जिक्र कर सकते हैं, उनमें-से कौंधते निष्कर्षों को पाना हमारे वश में नहीं है ।

☐

अब आइये हम द्वितीय खण्ड का विहंगावलोकन करते हैं । इसमें पृष्ठ ३८ पर गर्भ-मोचन (अबोर्शन), पृष्ठ ९४ पर धनुर्वात-(टीटेनैस) निवारण, पृ. ११६ पर बिक्री में बढ़त, पृ. १८९ पर गर्भ-स्थंभन, तथा पृ. २१९ पर पुत्रोत्पत्ति के लिए मन्त्र दिये गये हैं । इन ऐसे सारे मन्त्रों में पंचपरमेष्ठी के नाम भी आये हैं ।

जहाँ तक मन्त्र के वैज्ञानिक स्वरूप का प्रश्न है, वह असंदिग्ध है; किन्तु 'लवि' में जिस तरह से उसे प्रस्तुत किया गया है, उससे मन्त्र बदनाम ही होता है, उसके प्रभाव की कोई सूचना नहीं मिलती । मन्त्र का क्षेत्र ध्वनि-तरंगों का; यन्त्र का बिन्दु, रेखा, कोण, वृत्त आदि का; तथा तन्त्र का विधि (प्रोसीजर/मेथड) का क्षेत्र है । तीनों में क्रमशः भौतिकी, गणित, भूमिति, मुद्रा, आसन आदि की स्पष्ट भूमिका है । वनस्पति और जीव विज्ञान

का भी संबन्ध इन तीनों से है । रसायन-शास्त्र भी इनसे संबन्धित है । स्वयं शरीर भौतिकी और रासायनिकी की एक आश्चर्यजनक प्रयोगशाला है । यह लोक से पृथक् नहीं है – लोकवत् है; अतः इसमें अवस्थित शक्तियों के माध्यम से संपूर्ण जगत् को प्रभावित किया जा सकता है– बदला नहीं जा सकता । 'लवि' को ले कर हमारी आपत्ति सिर्फ यह है कि इसमें-से अन्धविश्वासों और क्रूरताओं को हटाया जाए और इसे विज्ञान से सीधे मूलबद्ध किया जाए ।

यदि हम प्रयत्नपूर्वक 'लवि' में-से जैनधर्म को घटा दें तो हमारे पास ९०% अवशेष वह होगा जिसका जैनधर्म/दर्शन से कोई वास्ता नहीं है; अतः हमें विश्वास है कि 'लवि' का जो अगला संस्करण आयेगा वह मात्र ५० पृष्ठों का होगा; किन्तु जिसमें मन्त्र, यन्त्र, और तन्त्र की अत्यन्त वैज्ञानिक/तर्कसम्मत व्याख्या होगी और उसका ज़र्रा-ज़र्रा अध्यात्म से जुड़ा होगा । अन्ततोगत्वा हमें यह तो जान ही लेना है कि जैनधर्म निवृत्तिमूलक है; प्रवृत्तिमूलक नहीं है ।

पृ. १६६ पर जो कुछ दिया गया है, उसे अन्त में देते हुए हम 'लवि' की इस चर्चा को समाप्त करेंगे । कुल किस्सा है–

'मन्त्र —ॐ गुहिया वैतालाय नमः ।

विधि – काली गाय का गोबर जब भूमि पर न पड़े उससे पहले ही रविवार को प्रभात ही अधर ले लेवे;

फिर जंगल में एकान्त जगह में जा कर उस गोबर का ४ कंडे बनाना, फिर उसी दिन से नमक रहित, गाय के दूध के साथ भोजन करना, उसी दिन से ब्रह्मचर्य का पालन करना, जब शौच लगे जंगल में जहाँ कंडे पड़े थे वहाँ जा कर एक कंडे पर दाहिना पैर रखना दूसरे कंडे पर बाँया पैर रखना, एक कंडे पर शौच करना, एक कंडे पर पेशाब करना, शौच करते समय इस मन्त्र का एक हज़ार जाप करना । इस प्रकार तीसरे रविवार तक करना, जब तीसरा रविवार आवे तब शमशान की अग्नि ला कर मल वाला कंडा और पेशाब वाला कंडा दोनों को अलग-अलग जलावे, फिर जला कर दोनों कंडों की भस्म अलग-अलग रख लेवे । जब प्रयोग करना हो तो शत्रु के घर में विष्टा के कंडे वाली भस्म को डालने से शत्रु के घर में खाने-पीने की वस्तु में विष्टा-ही-विष्टा हो जाएगा, शत्रु भोजन नहीं करने पावेगा ।

जब शत्रु चरणों में आ कर पड़े तो पेशाब वाले कंडे की राख को शत्रु के घर में डलवाने से विष्टा होना बंद हो जाएगा । तब शान्ति होगी ।'

इस सारे पैरे को पढ़ कर चित्त तो क्षुब्ध होता ही है, जैनधर्म की अ-सम्यक् छवि आँखों में अचानक आ खड़ी होती है और तरस आता है उन लोगों पर जो इस तरह से अघोर तन्त्र के साथ 'ॐ' जैसे प्रणव नाद को जोड़ते हैं । आप ही बतायें क्या उक्त मन्त्र से जैन धर्म या दर्शन की कोई आयडेंटिटी या पहिचान बनती है ? पता नहीं, कैसे आचार्य कुन्दकुन्द के प्रवचनसार (चरित्राधिकार/४१) की यह गाथा, जब मैं लिख रहा हूँ तब, बिलकुल नजदीक आ खड़ी हुई है । गाथा है–

समसत्तुबंधुवग्गो समसुखदुक्खो पसंसणिंदसमो ।
समलोट्ठुकंचणो पुण जीविदमरणो समो समणो ।।

एक श्रमण के सामने शत्रु और बंधु, सुख और दु:ख, प्रशंसा और निन्दा, लोष्ठ और स्वर्ण, जीवन और मरण समान होते हैं; अत: न तो शत्रुता का वह कोई उपदेश देता है और न ही उसका कोई शत्रु-मित्र होता है ।

आप ही बतायें कि ऐसे वीतरागी पुरुष की किसी के बने-बनाये भोजन को विष्टा में परिवर्तित करने की रुचि कैसे हो सकती है ? क्या वह ऐसे किसी प्रयोग द्वारा किसी के भी दुश्मन को इस तरह आत्मसमर्पित होने/कराने की सलाह (मन्त्र) दे सकता है ?
क्या कोई दिगम्बर जैन साधु या साध्वी इस अघोर कृत्य की अनुशंसा कर सकता है ? क्या कोई श्रमण/मुनि/साधु शौच करते समय किसी गृहस्थ को 'ओम्' के एक हज़ार बार उच्चारण का निर्देश दे सकता है ?
और यह 'वैताल' कौन है, जिसे नमन किया जाए ? क्या हमारा मस्तक रागद्वेष-मुक्त/इन्द्रियजित् के अलावा किसी और के चरणों में झुक सकता है ?
ऐसे नाना प्रश्न हैं जो ऊपर दिये गये मन्त्र के सिलसिले में अनायास ही ज़ेहन पर आ खड़े होते हैं और उत्तर की माँग करते हैं ?
है कोई जवाब ? शायद नहीं है । यदि है भी तो यही कि 'कुवि' 'लवि' को खुद-ब-खुद वापिस लें; उसकी भर्त्सना करें तथा यह घोषित करें कि इसका जैनधर्म/दर्शन से कोई वास्ता नहीं है । यह अघोर तन्त्र है, जिसका प्रयोग जैनधर्म-की-संरचना में निषिद्ध है ।
हमें विश्वास है 'कुवि' तथा उनसे संबंधित श्रावक-वर्ग जल्दी ही इस प्रपंच से इस्तीफा देंगे और जैन धर्म-दर्शन की निर्मलताओं/विमलताओं के प्रचार-प्रसार में अभिरुचि लेंगे ।
वे मन्त्र, यन्त्र, और तन्त्र का वैज्ञानिक अध्ययन-अनुसंधान करेंगे और विश्व को यह बतायेंगे कि इनसे नि:सृत शक्तियों का आत्मा के असली स्वरूप को उद्घाटित करने में क्या योगदान हो सकता है ? □□

स्व. डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री, ज्योतिषाचार्य

जैन स्वप्न-शास्त्र : एक तुलनात्मक अनुप्रेक्षण

विश्व का प्रत्येक अणु रहस्यमय है। अनादिकाल से आज तक इस रहस्य का उद्घाटन करने के लिए दार्शनिक जगत् अनवरत उद्योग करता आ रहा है, तो भी रहस्य की तह में पहुँचने वाले इने-गिने केवलज्ञानी ही हो सके हैं। यथार्थ में ज्ञानोदधि इस तरह गम्भीर है कि इसकी थाह विरले ही लगा पाये हैं, फिर भी अपने-अपने ढंग से प्रत्येक विचारक ने सिद्धान्त निर्णय किये हैं। प्रस्तुत स्वप्न-जगत् भी उनके विवेचन-क्षेत्र से पृथक् नहीं है। इसके रहस्य और महत्त्व की भी प्राच्य और पाश्चात्य दार्शनिकों ने गहरी खोज की है। यही कारण है कि स्वप्न के विषय में भी दो प्रकार की प्रमुख विचार धाराएँ पायी जाती हैं, जिन्हें हम प्राच्य विचार-धारा और पाश्चात्य विचार-धारा कहते हैं। यह बात दूसरी है कि इनमें से भी प्रत्येक में कई उपधाराएँ फूट निकली हैं।

प्राच्य दर्शनाचार्यों और पाश्चात्य दर्शनाचार्यों की विवेचना-प्रणाली के मूल में यही अन्तर है कि पहली प्रणाली की नींव आत्मा की अमरता पर है और दूसरी की नींव भौतिकता पर। इससे स्वप्न के आन्तरिक स्वरूप में महान् अन्तर पड़ जाता है। द्वितीय प्रणाली के विचारकों की विचार-सीमा बुद्धि तत्त्व तक ही सीमित है, आज तक वे इसके परे पहुँचने में असमर्थ ही रहे हैं, और अनुमान भी यही किया जाता है कि वैज्ञानिक शक्ति आत्मतत्त्व तक पहुँचने में असमर्थ ही रहेगी। इसी भित्ति पर स्थित उनका स्वप्न-संबन्धी विचार भी अधूरा ही रह गया है, यथार्थत: स्वप्न का संबन्ध आत्मा से ही है, जैसा कि प्राच्य आचार्यों ने सुबोध एवं व्यावहारिक ढंग से प्रमाणित कर संसार के सामने उपस्थित किया है। प्राच्य विवेचनानुमोदित आत्मा की अमरता के सिद्धान्त से यह स्पष्टतया सिद्ध होता है कि हमारे वर्तमान जीवन का सांसारिक संबन्ध पूर्वभवों से भी है; इसलिए यह स्वयंसिद्ध है कि स्वप्न पर भी पूर्वभवों के संस्कार शासन करते हैं।

पाश्चात्य जगत् में स्वप्न पर काफी खोज की गयी है, अब तक अंग्रेजी में अनुमानत: १००-१५० पुस्तकें इस संबन्ध में लिखी जा चुकी हैं। वैज्ञानिकों ने अधिकांश रूप में स्वप्न के कारणों की खोज़ की है, उसके फलाफल की नहीं। अरस्तू कारणों का अन्वेषण करते हुए लिखते हैं कि जागृत अवस्था में जिन प्रवृत्तियों की ओर व्यक्ति का ध्यान नहीं जाता है, वे ही प्रवृत्तियाँ अर्द्धनिद्रित अवस्था में उत्तेजित हो कर मानसिक जगत् में जागरूक हो जाती हैं; अत: स्वप्न में हमें हमारी छुपी हुई प्रवृत्तियों का ही दर्शन होता है। एक दूसरे पश्चिमीय दार्शनिक

ने मनोवैज्ञानिक कारणों की खोज़ करते हुए बतलाया है कि स्वप्न में मानसिक जगत् के साथ बाह्य जगत् का संबन्ध भी रहता है, इसलिए हमें भविष्य में घटने वाली घटनाओं की सूचना स्वप्न की प्रवृत्तियों से मिलती है। डॉक्टर सी.जे. ह्विटवे ने मनोवैज्ञानिक ढंग से कारणों की खोज़ करते हुए लिखा है कि गर्मी की कमी के कारण हृदय की जो क्रियाएँ जागृत अवस्था में सुषुप्त रहती हैं, वे ही स्वप्नावस्था में उत्तेजित हो कर सामने आ जाती है। जागृत अवस्था में कार्य-संलग्नता के कारण जिन विचारों की ओर हमारा ध्यान नहीं जाता है, निद्रित अवस्था में वे ही विचार स्वप्न-रूप से सामने आते हैं। पैथागोरियन सिद्धान्त में माना गया है कि शरीर आत्मा की क़ब्र है। निद्रित अवस्था में आत्मा शरीर से स्वतन्त्र हो कर अपने असल जीवन की ओर प्रवृत्त होती है और अनन्त जीवन की घटनाओं को ला उपस्थित करती है, इसीलिए हमें स्वप्न में अपरिचित वस्तुओं के भी दर्शन होते हैं। सुकरात कहते हैं कि जागृत अवस्था में आत्मा बद्ध है; किन्तु स्वप्नावस्था में आत्मा स्वतन्त्र रहती है, इसलिए स्वप्न में स्वतन्त्रता की बातें सोचती रहती है। इसी कारण हमें नाना प्रकार के विचित्र स्वप्न आते हैं। जो आत्माएँ कलुषित हैं उनके स्वप्न गन्दे और साधारण होते हैं, पर पवित्र आत्माओं के स्वप्न अधिक प्रभावोत्पादक एवं अन्त-र्जगत् और बाह्य जगत् से संबन्धित होते हैं। इनके द्वारा हमें भावी जीवन की सूचनाएँ मिलती हैं। नेरंगा मानते हैं कि जैसे हम अवकाश मिलने पर आमोद-प्रमोद करते हैं उसी प्रकार स्वप्नावस्था में आत्मा भी स्वतन्त्र हो कर आमोद-प्रमोद करती है और वह मृत आत्माओं से संबन्ध स्थापित करके उनसे बातचीत करती है, इसीलिए हमें स्वप्न में अपरिचित चीज़ें भी दिखायी पड़ती हैं। पवित्र आत्माओं के स्वप्न उनके भूत और भावी जीवन के प्रतीक हैं। बेबिलोनियन कहते हैं स्वप्न में देव और देवियाँ आती हैं तथा स्वप्न में हमें उन्हीं के द्वारा भावी जीवन की सूचनाएँ मिलती हैं, इसीलिए कभी-कभी स्वप्न की बातें सच होती हैं। गिलजेम्स नामक महा-काव्य में लिखा है कि वीरों को रात में स्वप्न द्वारा उनके भविष्य की सूचना दी जाती थी। स्वप्न का संबन्ध देवी-देवताओं से है, मनुष्यों से नहीं। देवी-देवता ही स्वभावत: व्यक्ति से प्रसन्न हो कर उसके शुभाशुभ की सूचना देते हैं।

आधुनिक वैज्ञानिकों ने स्वप्न के कारणों का अन्वेषण दो प्रकार से किया है। कुछ ने स्वप्न का कारण शारीरिक विकार और कुछ ने मानसिक विकार माना है। शारीरिक क्रियाओं को प्रधानता देने वाले विद्वान् मानते हैं कि मस्तिष्क के मध्य स्थित कोष के आभ्यन्तरिक परिवर्तन के कारण मानसिक चिन्ता की उत्पत्ति होती है। विभिन्न कोष जागृतावस्था में संयुक्त करते हैं; किन्तु निद्रितावस्था में संयोग टूट जाता है, जिससे चिन्ता-धारा की शृंखला नष्ट हो जाती है और स्वप्न की सृष्टि होती है। मानसिक विकास को कारण मानने वाले ठीक इससे विपरीत हैं, उनका मत

है कि निद्रितावस्था में कोषों का संयोग भंग नहीं होता, बल्कि और भी घनिष्ठ हो जाता है, जिससे स्वाभाविक चिन्ता की विभिन्न धाराएँ मिल जाती हैं, इन्हीं के कारण स्वप्न-जगत् की सृष्टि होती है। किन्हीं-किन्हीं विद्वानों ने बतलाया है कि निद्रितावस्था में हमारे शरीर में नाना प्रकार के विषाक्त पदार्थ एकत्रित हो जाते हैं, जिनसे कोषों की क्रिया में बाधा पहुँचती है, इसीलिए स्वप्न देखे जाते हैं। शारीरिक विज्ञान के विश्लेषण से पता लगता है कि निद्रितावस्था में मानसिक वृत्तियाँ सर्वथा निस्तेज नहीं हो जाती हैं। हाँ, जागृतावस्था में जो शृंखला मानसिक वृत्तियों में देखी जाती है वह अवश्य नष्ट हो जाती है। नाना प्रकार की अद्भुत चिन्ताएँ और दृश्य मन में उत्पन्न होते हैं। जागृतावस्था में दर्शन, श्रवण, स्पर्शन, एवं चाक्षुप आदि प्रत्याक्षानुभूतियों के प्रतिरूप वर्तमान रहते हैं; किन्तु सुषुप्तावस्था में सिर्फ दार्शन-प्रत्यक्ष के प्रतिरूप ही वर्तमान रहते हैं।

चिन्ता-धारा दिन और रात दोनों में समान रूप से चलती है; लेकिन जागृतावस्था की चिन्ताधारा पर हमारा नियन्त्रण रहता है, पर सुषुप्तावस्था की चिन्ताधारा पर हमारा नियंत्रण नहीं रहता है; इसीलिए स्वप्न भी नाना अलंकारमय प्रतिरूपों में दिखायी पड़ते हैं। स्वप्न में दार्शन प्रत्यक्षानुभूति के अतिरिक्त शेषानुभूतियों का अभाव होने पर भी सुख, दुःख, क्रोध, आनन्द, भय, ईर्ष्या आदि सब प्रकार के मनोभाव पाये जाते हैं। इन भावों के पाये जाने का प्रधान कारण अज्ञात इच्छा ही है। पाश्चात्य विद्वानों ने केवल विज्ञान के द्वारा ही स्वप्न के कारणों की खोज नहीं की; क्योंकि विज्ञान आदिकारण का अनुसन्धान नहीं करता है, आदि कारण का अनुसन्धान करना दर्शन-शास्त्र का काम है। पाश्चात्य दर्शन के अनुसार स्वप्न निद्रावस्था की चिन्ता-मात्र है। हमारी जो इच्छाएँ जागृत जगत् में पूरी नहीं होतीं या जिनके पूरे होने में बाधाएँ रहती हैं, वे ही इच्छाएँ स्वप्न में काल्पनिक भाव से परितृप्त होती हैं। किसी चिन्ता या इच्छा के पूर्ण न होने से मन में जिस अशान्ति का उदय होता है, स्वप्न में कल्पना द्वारा उसकी शान्ति हो जाती है। मन की अशान्ति दूर करने के कारण स्वप्न निद्रा का सहायक है।

उपर्युक्त पंक्तियों में बताया गया है कि रुद्ध इच्छा ही स्वप्न में काल्पनिक रूप से परितृप्त होती है। अब यह बतलाना है कि रुद्ध इच्छा क्या है? और इसकी उत्पत्ति कैसे होती है? दैनिक कार्यों की आलोचना करने से स्पष्ट है कि हमारे प्रायः सभी कार्य इच्छाकृत होते हैं। किन्हीं-किन्हीं कार्यों में हमारी इच्छा स्पष्ट रहती है और किन्हीं-किन्हीं में अस्पष्ट एवं रुद्ध-इच्छा रहती है। जैसे गणित करने की आवश्यकता हुई और गणित करने की इच्छा होते ही एक स्थान पर गणित करने के लिए जा बैठे। यहाँ गुणा, भाग, जोड़, घटाव आदि में बहुत-सी क्रियाएँ ऐसी रहेंगी जिनमें इच्छा के अस्तित्व का पता नहीं लगेगा, पर वहाँ हम इच्छाओं के अस्तित्व

का अभाव नहीं कह सकते हैं। ज्ञात और अज्ञात इच्छाओं का पता लगाने के लिए मन का विश्लेषण अत्यावश्यक है। कुछ मनोवैज्ञानिकों ने इच्छाओं को प्रधान रूप से छह भागों में बाँटा है; (१) स्पष्ट इच्छा – जिन इच्छाओं का अस्तित्वरूप सरलता से जाना जा सकता है; (२) अस्पष्ट-इच्छा – जो इच्छाएँ मन में स्पष्ट रूप से उदित नहीं हुई हैं; किन्तु जिनके अस्तित्व में सन्देह नहीं है और जो ज्ञान के प्रान्त में अवस्थित हैं; (३) अपरिस्फुट – जो उदित नहीं हुई है, किन्तु जिनका अस्तित्व सहज में ही जाना जा सकता है; (४) अनुमान-सापेक्ष––जिन इच्छाओं के अस्तित्व का मन के विश्लेषण करने पर भी पता न लगे, कार्य या पहली इच्छा से जिनका अनुमान किया जा सके; (५) इच्छाभास या अविश्वासिक इच्छा – जिन इच्छाओं का अस्तित्व अनुमान-सापेक्ष हो, विश्लेषण से जिनकी प्रकृति का ज्ञान होने पर भी, मन में उनका होना इतना असंभव जँचता हो जिससे विश्वास भी न किया जा सके; (६) अज्ञात – जो इच्छा इतनी सूक्ष्म हो कि ज्ञान में भी न लायी जा सके।

किसी-किसी पाश्चात्य दार्शनिक ने इच्छा के चार ही प्रधान भेद बतलाये हैं, इन चारों को यदि अज्ञात इच्छा के अन्तर्गत रखा जाए तो अनुचित न होगा : (१) संज्ञात – जो इच्छा ज्ञान के अधिकार के भीतर हो; (२) असंज्ञात – चेष्टा द्वारा जहाँ ज्ञान का अधिकार विस्तृत किया जाए; (३) अन्तर्ज्ञात – ज्ञान के अधिकार के बहिर्भूत होते हुए भी जिस इच्छा का मन में किसी-न-किसी दिन उठना संभव हो; (४) अज्ञात या निर्ज्ञात – जो इच्छा कभी न उठ सके, जिसका अस्तित्व केवल अनुमान-गम्य हो।

इच्छा के इस दार्शनिक विश्लेषण से पता लगता है कि स्वप्न में नाना प्रकार की अज्ञात इच्छाएँ अपना जाल बिछाती रहती हैं; इसलिए स्वप्नगत अवदमित्त इच्छाएँ सीधे-सादे रूप में चरितार्थ न हो कर ज्ञान के पथ में बाधक होती हैं तथा अज्ञात रुद्ध इच्छा ही अनेक प्रकार से मन के प्रहरी को धोखा दे कर विकृत अवस्था में प्रकाशित होती है और अवदमित इच्छाओं के आत्मप्रकाश में उनकी रुद्ध इच्छाएँ बाधा पहुँचाती हैं – जैसे मरने की इच्छा को जीने की इच्छा पनपने नहीं देती। जिस समय भी मरने की इच्छा हमारे मन में प्रकट होने की चेष्टा करती है, उसी समय जीने की इच्छा प्रकट हो कर बाधा पहुँचाती हैं; फलस्वरूप मरने की इच्छा सीधे-सादे रूप में मन में न उठ कर तरह-तरह से प्रकाशित होती है। संकटपूर्ण परिस्थिति में उतर कर बहादुरी दिखाने की इच्छा केवल मृत्यु की इच्छा का ही रूपान्तर है। इस इच्छा के इस परिवर्तित रूप को देख कर हम नहीं समझ सकते कि वह यथार्थ में मरने की इच्छा है। यदि इस परिस्थिति में जीने की इच्छा को प्रहरी मान लेते हैं तो यह स्पष्ट हो जाता है कि इस प्रहरी के कारण ही मृत्यु-

इच्छा अपने असली रूप में प्रकाशित नहीं हो सकी। मृत्यु-इच्छा विपत्ति के कार्यों में वाहवाही लेने की इच्छा से छद्मवेश धारण कर लेती है और इस प्रकार प्रहरी को सहज में धता बता सकती है; अतः उपर्युक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि स्वप्न में अज्ञात इच्छा को धोखा दे कर वह नाना रूपकों और उपरूपकों में हमारे सामने आती है।

स्वप्न के अर्थ के विकृत होने का प्रधान कारण अवदमित इच्छा – जो इच्छा अज्ञात हो कर स्वप्न में प्रकाशित होने की चेष्टा करती है, प्रहरी की – मन के जो-जो भाव रुद्ध इच्छा के प्रकाशित होने में बाधा पहुँचाते हैं उनके समष्टि रूप प्रहरी को धोखा देने के लिए छद्मवेश में प्रकाशित हो कर शान्त नहीं होती है, बल्कि पाखण्ड-रूप धारण करके अपने को प्रहरी की नज़रों से बचाने की चेष्टा करती है। इस प्रकार नाना इच्छाओं का एक जाल बिछ जाता है, इससे स्वप्न का यथार्थ अर्थ विकृत हो जाता है। दार्शन परिणति (विस्युअल इमैज़री); अभिक्रान्ति (डिस्प्लेसमेन्ट), संक्षेपण (कन्डेन्सेशन) और नाटकीय परिणति (ड्रामेटाइज़ेशन) ये चार अर्थ विकृति के आकार हैं। मन का प्रहरी जितना सजग होगा, स्वप्न भी उतने ही विकृत आकार में प्रकाशित होगा। प्रहरी के कार्य में ढिलाई होने पर स्वप्न की मूल इच्छा अविकृत अवस्था में प्रकाशित होती है। मन का प्रहरी जागृतावस्था में सजग रहता है और निद्रितावस्था में शिथिल । इसी कारण निद्रितावस्था में मन की अपूर्ण इच्छाएँ स्वप्न द्वारा काल्पनिक तृप्ति का साधन बनती हैं।

इसी प्रकार विश्वविश्रुत मनोवैज्ञानिक फ्रायडने स्वप्न के कारणों की खोज करते हुए बतलाया है कि बहुधा स्वप्न अत्यन्त विकृत रूप में हमारे सामने आते हैं और अर्थहीन जान पड़ते हैं. पर मनोविज्ञान के पण्डित उस अर्थहीनता में भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अर्थ खोज़ निकालते हैं। प्रत्येक स्वप्न हमारी किसी आशा या आशंका का रूपक होता है। हमारी गुप्त भावना स्वप्न में यथार्थ रूप में अपने को प्रकट न करके गुप्त वेश में नाना रूपकों के जाल बिछा कर व्यक्त होती है। मनुष्य अपनी स्वभावगत असमर्थता की क्षति-पूर्ति जिन-जिन रूपों में करता है, उसके स्वप्नों की भी गणना उन्हीं में की जा सकती है; क्योंकि स्वप्नों के द्वारा वह अपनी उन इच्छाओं की पूर्ति करता है जिन्हें वह वास्तविक जगत् में पूरा नहीं कर पाता।

स्वप्न वास्तव में मनुष्य की अन्तर्भावनाओं के दर्पण होते हैं। किसी मनुष्य के भीतर की सच्ची बात जानने की आवश्यकता हो तो उसके स्वप्नों को जान लेना ही यथेष्ट होगा। एक भारतीय विद्वान् ने एक जगह लिखा है कि मनुष्य के भीतर कम-से-कम दो व्यक्तित्व सदा, सब समय वर्त्तमान रहते हैं। उसका एक व्यक्तित्व उसे अपनी स्वाभाविक इच्छाओं की पूर्ति के लिए प्रेरित करता है और दूसरा व्यक्तित्व समाज के कड़े नियमों के पालने के लिए उत्कण्ठित रहता है। पहला

व्यक्तित्व उसकी अन्तर्भूमि में सोयी हुई अवस्था में दबा पड़ा रहता है, पर दूसरा व्यक्तित्व (समाज के शासन चक्र को मान कर चलने वाला व्यक्तित्व) सब जगह जागता रहता है, यहाँ तक कि हमारी निद्रित अवस्था में वह पुलिस के चौकीदार की तरह चौकन्ना रहता है। जब स्वप्न देखते हैं तब हमारे दोनों व्यक्तित्व सचेष्ट रहते हैं। दोनों व्यक्तित्व एक-दूसरे पर कड़ी निगाह रखते हैं। पुलिस का काम करने वाला व्यक्तित्व स्वाभाविक इच्छाओं की ओर झुकने वाले व्यक्तित्व को धर पकड़ने के लिए तैयार रहता है, पर दूसरा व्यक्तित्व उस पुलिस प्रहरी को धोखा दे कर अपनी सहज इच्छाओं को वेश बदल कर चरितार्थ कर लेता है। यही कारण है कि हमारे स्वप्न हमें अर्थहीन और विचित्र जान पड़ते हैं पर वे वास्तव में अर्थहीन नहीं होते, बल्कि हमारे भीतर वर्तमान पुलिस प्रहरी को धोखा देने के लिए निराले रूपक-मय रूप धारण कर लेते हैं। इस प्रकार हमारे मूल व्यक्तित्व की आकांक्षाएँ पूरी होती हैं। जेम्स एलेन लिखते हैं कि मानव के अन्तस्तल में जो सद् बा असद् इच्छाएँ वर्तमान रहती हैं, वे स्वप्न में आती हैं। कल्पनाओं के संसार का दूसरा नाम स्वप्न उन्होंने रक्खा है। लिली ने स्वप्न का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करते हुए लिखा है कि जितने भी ऊँचे स्वप्न देखने वाले हुए हैं या जिनके ऊँचे मन्तव्य रहे हैं वे संसार के मुक्तिदाता हुए हैं। स्वप्न मनुष्य की अन्तर्भावनाओं के सच्चे प्रतीक हैं। जी.एच. मिलर ने अपनी 'ड्रीम्स साइंटिफिक' पुस्तक में लिखा है कि संसार से संबन्ध रहने के कारण व्यक्ति में आध्यात्मिकता अधिक रहती है; इसलिए व्यक्ति का संबन्ध वास्तविक अर्थात् बाह्य संसार से न रह कर आन्तरिक संसार से रहता है, अतः स्वप्न के द्वारा भावी जीवन की घटनाओं की सूचना मिलती है। स्वप्न से ही मानव-जीवन में पूर्णता आती है; अतएव स्वप्नों को भविष्य की सूचना देने वाले मानना चाहिये।

प्राच्य विचारधारा को सुविधा के ख्याल से विचार करने के लिए हम प्रधानतया तीन भागों में बाँट सकते हैं– (१) दार्शनिक विचारधारा, (२) आयुर्वेदिक विचार-धारा, और (३) ज्यौतिषिक विचारधारा। दार्शनिक विचारधारा की तीन उपधाराएँ है– (१) जैन, (३) बौद्ध और (३) वैदिक।

जैन दर्शन – जैन मान्यता में स्वप्न संचित कर्मों के अनुसार घटित होने वाले शुभाशुभ फल के द्योतक हैं। स्वप्नशास्त्रों के अध्ययन से स्पष्ट अवगत हो जाता है कि कर्मबद्ध प्राणि मात्र की क्रियाएँ सांसारिक जीवों को उनके भूत और भावी जीवन की सूचना देती हैं। स्वप्न का अन्तरंग कारण ज्ञानावरणी, दर्शनावरणी और अन्तराय के क्षयोपशम के साथ मोहनीय का उदय है। जिस व्यक्ति के जितना इन कर्मों का क्षयोपशम होगा उस व्यक्ति के स्वप्नों का फल भी उतना ही अधिक सत्य निकलेगा। तीव्र कर्मों के उदय वाले व्यक्तियों के स्वप्न निरर्थक एवं सारहीन होते

हैं, इसका मुख्य कारण है कि सुषुप्तावस्था में भी आत्मा तो जागृत ही रहती है केवल इन्द्रियों की और मन की शक्ति विश्राम करने के लिए सुषुप्त-सी हो जाती है। जिसके उपर्युक्त कर्मों का क्षयोपशम है उसके क्षयोपशमजन्य इन्द्रिय और मन-संबन्धी चेतनता या ज्ञानावस्था अधिक रहती है; इसलिए ज्ञान की मात्रा की उज्ज्वलता से निद्रित अवस्था में जो कुछ देखते हैं, उसका संबन्ध हमारे भूत, वर्तमान और भावी जीवन से है। इसी कारण स्वप्न-शास्त्रियों ने स्वप्न को भूत, वर्तमान और भविष्य जीवन का द्योतक बतलाया है। अनेक पौराणिक आख्यानों से भी यही सिद्ध होता है कि स्वप्न मानव को उसके भावी जीवन में घटने वाली घटनाओं की सूचना देते हैं।

बौद्ध दर्शन – बौद्ध मान्यता में स्वभावतः पदार्थों के क्षणिक होने के कारण सुषुप्तावस्था में भी क्षण-क्षण ध्वंसी आत्मा की ज्ञान-सन्तान चलती रहती है, पर इस ज्ञान-सन्तान का जीवात्मा के ऊपर कोई स्थायी प्रभाव नहीं पड़ता है न पूर्वसंचित संस्कार ही वस्तुभूत हैं; इसलिए स्वप्न का फल जीवात्मा से कुछ संबन्ध नहीं रखता है। केवल शारीरिक विकार के कारण स्वप्न आते हैं, आत्मा स्वप्न से पृथक् रहती है। बौद्ध ग्रन्थों के पौराणिक आख्यानों में कुछ स्वप्न-संबन्धी कथाएँ अवश्य मिलती हैं, पर दार्शनिकों ने स्वप्न के संबन्ध में विचार नहीं किया है।

वैदिक दर्शन – इस मान्यता में प्रधानतः अद्वैत, द्वैत और विशिष्टाद्वैत ये तीन दार्शनिक सिद्धान्त हैं, अवान्तर विचारधाराएँ इन्हीं के अन्तर्गत हैं।

अद्वैत दर्शन – इस मान्यता में पूर्व और वर्तमान संचित संस्कारों के कारण जागृत अवस्था में जिन इच्छाओं की पूर्ति नहीं होती है, स्वप्नावस्था में उन्हीं इच्छाओं की पूर्ति बतायी गयी है। स्वप्न आने का प्रधान कारण अविद्या है, इसलिए स्वप्न का संबन्ध अविद्या-संबद्ध जीवात्मा से है, परमब्रह्म से नहीं। स्वप्न के फल का प्रभाव जीवात्मा के ऊपर पड़ता है, पर यह फल भी माया रूप भ्रान्त है।

द्वैत दर्शन – इस दर्शन में पुरुष प्रकृति के संबन्ध के कारण विकृतावस्था को धारण कर लेता है। इस विकृत पुरुष में ही जन्म-जन्मान्तर के संस्कार संचित रहते हैं। पूर्व तथा वर्तमान जन्म के संस्कारों के कारणों से विकृत पुरुष स्वप्न देखता है; अतः स्वप्न का संबन्ध निर्लेपी पुरुष से न हो कर प्रकृति-मिश्रित पुरुष के भूत, वर्तमान और भावी जीवन से है।

विशिष्टाद्वैत – इस मान्यता में बताया गया है कि संचित, प्रारब्ध, काम्य और निषिद्ध इन चार प्रकार के कर्मों में-से संचित और प्रारब्ध कर्मों के अनुसार प्राणियों को स्वप्न आते हैं। स्वप्न का संबन्ध ब्रह्म के अंशभूत जीव से है। इस दर्शन की मान्यता के अनुसार प्राणी संचित कर्मों का फल भी स्वप्न में भोग सकता है।

पौराणिक आख्यानों में महाराज सत्य हरिश्चन्द्र का उदाहरण भी इसी प्रकार का है; जिन्होंने स्वप्न में अनेक भावों के संचित डोम के यहाँ विक्रय होने के फल को प्राप्त कर लिया था।

आयुर्वेदिक विचारधारा—इस मान्यता के अनुसार मन की बहने वाली नाड़ियों के छिद्र जिस समय अति बली तीनों दोषों से (वात, पित्त और कफ) परिपूर्ण हो जाते हैं उस समय प्राणियों को शुभ और अशुभ स्वप्न आते हैं। जिस समय प्राणी न अत्यन्त सोता है और न जागता है अर्थात् अर्द्धनिद्रित अवस्था में इन्द्रियों के अधिपति मन के द्वारा सफल और निष्फल अनेक प्रकार के स्वप्न देखता है। इस मान्यता में बताया गया है कि व्यक्तियों को नाना प्रकार के रोगों की स्वप्न द्वारा चेतावनी दी जाती है। चरक और सुश्रुत के आधार पर से कुछ का उल्लेख किया जाता है।

जो मनुष्य स्वप्न में कुत्ता, ऊँट और गधे पर चढ़ कर दक्षिण दिशा को जाता है, उसको राजयक्ष्मा; जो स्वप्न में लाख और लाल वस्त्र के समान आकाश को देखता है, उसे रक्तपित्त; जिसे स्वप्न में शूलरोग, अफरा, आँतों का रोग, अत्यन्त दुर्बलता का अनुभव हो और नखों का रंग विकृत मालूम हो, उसे गुल्म; जो स्वप्न में शरीर में घाव देखे; नग्न हो घृत लगावे, ज्वाला-रहित अग्नि में हवन करे और हृदय में कमल प्रकट हुआ देखे, उसे कुष्ठरोग; जो स्वप्न में चाण्डाल, कर्मकार आदि नीच वर्ण वाले व्यक्तियों के साथ घृत, तैल आदि स्निग्ध पदार्थों का पान करे, उसे मधुमेह; जो स्वप्न में अनेक व्यक्तियों-सहित नाचता हुआ जल में निमग्न होता देखे, उसे उन्माद; स्वप्न में कुत्ते से प्रेम करते हुए देखने से ज्वर; राक्षसों के साथ प्रीति करते हुए देखने से अपस्मार; बन्दरों के साथ प्रीति करते हुए देखने से गुप्त रोग; स्वप्न में चने की तिल मिली पूड़ी खाने से मस्तक और छर्दि रोग; स्वप्न में मार्ग चलता हुआ देखने से श्वास; स्वप्न में हल्दी मिले पदार्थ का सेवन करता हुआ देखने से पाण्डु रोग और स्वप्न में लाल तथा काले वस्त्र वाली स्त्री के साथ वार्तालाप करने से भयानक रोग होते हैं। वाग्भट्ट ने बताया है कि जिस मनुष्य की वात प्रकृति होती है, वह स्वप्न में आकाश में भ्रमण करना उड़ना तथा काले रंग की वस्तुओं को और प्रचण्ड पवन-आँधी आदि को देखता है। पित्ताधिक प्रकृति वाला सोने या रत्नों की मालाओं, सूर्य, अग्नि और बिजली आदि प्रकाशमान पदार्थों को देखता है। कफाधिक प्रकृति वाला चन्द्रमा, नक्षत्र, श्वेत पुष्प, और नदी, तालाब आदि को देखता है। अपनी-अपनी प्रकृति के अनुकूल देखे गये स्वप्न निरर्थक होते हैं अर्थात् वाताधिक प्रकृति

वाला आकाश में उड़ना देखे या वात प्रकृति-संबन्धी अन्य स्वप्नों को देखे तो ऐसे स्वप्नों का फल नहीं होता है ।

ज्योतिषिक विचारधारा – उपलब्ध जैन ज्योतिष में निमित्त-शास्त्र अपना विशेष स्थान रखता है । जहाँ जैनाचार्यों ने जीवन में घटने वाली अनेक घटनाओं के इष्टानिष्ट कारणों का विश्लेषण किया है, वहाँ स्वप्न के द्वारा भावी जीवन की उन्नति और अवनति का विश्लेषण भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ढंग से किया है । यों तो प्राचीन वैदिक धर्मावलम्बी ज्योतिष-शास्त्रियों ने भी इस विषय पर पर्याप्त लिखा है, पर जैनाचार्यों द्वारा प्रतिपादित स्वप्न-शास्त्र में कई विशेषताएँ हैं । वैदिक ज्योतिष-शास्त्रियों ने ईश्वर को सृष्टिकर्त्ता माना है, इसलिए स्वप्न को भी ईश्वर की प्रेरित इच्छा का फल बताया है । वराहमिहिर, बृहस्पति और पौलस्त्य आदि विख्यात गणकों ने ईश्वर की प्रेरणा को ही स्वप्न में प्रधान कारण बताया है । फलाफल का विवेचन जैनाजैन ज्योतिष-शास्त्र में दश-पाँच स्थलों को छोड़ कर प्रायः समान ही है ।

जैन स्वप्न-शास्त्र में प्रधानतया निम्न सात प्रकार के स्वप्न बताये गये हैं : (१) दृष्ट – जो कुछ जागृत अवस्था में देखा हो उसी को स्वप्नावस्था में देखा जाए; (२) श्रुत – सोने के पहले कभी किसी से सुना हो उसी को स्वप्नावस्था में देखा जाए; (३) अनुभूत – जिसका जागृतावस्था में किसी भाँति अनुभव किया हो, उसी को स्वप्न में देखे; (४) प्रार्थित – जिनकी जागृतवस्था में प्रार्थना – इच्छा की हो उसी को स्वप्न में देखे; (५) कल्पित – जिसकी जागृतवस्था में कभी भी कल्पना की गयी हो उसी को स्वप्न में देखे; (६) भाविक – जो कभी न तो देखा गया हो और न सुना हो, पर जो भविष्य में होने वाला हो उसे स्वप्न में देखा जाए और (७) दोषज – वात, पित्त और कफ इनके विकृत हो जाने से देखा जाए । इन सात प्रकार के स्वप्नों में-से पहले के पाँच प्रकार के स्वप्न प्रायः निष्फल होते हैं, वस्तुतः भाविक स्वप्न का फल ही सत्य होता है । □

निरर्थक आशंका

शूली पर है
कुँआरे सत्य की
प्रिया की सेज,
करेगी परिभाषित
अहिंसा की सम्पूर्णता
तमंचे की गोली,
देगा विश्वास को
अखंडता का
प्रमाण-पत्र
कालकूट का स्वर्ण-पात्र,

व्यर्थ ही घबराते हो
तुम तो मित्र
नहीं पहुँचा है
तुम्हारा सत्य
तुम्हारी अहिंसा
यम्हारा विश्वास
अभी उस पराकाष्ठा पर
कि देगा तुम्हें कोई
शूली, गोली या कालकूट ।

–कन्हैयालाल सेठिया

तन्त्र शब्द-कोश

(शब्द-संख्या २९०)

संकेत : जै.=जैन तन्त्रशास्त्र; बौ.=बौद्ध तन्त्रशास्त्र; हि.=हिन्दू तन्त्रशास्त्र; अ.=अरबी; फा.=फारसी; अं.=अंग्रेजी; हिं.=हिन्दी; सं.=संस्कृत।

अंगन्यास=अंग-रक्षण; जिस अवयव का नाम आये तदनुसार उसका मन्त्रोच्चार-युक्त स्पर्श ।

अंगशुद्धि=दे. स्नान ।

अंगुष्ठ=अँगूठा ।

अंजन=माया; आँखों में आँजने का काजल या सुरमा ।

अकडम=अ क ड म से आरंभ होने वाला चक्र।

अक्षर=जिसका कभी नाश न हो; जिसका स्वतन्त्र/अबाध उच्चारण संभव हो; जिस ध्वनि के उच्चारण में फेंफड़ों से आती हुई वायु किसी मुखावयव क स्पर्श किये बिना बाहर निकल आये; ध्वनिगत लघुतम इकाई ।

अग्नि-जिह्वा=अग्नि की सात जिह्वाएँ मानी गयी हैं; ये हैं–हिरण्या (आकर्षण), गगना (स्तंभन), रक्ता (विद्वेषण), कृष्णा (मारण), सुप्रभा (शान्ति), अतिरिक्ता (उच्चाटन), बहुरूपा (अर्थलाभ)। इन्हें सात्विक, राजसिक, तथा तामसिक कर्म-भेद से तीन वर्गों में रखा गया है ।

अघोर=एक शिव-रूप; जो घोर या भयानक न हो; –पंथ=शिवोपासक एक सम्प्रदाय जो मद्य-माँस आदि का भी सेवन करता है ।

अजपा जाप='अहं सः'/'सोऽहम्' से अजपा मन्त्र का स्वरूप बनता है। यह श्वासोच्छ्वास में निरन्तर चलता रहता है ।

अज़मत=अ.; प्रतिष्ठा, बजुर्गी, सम्मान ।

अणु=स्कन्ध का सूक्ष्मतर रूप; परमाणुओं के संश्लेष या संघात से बनने वाला सूक्ष्मतम स्कन्ध (अं. मॉलीक्यूल) ।

अनच्क=स्वर-रहित ह-कार (अच्=स्वर/अन्+अच्) ।

अध्यात्म=आत्मा-परमात्मा-संबन्धी ज्ञान ।

अनामिका=मध्यमा और कनिष्ठा अँगुलियों के बीच की अँगुली; अँगूठे से चौथी अँगुली ।

अनाहत=शरीर में व्याप्त वायुतत्त्व; हंसोच्चार; अनच्क हकार का ध्वनन; बिना किसी टकराहट/घर्षण के उत्पन्न ध्वनि (अन्+आहत); अनहद; ओंकार की स्वाभाविक गूंज, जिसे नाद भट्टारक भी कहते हैं ।

अनुपाय=सहज सिद्ध-साहित्य में प्रयुक्त; –प्रक्रिया=सहज समाधि; अल्प उपाय से लभ्य ।

अनुवाद=प्रशंसा; स्तुति; भाषान्तर, उल्था ।

अपशकुन=अमंगलकारी घटना या प्रसंग ।

अपान=पंच वायुओं में-से एक, जो गुदामार्ग से निकलती है; श्वास लेना; जीव, (प्राण/आन=आश्वास, अपान=प्रश्वास) ।

अपोहन=एक पदार्थ से दूसरे पदार्थ को भिन्न प्रतिपादित करने की क्रिया; त्याग; ऊह – =तर्क-वितर्क, युक्ति-प्रतियुक्ति ।

अमल=अ.; कार्य, कर्म; आचरण; कोई जप; मिस्मरेज्म का अमल ।

अरण्यपीठ=हिंसक जन्तुओं से युक्त एकान्त निर्जन वन में निर्भय एकाग्र चित्त से मन्त्राराधन। इस पीठ को सर्वोत्तम माना गया है ।

अर्द्धचन्द्र='ँ' जिसका उच्चारण-काल बिन्दु के आधे भाग जैसा होता है अर्थात् मात्रा का एक चौथाई भाग; दे. मात्रा ।

अर्हम्=अ र् ह् म् (अ=वायुतत्त्व, र्=अग्नितत्त्व, ह्/म्=आकाशतत्त्व)। इनमें-से अग्नि कर्म-निर्जरा में उपकारक, वायु मेधाशक्ति को समृद्ध करने, तथा आकाश कष्ट-सहिष्णुता/समभाव की वृद्धि में सहायक है । 'अर्हं' के उच्चारण-काल में प्राण-शक्ति अधिक ऊर्जस्वी होती है ।

अवधूती=वज्रयान के अनुसार वह नाड़ी (सुषुम्ना) जिसमें इड़ा (ललना) और पिंगला (रसना) समायुक्त होती हैं; दे. नाड़ी । हि. के अनुसार इड़ा (चन्द्रमा/शक्ति) और पिंगला (सूर्य/शिव) की प्रतीक है। इन्हें बौ. प्रज्ञा (आलि, स्वर) और उपाय (कालि, व्यंजन) कहा गया है। प्रज्ञा नारीतत्त्व है और उपाय पुरुष तत्त्व; दोनों का समायोग 'एवं'/युगनद्धता/प्रज्ञोपाय का अद्वयत्व है ।

अष्टगंध=गोरोचन, कपूर, हाथी-का-मद, अगर, कस्तूरी, केशर, लाल चंदन, श्वेत चंदन ।

अष्टधातु=सोना, चाँदी, लोहा, ताँबा, जस्ता, राँगा, काँसा, पारा ।

अशुभ=अमंगलकारी; अमांगलिक; बुरा; दुष्प्रभावी ।

अष्टांग=तन्त्र-साधना के ८ मुख्य अंग : गुरु, दीक्षा, साधना-स्थल, समय, आसन, माला, उपादान, निषेध; योग के अनुसार – यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि ।

आकर्षण=किसी को अपनी ओर आकर्षित करना; खिंचाव; मन्त्र-साधना के अनुसार मन्त्र के प्रभाव से दूरस्थ प्राणी को अपनी ओर आकर्षित करना, यथा – कोई भागा हुआ परिजन, पशु, पक्षी आदि ।

आगम=वे ग्रन्थ जिनमें जीवन और जगत् की प्रायः सभी समस्याओं पर ऊहापोह हुआ हो; आर्ष वचन; आध्यात्मिक वाङमय; यह एक बह्वर्थी शब्द है जिसके अन्य अर्थ हैं : वेद, आमदनी, आना, पवित्र ग्रन्थ ।

आचमन=ग्रहण, स्वीकार; दाहिनी हथेली पर ले कर जल-ग्रहण ।

आचार=आचरण, अनुसरण, मार्ग, व्यवहार; ये ३ हैं–वामाचार, दक्षिणाचार, दिव्याचार; आरंभिक २ साधक की सांसारिक वृत्ति को बढ़ाते हैं, अन्तिम उसे प्रवृत्ति-से-निवृत्ति-की-ओर ले जाता है ।

आणव=तीन उपायों में-से एक, अन्य दो हैं–शाक्त, शाम्भव; उच्चार (स्थूल प्राण का व्यापार), करण (शरीर के अंगों को किसी विशेष स्थिति में रखना), ध्यान (सगुण स्वरूप में चित्त की एकाग्रता), वर्ण (सूक्ष्म प्राण), और स्थान-कल्पना (घट-स्थापन, मंदिर, मूर्ति, चित्र आदि की रचना-विधियाँ इसमें आती हैं) का अभ्यास करना ।

आद्याशक्ति=दुर्गा, कालि ।

आनन्द=उल्लास; अनुकूल, सुखद, निर्विघ्न सुखानुभूति ।

आनापान=आश्वास (आन)+प्रश्वास (अपान); श्वास लेना और श्वास छोड़ना ।

आमिल=अ., जो भूत-प्रेत या जिन/परी को उतारता है; हाकिम, हुक्मराँ, शासक ।

आश्वास=निःसरित वायु, प्राण ।

आसन=आसन्दी, बैठकी; साधना-के-उपयुक्त बैठकी, या बिछावन; वह बिछावन/वस्तु जिस पर हम साधना के निमित्त बैठते हैं (अं.सीट); स्थिति-विशेष में बैठना (अं. पोस्चर); दे. मन्त्र-साधना ।

आसेब=फा., भूत-प्रेत, प्रेत-बाधा; खतरा; कोई बड़ा अनिष्ट ।

आह्वान=आवाहन; पूजन के समय मन्त्र द्वारा किसी देवता को अपने निकट बुलाने की क्रिया ।

इष्ट=वांछित; मान्य; किसी का वह देवता जिसकी उपासना सब प्रकार की कामनाओं की पूर्ति या उनकी सिद्धि के लिए की जाती है ।

उच्चाटन=किसी व्यक्ति को तन्त्र-मन्त्र के प्रयोग द्वारा मानसिक विचलन/अस्थिरता, भय-भ्रम, और शंका की मनोदशा में लाना । तर्क/विवेक का ह्रास, अनर्गल प्रलाप, अस्तव्यस्तता इसी क्रिया के रूप हैं ।

उच्चारण-काल=किसी ध्वनि को बोलने में लगने वाला समय; ह्रस्व स्वर के उच्चारण-काल को मात्रा कहा गया है; बिन्दु, अर्द्धचन्द्र, निरोधिका, नाद, नादान्त, शक्ति, व्यापिका, समना, और उन्मना के उच्चारण-काल क्रमशः मात्रा का आधा,

चौथाई, आठवाँ, सोलहवाँ, बत्तीसवाँ, चौसठवाँ, एक सौ अट्ठाइसवाँ, दो सौ छप्पनवाँ, तथा पाँच सौ बारहवाँ भाग माना गया है ।

उत्कीलन=किसी मन्त्र का फल देने में पुनः समर्थ होना, या किया जाना ।

उद्वर्तन=उबटन ।

उपयोग=एकाग्रता; ध्यान; इस्तेमाल ।

उपांशु=इतने धीमे स्वर की जाप जो केवल स्वयं को सुनायी दे ।

उपादान=वे पदार्थ जिनसे कोई वस्तु बनी हो; रचना-सामग्री (अं. फॉर्मेटिव्ह्ज़) ।

उपाय=अभ्यास; दे. आणव ।

उपेय=प्राप्तव्य; जिसका कोई समाधान या उपाय संभव हो ।

उलूकतन्त्र=वह तन्त्र-साहित्य जिसमें उल्लू की उपयोगिता (तन्त्र-संबन्धी) और विशेषताओं का विवरण दिया गया है ।

ऊह=तर्क; प्रमाणों का अनुग्राहक ज्ञान; प्रमाण-प्रवर्तक सामग्री की परीक्षा ।

एवंकार=आदिबुद्ध; युगनद्ध वज्रसत्त्व; दे. अवधूती ।

ऋद्धि=गणेशजी की दो पत्नियों में-से एक, दूसरी है सिद्धि; सफलता, संपन्नता, प्रचुरता ।

ओझा=भूत-प्रेत आदि झाड़ने वाला (सं. उपाध्याय, प्राकृत उवज्झाय में-से विकसित)।

ओम् (ॐ)=प्रणव, नितनवीन; प्राण-शक्ति को प्रज्वलित करने वाला; हि. अ (ब्रह्मा); उ (विष्णु); म् (महेश); जै. पंचपरमेष्ठी – अ (अरिहंत), अ (अशरीरी/सिद्ध), आ (आचार्य), उ (उपाध्याय), म् (मुनि/साधु)=ओम् अथवा अ (ज्ञान), उ (दर्शन), म् (चारित्र) ।

करांगन्यास=मन्त्र-साधना के क्षणों में कर तथा अन्य शरीरावयवों का इस तरह स्पर्श या आकृत किया जाना कि जैसे उनमें अपने इष्ट को स्थापित किया जा रहा हो; आकृत करना ।

कनिष्ठा=सबसे छोटी अँगुली; पाँचवीं/अन्तिम अँगुली ।

कमंडलु=हि. कमंडल; दरियाई नारियल का बना एक प्रकार का जलपात्र, जिसे दिगम्बर जैन साधु रखते हैं; ताँबे अथवा पीतल से बना इस आकार-प्रकार का पात्र ।

करन्यास=दे. करांगन्यास; अंगुष्ठ, अँगुली, करतल, और करपृष्ठ से मन्त्रजाप के निमित्त विभिन्न मुद्राएँ ।

कर्म=जो कुछ किया जाए; कार्य; जैनदर्शन में इसकी उत्पत्ति जीव और पुद्गल के संबन्ध से मानी गयी है । इससे पुनर्जन्म/निर्वाण आदि के सिद्धान्त जुड़े हुए हैं ।

कल्प=तन्त्र-साधना में वनस्पति-विशेष को विशिष्ट क्रियाओं अथवा पदार्थों द्वारा इच्छित रूप में प्रभावशाली बनाना ।

कापालिक=कपाली; सुख प्रदान करने वाला (कं तव सुखं पालितुं समर्थः—सुख प्रदान करने वाला); तान्त्रिक ।

कीलन=हिं. कीलना; प्रभाव-रहित करना ।

कुण्डलिनी=दे. चक्रः; मूलाधार में सर्पिणी की तरह कुण्डली मारे सुप्त सुषुम्ना नाड़ी; मूलाधार चक्र के नीचे प्रायः सुषुप्त वह शक्ति, जिसे साधना में जगाया जाता है। यह सर्पाकृति होती है। इसके ब्रह्मरन्ध्र में पहुँच जाने पर साधक मुक्त और अमर हो जाता है ।

कुप्ल=ताला, द्वार-यन्त्र ।

कुल=पूर्ण, समूह, घराना; कुण्डलिनी शक्ति; तन्त्र में आकाश, काल, जल, तेज, प्रकृति, वायु आदि पदार्थ ।

क्षं=क् (कण्ठ्य) तथा ष् (मूर्द्धन्य) वर्णों से संरचित व्यंजन; पृथ्वी-बीज ।

क्षोभ=मन की चंचलता ।

गण्डा=(सं. गण्डक=गाँठ); दैविक उपद्रवों, बाधाओं आदि से बचने के लिए कलाई या गर्दन पर लपेट कर बाँधा जाने वाला मंत्रपूत सूत या डोरा ।

गाणपत्य=गाणपत; गणपति से संबन्धित; गणपति की पूजा/उपासना करने वाला एक प्राचीन सम्प्रदाय ।

गुटका=वटिका, गुटिका; बहुत छोटे आकार में छपी पुस्तक ।

गुरु=कोई सिद्ध पुरुष जिसने कठोर तपश्चर्या द्वारा किसी विशिष्ट क्षेत्र का अनुभव प्राप्त किया हो ।

ग़ैब=अ., नियति, भाग्य, परलोक, अदृश्य लोक, देवताओं का स्थान, परोक्ष ।

चक्र=शून्य; संख्या-६ : मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्धाख्य, आज्ञा ।

चमत्कार=अलौकिक-अद्भुत कार्य; कोई अनोखी या विलक्षण बात, जिसे देख कर लोग चकित रह जाएँ, किन्तु यह न बता सकें कि वह कैसे हुई ।

चरु=हविष्यान्न; हव्यान्न पकाने का पात्र; यज्ञ ।

चाकिनी=डाकिनी का एक रूप; दुर्गा की सहचरी; प्रेतरूपा कोई स्त्री ।

जंतर=यन्त्र; दे. यन्त्र ।

जप=किसी मन्त्र की बारम्बार आवृत्ति; बारम्बारता के द्वारा निहित शक्ति (पोटेंसी) को व्यवहार-योग्य बनाने की प्रक्रिया; इसके तीन प्रकार हैं – मानसिक (मन-ही-मन); उपांशु (इस तरह कुछ कि सिर्फ खुद को सुनायी दे); वाचिक (उच्च स्वर में) ।

ज़र्ब=अ.; बहुवचन – ज़र्बात; चोट, आघात; पाँसा; दो संख्याओं का गुणा ।

जादू=फा.; अभिचार; हाथ की सफाई; नज़रबन्दी; मार डालने या नुकसान पहुँचाने का कर्म ।

जाप=इष्ट देवता के नाम या मन्त्र का बार-बार उच्चारण; नाम, मन्त्र आदि जपने की माला ।

जाप्य=मन्त्र; जाप के योग्य; जो जपा जाने को हो ।

ज़ियारत=अ.; तीर्थाटन, दर्शन, तीर्थयात्रा ।

जृम्भण=जमुहाई लेना; मन्त्र-प्रयोग द्वारा अभीष्ट प्राणी में ऐसी दासवृत्ति उत्पन्न करना कि वह स्वत्व भूल कर साधक की आज्ञा के अनुसार काम करने लगे ।

झाड़ना=दे. झाड़ा देना ।

झाड़-फूंक=मन्त्र-बल द्वारा रोग या प्रेत-बाधा दूर करने की क्रिया (व्यु. झाड़ना+फूंकना) ।

झाड़ा देना=मन्त्रोच्चारपूर्वक मोर-पंख (पिच्छी), कुश (डाभ), या भस्म (राख) का रोगी के सिर-से-पैर-तक लाना (ओझा+रा=ओझा का) (?) ।

टंटा=तन्त्र; बखेड़ा, व्यर्थ का उपद्रव, झगड़ा; (अनु. टन्-टन्, या तंत्र/तंत/टंटु/टंटा) ।

टोटका=वह छोटा लोक-प्रचलित तान्त्रिक उपचार जो कष्ट, बाधा, रोग आदि दूर करने, या इनसे बचने-बचाने के लिए किया जाता है ।

टोना=वह टोटका या छोटा-मोटा तन्त्रोपचार जो प्रायः किसी को अनुरक्त या अधीन करने, या मुग्ध कर अपना काम निकालने के लिए मन्त्रोच्चार के साथ किया जाता है ।

टोना-झाड़ा=दे. टोना; झाड़ा; मन्त्रोच्चार के साथ झाड़ना ।

ठः=शून्यबीज; 'ठः ठः' आने पर 'स्वाहा' के अर्थ में प्रयुक्त ।

डाकिनी=भूत या प्रेत योनि की स्त्री; दुर्गा की सहचरी (अं. विच) ।

तन्त्र=आयुर्वेद, पदार्थ-विज्ञान, जीव-शास्त्र, मन्त्रानुष्ठान, और कर्मयोग के ज्ञान-विज्ञान पर आधारित व्यवस्था; टोना-टोटका; अभिचार आदि का विधायक शास्त्र; – साधना=गुह्यविद्या, माणव-विद्या (अं. ऑकल्ट साइंस) ।

तर्जनी=अँगूठे के पास की, उससे सटी अँगुली ।

तर्पण=नदी आदि में घुटनों तक डूब कर अंजलि द्वारा जलार्पण; विशेष पदार्थ द्वारा इष्ट को समर्पण ।

तालिब=अ.; अभिलाषी, याचक, इच्छुक ।

तावीज़=अ.; रक्षा-कवच; मन्त्र-चक्र; वह कागज़ जिस पर कोई मन्त्र आदि लिख कर गले में डालते या भुजा पर बाँधते हैं।

तिलस्म=अ.; जादू, दृष्टिबंध; तिलिस्म।

त्राटक=टकटकी लगा कर देखना, अपलक/निर्निमेष देखना; दृष्टिबल; यह ३ तरह का है–आन्तर त्राटक (भीतर-ही-भीतर टकटकी बाँध कर देखना); मध्य त्राटक (धातु या पत्थर से निर्मित किसी छोटी वस्तु या वस्त्र या दीवार पर बने मसि-बिन्दु/स्याही-के-धब्बे को अपलक देखना); बाह्य त्राटक (किसी प्रकाशमान वस्तु दीपक, तारा, नक्षत्र आदि या दूरस्थ वृक्ष, गिरि-शिखर, टीला, खम्भे आदि पर दृष्टि केन्द्रित करना)।

त्रिधातु=तीन धातुएँ–सोना, चाँदी, ताँबा; दे. त्रिलोह।

त्रिरत्न=तीन रत्न शिव, शक्ति, बिन्दु; जै. सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्र; हि.शिव अधिष्ठाता और शक्तिमान, शक्ति/बिन्दु शिव द्वारा अधिष्ठित तथा शिव में आश्रित।

त्रिलोह=तीन धातुएँ–सोना, चाँदी, ताँबा।

दक्षिणाचार/दक्षिणमार्ग=सरल-सात्त्विक उपासना-मार्ग।

दशोपचार=दस उपचार, पूजा=पाद्य (पैर धोने के लिए जल), अर्घ्य (पूजा में देने योग्य जल, फूल, मूल), आचमन (जल पीना), मधुपर्क (तन्त्र में घी, दही, मधु का समूह; दही, घी, जल, शहद, चीनी का समाहार), आचमनीय (जल), गन्ध, पुष्प, धूप, दीप, नैवेद्य।

दस कर्म=शान्ति, स्तम्भन, मोहन, उच्चाटन, वशीकरण, आकर्षण, जृम्भण, विद्वेषण, मारण, पौष्टिक।

दफ़ीना=अ.; गड़ा हुआ खज़ाना; दफ़ीनः।

दरूद=फा.; फटा हुआ, विदीर्ण; दुःखद; अन्त्येष्टि; मुहम्मद साहब की स्तुति, शुभकामना, दुआ-सलाम।

दर्भ=डाभ, कुश, कुश का बना हुआ आसन।

द्वादशांग=बारह अंगों में वर्गीकृत जिनवाणी।

दिशा=क्षितिज वृत्त के चार मुख्य कल्पित विभाग, यथा–उत्तर, दक्षिण, पूर्व, पश्चिम।

दीक्षा=किसी लक्ष्य-सिद्धि के लिए आत्मसमर्पण; गुरू द्वारा मन्त्रोपदेश तथा साधना-संबन्धी निर्देश; (व्यु. दीयते ज्ञान सद्भावः क्षीयते पापसंचयः तेन दीक्षा - दीक्षा में ज्ञान दिया जाता है और पाप का क्षय होता है)।

धारणा=दिव्य ध्यान; बाह्य देश में चित्त को अन्य तमाम विषयों से हटा कर स्थिर करना।

धूनी=वह आग जो साधु लोग या तो ठंड से बचने के लिए या शरीर को तपा कर कष्ट देने के लिए अपने सामने जलाये रखते हैं।

ध्यान=शुद्ध आत्मा में चित्तवृत्ति का संयोजन; किसी एक पदार्थ में अबाध अधिवास।

ध्वनि=शब्द, नाद, राव, आवाज; वह जो श्रवणेन्द्रिय का विषय हो; दे. राव।

नक्श=अ.; आकृति, रेखांकन, कवच, तावीज़, खुदा हुआ, चित्र, तस्वीर।

नमः=नमस्कार करता हूँ; इसका स्तंभन, विद्वेषण, और मोहन में प्रयोग होता है।

नवग्रह=नौ ग्रह – सूर्य, चन्द्र, मंगल, बुध, गुरु, शुक्र, शनि, राहु, केतु।

नागार्जुन=रसायनी/तान्त्रिक नागार्जुन जिसे वासुकि नाग और भूपलदेवी का पुत्र माना जाता है। इसने पादलिप्ताचार्य से गगनगामिनी विद्या प्राप्त की थी; (दे. नागार्जुन प्रणीत अन्तर्ध्यान विधि, ल.वि. खण्ड ५, पृ. ६)।

नाड़ी=ज्ञान-प्रवाह; रक्तवाही नलिका; मुख्य ३ - इड़ा (वाम नाड़ी), पिंगला (दक्षिण नाड़ी), सुषुम्ना (मध्य नाड़ी या मध्यधाम); बौ. वज्रयान में ७२००० नाड़ियाँ मानी गयी हैं। हिंदू तन्त्र ने भी इतनी ही मानी हैं। इनमें-से ३२ मुख्य हैं। ३२ में-से भी ३ प्रमुख हैं, जिन्हें बौ. में इड़ा, पिंगला, सुषुम्ना तथा बौ. वज्रयान में क्रमशः ललना, रसना और अवधूती कहा गया है।

नाद=वर्णों का अव्यक्त मूल रूप; अन्तरात्मा में होती रहने वाली एक सूक्ष्म ध्वनि, जो चित्त को एकाग्र करने पर ही सुनायी पड़ सकती है।

निषेध=अकरणीय; वर्जना, कोई अंग 'कैसा न हो' इसका निर्देश; अष्टांग में-से एक।

नैवेद्य=वह भोज्य पदार्थ जो किसी देवता को अर्पित किया जाए; पूजनोपरान्त इष्ट देवता को भोग-प्रसाद-रूप अर्पित की जाने वाली खाद्य-पेय सामग्री।

न्यास=विनियोग; मन्त्रोच्चार के साथ चेतना-केन्द्रों को छूना तथा उन्हें सक्रिय बनाना; साधक का मन्त्ररूप हो जाना।

पंचगव्य=गाय का गोबर, गोमूत्र, गोदुग्ध, गोघृत, गोदधि।

पंचमकार=मांस, मछली, मदिरा, मुद्रा, मैथुन जो क्रमशः पृथ्वी, जल, तेजस्, वायु, और आकाश तत्त्वों के प्रतीक माने गये हैं; तन्त्रों में इनके सेवन की छूट दी गयी है।

पंचमेल=दे. पंचांग; जिसमें ५ प्रकार की वस्तुएँ मिलायी गयी हों।

पंचरात्र=पाँच रात्रियों का समूह; पाँच दिन (रातें भी सम्मिलित) में संपन्न होने वाला यज्ञ।

पंचांग=तिथि-दर्पण; जड़, छाल, पत्ते, फूल, फल।

पंचामृत=दूध, घी, दही, मिश्री/शक्कर, मधु इन पाँचों के घोल से किया जाने वाला अभिषेक अथवा घोल।

पंचोपचार=पूजा के पाँच उपचार : आवाहन, संस्थापन, संनिधीकरण, पूजन, विसर्जन; इस तरह की पूजा में गंध, पुष्प, दीप, धूप और नैवेद्य की गणना की जाती है।

परकाया-प्रवेश=एक तान्त्रिक प्रयोग जिसके बल पर दूसरे के मृत/जीवित शरीर में उतरना संभव होता है।

परा=सूक्ष्मा; परनाद; शब्दानुविद्ध ज्ञान से परे निर्विकल्प ज्ञान-लाभ की ओर ले जाने वाला परनाद; व्यक्ति की भाषातीत अवस्था, योग में जिसे निर्विकल्प समाधि कहा गया है।

पलीद=फा.; अपवित्र, दुष्ट, भूत-प्रेत, अ. खबीस (अंतकुटिल)।

पश्यन्ती=अक्षरबिन्दु; व्यक्ति की वह चेतन स्थिति जिसमें वह भाषा-प्रवाह को भाषातीत हो कर देख सकता है; ऐसी भाषा-अवस्था जिसमें मनुष्य को अपना आन्तरिक ज्योतिर्मय रूप उपलब्ध होता है। यह मध्यमा और परा के बीच की स्थिति है। भाषा की इस सूक्ष्मावस्था को अविनाशी कहा गया है।

पीर=फा.; धर्मगुरु, वयोवृद्ध; सोमवार।

पौष्टिक कर्म=साधक जिस मान्त्रिक अनुष्ठान द्वारा अपने अथवा किसी अन्य के निमित्त धन-धान्य, सुख-सौभाग्य, यश-कीर्ति, मान-सम्मान आदि की वृद्धि करता है। इसमें 'वषट्' का प्रयोग होता है।

प्रणव=देखो – ओम्; जो कभी पुराना न पड़े।

प्रत्यभिज्ञा=पहचान; (अं. आयडेंटिटी)।

प्रदक्षिणा=अपने इष्टदेव के चारों ओर घूमना; परिक्रमा; परकम्मा।

प्रलयाकल=देह-संबन्ध से विच्छिन्न आत्माएँ।

प्रश्वास=श्वास छोड़ना; अपान; ग्रहण की हुई वायु।

प्राणक्रिया=प्राणायान।

प्राण-प्रतिष्ठा=जीवन्त करना; मूर्तिमान के अनुरूप करना।

प्राणायाम=प्राण (वायु) की पूरक (श्वास भरना), कुंभक (श्वास रोकना); रेचक (श्वास छोड़ना) अवस्थाएँ; श्वासोच्छ्वास का नियमन।

फट्=इसका मारण में प्रयोग होता है; (स्फट्–फट जाना)।

फल=कर्म-परिणाम; प्राप्ति; लाभ; वनस्पति आदि से प्राप्त फल।

फलीता=अ.फतील: ; चिराग़ की बत्ती; भूत और जिन उतारने वालों की बत्ती जिसे वे चिराग में जला कर प्रेत-बाधा-ग्रस्त लोगों को बताते हैं।

बं=भूतलिपि वर्ण।

बंदा=एक वृक्ष पर फूट आया दूसरा वृक्ष; किसी भी वृक्ष पर ऊगा हुआ विदेशी पौधा; परोपजीवी पौधा या वृक्ष (तान्त्रिक प्रयोगों में पीपल के पेड़ का बंदा उपयोगी माना जाता है)।

बकराना=विवश हो कर अपने जुर्म या अपने दोष की बातें कहना; अपराध-स्वीकृति के लिए विवश करना (विशेषतः किसी प्रेत या डाइन को) (अं.; कन्फेसन)।

बगला=सारस की जाति का एक पक्षी; रहस्य-संप्रदाय के अनुसार मन; –मुखी= तंत्र के अनुसार एक देवी जिसकी आराधना से दुश्मन की वाणी कुण्ठित हो जाती है तथा बाकी इन्द्रियाँ स्तम्भित।

बराना=मूल मुद्दा छुपा कर इधर-उधर की बातें करना; रक्षा करना; बचाना; बालना (जलाना)।

बलि=त्याग, निग्रह; प्राण लेना (वाममार्ग); बलि के ३ प्रकार हैं – आत्मबलि (अहंकार आदि का त्याग), अन्तर्बलि (मान, क्रोध आदि तथा इन्द्रियों का निग्रह), बाह्यबलि (फलादि का त्याग)।

बिजई=द्वितीय, दूसरा।

बिन्दु=सृष्टि का उपादान-स्वरूप; महामाया; कुण्डलिनी, चिदाकाश; दीपक के समान भास्वर; उच्चारण-काल अर्द्धमात्रा; दे. मात्रा (शिव को बिन्दु का अधिष्ठाता माना गया है)।

बीज=मन्त्र का एकाक्षरिक रूप; उत्पत्ति अथवा सृजन का मूल आधार; मन्त्र की ध्वनियों में सन्निहित शक्ति; वर्ण-सामर्थ्य।

बीजाक्षर=मन्त्र-शक्ति को उद्‌भावित करने वाले अक्षर।

भट्टारक=अतिशय आदरसूचक संबोधन; महापण्डित।

भभूत=शिवलिंग के सामने जलने वाली आग की भस्म, जिसे शैव साधक बाहुओं, मस्तक आदि पर धारण करते हैं।

भूतलिपि=तन्त्रलिपि; संकेतक के अनुसार शरीर में वर्णों का सर्वांग न्यास है; यथा - य=हृदय, र=दाहिना कंधा, ल=बायाँ कंधा।

भूतशुद्धि=शरीर-स्थित भूतों की भस्म कर नवीन दिव्य भूतों की रचना।

भैरव=विश्व का भरण, रवण, और वमन करने वाली सत्ता (भया सर्वं रवयति इति भैरवः); भरण, रवण और वमन के लिए क्रमशः पोषण, सृजन और संहार; तथा ध्रौव्य, उत्पाद और व्यय (जैनदर्शन) शब्द प्रयुक्त हुए हैं।

मंतर=मन्त्र; दे. मन्त्र।

मध्यम=भौतिकवाद और आत्मवाद के बीच का मार्ग (बौ. हीनयान); सापेक्षता, जो शून्यता है (बौ. महायान)।

मध्यमा=मनोगत भाषा; ध्यान रहे वैखरी और मध्यमा की शब्दावली एक होती है मात्र व्यक्त/अव्यक्त, उक्त अनुक्त का भेद रहता है; एक भाषा-अवस्था; दे. वैखरी, परा, पश्यन्ती।

मनुष्य=मनु-पुत्र (मनोः अपत्यम्), आदमी; स्वभावानुसार वर्गीकरण के अन्तर्गत १६ प्रकार – वनस्पति (स्थान-मोह से ग्रस्त, मात्र पेट पर केन्द्रित); मत्स्य अस्थिर, मूर्ख, कायर); पशु (आलसी, अकर्मण्य, रति-परायण, निद्रालु); प्रेत (सुस्त, ईर्ष्यालु, अविवेकी); पिशाच (उच्छिष्ट-भोगी, निर्लज्ज, स्त्रियों पर मरने वाला), राक्षस (एकान्तप्रिय, आत्मप्रशंसी, धर्म से घृणा करने वाला); पक्षी (अति-कामी, भ्रमणशील, क्रोधी, निरन्तर कुछ-न-कुछ खाते रहने वाला); सर्प (गर्म-मिजाज, कायर, सुलभ-कोपी, मायावी, आहार-विहार में चंचल); असुर (क्रूर, ऐश्वर्यवान्, पेटू, ईर्ष्यालु); यम (दृढ़संकल्पी, निर्भीक, तीव्र स्मरण-शक्ति-संपन्न, अपने काम को लगन से पूरा करने वाला, मोह अहंकार द्वेष आदि से रहित); गंधर्व (सुगंधित पदार्थों और पुष्पों का शौकीन, मनमौजी, संगीत-नृत्य-प्रेमी, फक्कड़); कुबेर (मध्यस्थ वृत्ति, अर्जन और संचय में कुशल, निर्माण-शक्ति से संपन्न); वरुण (पीला रंग, ठंडा मौसम पसंद करने वाला, मधुर भाषी); महेन्द्र (शास्त्रानुरागी, विद्याव्यसनी, पराक्रमी, अपना अनुशासन मनवाने वाला, महिमा-संपन्न, आश्रितों का भरण-पोषण करने वाला); ऋषि (मन्त्र-जप करने वाला, व्रतोपवासी, दृढ़संकल्पी, ब्रह्मचारी, विद्यानुरागी, ज्ञान-विज्ञान-संपन्न); ब्रह्म (पवित्र रहने वाला, आस्तिक, सद्ग्रन्थों का स्वाध्याय करने वाला, गुरुभक्त, अतिथि-सत्कार-परायण)।

मन्त्र=कुछ विशिष्ट अक्षर-शब्दों का ऐसा विलक्षण संयोजन जिसके बारम्बार उच्चारण/संघर्षण से वातावरण में विशेष प्रकार की तरंगें उत्पन्न हों फलतः साधक की इच्छित भावनाएँ तथा उसके अभीष्ट उद्देश्य की पूर्ति हो; ध्वनि-प्रधान साधना; गोपनरूप में आत्मतत्त्व से वेष्टित शब्द/वर्ण-समूह; ध्वनियों का प्रभावी सन्निवेश; मनन की सूक्ष्म अवस्था को प्राप्त ध्वनि-समूह; वर्ण-समूह, जिसके द्वारा निजता का तीव्रतर अनुभव हो; मन्त्रों की संख्या सात करोड़ मानी गयी है।

मन्त्रभावना=वह आरंभिक मन्त्र-जाप जिससे संबन्धित मन्त्र को शक्ति-संपन्न किया जाता है।

मन्त्र-शोधक='किस मन्त्र से सिद्धि मिलेगी' इसका निर्णय करने वाला; मन्त्र-शुद्धि और लक्ष्य का विशेषज्ञ।

मन्त्र-शोधन=साधक की पात्रता तथा उसकी लक्ष्य-सिद्धि के अनुरूप मन्त्र ढूंढ़ कर निश्चित करना, ऐसा करने की नाना विधियाँ हैं।

मन्त्र-साधना=मन्त्र को सिद्ध करने का प्रयत्न; मन्त्र-साधना में पूर्ण सफलता के लिए

यम (अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह) और नियम (शौच, संयम, तप, स्वाध्याय, समर्पण) का दृढ़ता से परिपालन करना चाहिये। ध्यान रखना चाहिये कि साधक जब तक साधना-में-रत रहता है तब तक एक विशेष प्रकार की शक्ति का संचार उसके शरीर में होता है; ऐसे में यदि वह खुली ज़मीन पर बैठा होता है तो निष्पन्न शक्ति पृथ्वी में समा जाती है, अतः उसे चाहिये कि वह किसी उचित/कम-से-कम दो-ढाई इंच मोटे आसन पर निश्चल चित्त से बैठ कर साधना करे।

मन्त्री=मन्त्र-साधक।

महरूम=अ.; वंचित, अभागा, बदनसीब।

मातृका=स्वर तथा व्यंजनों में वर्गीकृत वर्णमाला; देवनागरी वर्ण-समुदाय (१६ स्वर, २५ व्यंजन, ४ अर्द्धस्वर, ३ ऊष्म वर्ण, एक सान्त, एक अनच्क=५०); स्वरों को शिवरूप, दीर्घस्वरों को शक्तिरूप, तथा व्यंजनों को योनिरूप माना गया है। व्यंजन स्वर-संयोग से ही ध्वनित होते हैं अन्यथा मूक पड़े रहते हैं। व्यंजन पंचभूतों के प्रतिनिधि/प्रतीक हैं, यथा–कचटतप (पृथ्वी), खछठथफ (जल), गजडदब (तैजस्), घझढधभ (वायु), ङञणनम (आकाश)।

मातृका चक्र=स्वर-व्यंजनात्मक वर्ण-संयोजना।

मात्रा=ह्रस्व स्वर का उच्चारण-काल; ये हैं–अ इ उ ऋ।

मानसजप=मानसिक जप; जप के ३ प्रकार हैं–वाचनिक, मानसिक, उपांशु; दे. जप।

मारण=किसी व्यक्ति को मार डालने के लिए मन्त्र-प्रयोग; वह तन्त्र-प्रयोग जिसके प्रभाव से किसी व्यक्ति पशु/प्राणि को मार डाला जाए।

मार्जन=स्नान, मान्त्र स्नान।

माला=१०८ गुँथे हुए मनके; जाप या जप के निमित्त एक उपकरण; इसके ३ प्रकार हैं–करमाला (जो जाप अँगुलियों पर की जाती है); वर्णमाला (वर्णों के द्वारा गणना यथा–अ से ह् तक ५० और ह् से अ तक ५० तथा अं कं चं. टं. तं पं यं शं ८; कुल मिला कर १०८); मणिमाला (१०८ मनकों या दानों से बनी माला)।

मुकुलीकरण=हाथ जोड़ना; दोनों हाथों को सटा कर उन्हें मुकुलित रखना (मुकुलित=अधमुंदा, अधखुला)।

मुद्रा=साधना के निमित्त हाथों की विशिष्ट आकृति-रचना।

मुहूर्त=ज्योतिषानुमोदित उपयुक्त कालखण्ड; दिन या रात का वह कालखण्ड जो

एक विशेष प्रभाव से संपन्न हो; किसी तान्त्रिक साधना का उपयुक्त क्षण।

मूठ=मंत्र-तन्त्र का प्रयोग; –मारना=किसी की मृत्यु के लिए मुट्ठी में कुछ मन्त्रित वस्तुएँ रख कर उसकी ओर फेंकना (सं. मुष्ट, प्राकृत मुट्ठ, हिं. मूठ)।

मूर्ति=बिम्ब, प्रतिमा, विग्रह; मूर्त होने की अवस्था या भाव।

मूल=वृक्ष या पौधे की जड़; दे. पंचांग।

मोहन=किसी को मन्त्र-प्रयोग द्वारा स्वयं पर आसक्त या मोहित करना; –कर्म= मन्त्र-सिद्धि के प्रभाव से किसी को मुग्ध या आत्मविस्मृत करना।

मौली=लाल धागा बाँधना (प्रायः वनस्पति-तन्त्र में प्रयुक्त)।

यं=वायुबीज; तन्त्र के अनुसार जिस किसी बीजाक्षर का जप करना हो तो उस पर आनुनासिक चन्द्रबिन्दु लगा कर ही जप करना चाहिये तभी सफलता/सिद्धि मिलती है।

यक्ष=प्रेत; देवयोनि विशेष जिसके राजा कुबेर माने गये हैं; शासन-देवता।

यक्षकर्दम=कपूर, कस्तूरी, कालीमिर्च, कंकोल, केसर, चन्दन, हिंगुल, गोरोचन, अम्बर, स्वर्ण-पत्र (सोने का वर्क), रक्तांजन और अगर से तैयार लेप (अंगराग)।

यक्षिणी=यक्ष की स्त्री; कुबेर-पत्नी; शासन-देवी।

यति=वह व्यक्ति जिसने अपनी इन्द्रियों और मनोविकारों को वशीभूत कर लिया है; जो संयम/योग में यत्नवान् है (जयमाणगो जई होई); जो साधु दीर्घकाल से दीक्षित है (चिरप्रव्रजितः साधुर्यति)।

यन्त्र=मन्त्र-हस्ताक्षर; मन्त्र में प्रयुक्त ध्वनियों की भूमितिक आकृति; तकनीक; मन्त्रोच्चार से उत्पन्न तरंगों की आकृति-रचना (ग्राफ ऑफ वायब्रेशन्स); मन्त्र की रूपाकृति; मन्त्रदेह।

यमला=कायसिद्धा अम्बा (इसे अवैदिक तन्त्र कहा गया है); यामल तन्त्र में सृष्टि-तत्त्व, ज्योतिष, नित्यकर्म, सामाजिक विवेचन, समकालीन कर्त्तव्य आदि की विवेचना होती है।

यान=मार्ग, यथा – महायान, हीनयान, वज्रयान।

योग=समाधि; चित्त की परिपूर्ण एकाग्रता; इच्छानिरोध।

योनि=सभी वस्तुओं का स्रोत; उत्पत्ति-स्थान।

रं=अग्निबीज।

राव=नाद; अनाहत ध्वनि।

लं=इन्द्रबीज।

लघुविद्यानुवाद=आचार्य कुन्थुसागरजी तथा आर्यिका विजयमतीजी द्वारा संपादित मन्त्र-तन्त्रों का संकलन; दे. इसी अंक में 'कुन्थु-कथा-सागर (लेख); पृ. ८२-९६, १४७-१५६।

लिंग=सारे मन्त्र पुल्लिग, स्त्रीलिंग तथा नपुंसक लिंगों में विभाजित हैं। जिन मन्त्रों के अन्त में 'हुं' तथा 'फट्' आते हैं वे पु., जिनके अन्त में 'स्वाहा' आता है वे स्त्री., और जिनके अन्त में 'नम:' आता है वे न. लिंगी होते हैं।

लोकान्तर=परलोक।

लोबान=फा.; एक सुगंधित गोंद।

वं/वँ=वरुणबीज; सूर्य; बौ. वंकार (सूर्यनाड़ी), एकार (चन्द्रनाड़ी), एवंकार (चन्द्रसूर्य/दिवा-रात्रि)।

वज्र=बौ. वज्रयान का साधनात्मक और धार्मिक प्रतीक; हीरा; अप्रवेश्य; अच्छेद्य; संन्यासियों और भिक्षुओं का विरोधी शक्तियों से जूझने का अस्त्र; पुरुषेन्द्रिय; विद्युत्; चित्त।

वर्ण=स्वर या व्यंजन; मन्त्रशास्त्र में प्रत्येक वर्ण का छन्द (रिद्म), देवता (शेप), प्रभा-मण्डल और शक्ति (रेंज/पॉवर) निर्धारित है। प्रभा-मण्डल को हम अक्षर की दोलन-शक्ति (फ्रीक्वेन्सी) भी कह सकते हैं।

वशीकरण=जिस क्रिया से कोई व्यक्ति अपनी अस्मिता को भूल कर साधक की इच्छा के अनुसार आचरण करने लगे; किसी व्यक्ति को अपने वश में या अधीन करना; इसकी दो अंगभूत उपक्रियाएँ हैं–आकर्षण और मोहन।

वषट्=शिखाबीज; आकर्षण; इसका उपयोग आह्वान के निमित्त होता है।

वाग्वज्र=बौ. अनिर्वचनीय स्वतन्त्र सत्य; उपासना के क्षेत्र में जिन्हें मन,वचन और कर्म कहते हैं, उन्हें ही बौद्ध साधना में चित्त, वाक् और काय कहा है। वज्रयान में इन तीनों के वज्र स्वभाव की प्राप्ति की साधना वर्णित है: वज्रचित्त, वज्र-वाक्, वज्रकाय।

वाममार्ग=प्रचलित लोकरीति (सात्त्विक साधना) के विपरीत आचरण; नारी को शक्ति-रूप में पूजने की आचार-विधि; दे. वामाचार।

वामाचार=वाममार्ग; जटिल/तामसिक उपासना-पद्धति, जिसमें मलिनता, मांस-मदिरा, अशोभन वेश, भक्ष्याभक्ष्य-अविवेक, और मुक्त यौनाचार होता है।

विद्वेषण=किन्हीं दो मित्रों या प्रेमियों में परस्पर विरोध उत्पन्न करा देना; –कर्म= किन्हीं दो या अधिक व्यक्तियों के बीच वैर-विरोध या अलगाव पैदा करने वाली मान्त्रिक साधना।

विधि=रीति, ढंग, निर्दिष्ट प्रक्रिया; बौ. ध्यान और मोक्ष का संयोग।

विन्यास=मन्त्र-रचना; नामानुसार मन्त्रार्थ अक्षर-संयोजन; इसके ६ भेद हैं – **ग्रन्थन,** विदर्भ, सम्पुट, रोधन, योग, पल्लव।

विद्या=जिस मन्त्र की अधिष्ठात्री कोई देवी हो; वह मन्त्र जिसकी अधिष्ठात्री कोई स्त्री देवता हो, या जिसे जप आदि अनुष्ठान द्वारा सिद्ध किया गया हो।

विद्याधर=जो विद्याओं का धारक है; विजयार्धपर्वत का निवासी मनुष्य; एक देव-योनि जिसके अन्तर्गत खेचर, गंधर्व, किन्नर आदि आते हैं।

विद्यानुवाद=दृष्टिवाद के चौदह पूर्वों में-से एक; मन्त्रशास्त्र; तन्त्र-मन्त्र का आकर ग्रन्थ; जिन शास्त्रों में रोहिणी आदि विद्याओं के साधने का वर्णन है; अन्य नाम हैं – विद्यानुप्रयोग, विद्यानुयोग; दे. लघुविद्यानुवाद।

विज्ञान-कैवल्य=अचित्-संबन्ध के कट जाने की स्थिति।

विज्ञानाकल=अचित् से विविक्त आत्माएँ; एक जीव-भेद; आत्माएँ जो पुनरावर्तन नहीं करतीं।

वैखरी=मुखोच्चरित भाषा; श्वास-प्रक्रिया से निबद्ध भाषा-रूप; वाणी का स्थूलतम रूप।

वैष्णव=विष्णु का उपासक; विष्णु से संबन्धित (विष्णु=जो प्राप्त शरीर को व्याप्त करे)।

व्यंजन=क् से ह् तक का वर्ण-समूह; ऐसा वर्ण जिसका उच्चारण स्वर की सहायता के बिना न हो।

व्यपोहन=विनाश; वितर्क।

शकुन=किसी कार्य के आरंभ होने के समय घटित कोई एसी विशिष्ट घटना, जो उस कार्य के भविष्य के संबन्ध में कोई शुभ संकेत देती हो।

शक्ति=क्रियारूप निमित्त; जिसकी सहायता से बीज मन्त्र बनता है।

शक्तित्रय=अ इ उ क्रमशः चित्, इच्छा, उन्मेष या ज्ञान;; इन्हीं के क्षोभ से आ ई ऊ क्रमशः आनन्द, ईशान और ऊर्मि शक्तियाँ निष्पन्न होती हैं।

शक्तिपात=गुरु-कृपा; कृपादृष्टि।

शब्द=ध्वनि; मुखोच्चरित सार्थक ध्वनि-समूह।

शराव-सम्पुट=मिट्टी के दो सकोरों को एक-दूसरे के मुँह से मिला कर बन्द करना।

शवपीठ=मृतक पर आसन लगा कर विद्या-सिद्धि (कर्णपिशाचिनी आदि) के लिए मन्त्र-साधना।

शाकिनी=प्रेत-योनि की स्त्री; दुर्गा की सहचरी।

शाक्त=एक उपाय; दे. आणव; समस्त जागतिक पदार्थों में अपने शुद्ध स्वरूप को अपृथक् देखना।

शान्तिकर्म=जिस मान्त्रिक साधना का उद्देश्य कल्याणकारी और शान्तिप्रद हो।

शाबर=मन्त्रों की लोकभाषागत सरल रचना; लोकसभा में लिखित वे मन्त्र, जिनकी साधन एवं प्रयोग-विधि प्राचीन मन्त्रों की तुलना में काफी सरल होती है।

शाम्भव=एक उपाय; दे. आणव; निर्विकल्प शून्य स्थिति में अपने चित्त को समाहित करने का प्रयास।

शिव=परावस्था में इसका अर्थ 'शब्द' है; तन्त्र के देवता; मृत्युंजय भट्टारक; अ से अः तक की षोडश कलाओं से संपन्न पुरुष।

शुद्धि=दिशा, स्थान, शरीर, मन और आसन का मन्त्रानुरूप निर्दोष/उपयुक्त चयन तथा उनका शुद्धीकरण।

शुभ=शोभन; मंगलकारी; कल्याणप्रद।

शैव=शिव को मानने वाला।

श्मशानपीठ=भयानक श्मशान-भूमि में मन्त्र की आराधना।

श्यामापीठ=एकान्त निर्जन स्थान में षोडशी नवयौवना सुन्दरी को निर्वस्त्र बैठा कर अचंचल/अविचल मन से, ब्रह्मचर्य में दृढ़ रहते हुए मन्त्र की आराधना।

श्वास=वायु का आचमन/ग्रहण।

षडंग=योग के छह अंग—प्रत्याहार, ध्यान, प्राणायाम, धारणा, तर्क, समाधि।

षण्ढ स्वर=तन्त्रशास्त्र में ऋ, ॠ तथा लृ, ॡ को नपुंसक कहा गया है; ध्यान में इनका उपयोग वर्जित है।

षोडशोपचार=पूजन के १६ उपचार – आह्वान, आसन, पाद्य, अर्घ्य, आचमन, स्नान, वस्त्र, यज्ञोपवीत (अलंकार), सुगंध, पुष्प, धूप, दीप, नैवेद्य, अक्षत, ताम्बूल, दक्षिणा।

संरक्षीकरण=दे. सकलीकरण।

संवित्=बोध, चेतना, संकेत।

संस्कार=दोष-निवारण हेतु उपाय।

स-कल=देह और इन्द्रिय से युक्त आत्मा।

सकलीकरण=रक्षा-मन्त्र का जप; मन्त्र-साधना की प्राथमिक रक्षापरक तैयारी; समस्तीकरण।

सन्ध्या=तन, मन, एवं वाणी से ईश्वर-स्वरूप होना; आत्मस्वरूप होना (व्यु. ध्यै= ध्यान करना)।

समय=दीक्षा-ग्रहण के अनुरूप उपयुक्त क्षण (इसमें मास, पक्ष, सप्ताह, दिन, घड़ी मुहूर्त सब आ जाते हैं); जै. आत्मा।

समिधा=जिन लकड़ियों से होमाग्नि प्रज्वलित की जाती है। इस कार्य के लिए आम, पलाश, खदिर, आक, शमी, कुशा की लकड़ियाँ उपयुक्त मानी गयी हैं।

सयाना=अनुभवी; ओझा; जादू-टोना करने वाला; स-ज्ञान; होशियार।

सवाल=अ.; याचना, आकांक्षा, प्रार्थना, अर्जी।

साइत=अ. साअत; शुभलग्न या मुहूर्त; एक घंटा; ढाई घड़ी का समय।

साइल=अ.; याचक, प्रार्थी, सवाल करने वाला।

सात्त्विक तन्त्र=दे. दक्षिणाचार, दक्षिण मार्ग।

साधक=साधना करने वाला; इनकी दो श्रेणियाँ मानी गयी हैं – बुभुक्षु (भोगार्थी, इसकी भौतिक दीक्षा होती है), मुमुक्षु (मोक्षार्थी, यह भोग से परे वीतस्पृह होता है)।

साधना=निर्धारित उद्देश्य की ओर बढ़ना, प्रयत्न करना; मन को पूरी तरह एक भावना, एक बिन्दु, एक लक्ष्य पर लगा देना – यह ध्यान से ही संभव है – इसके लिए उत्तम अधिष्ठान, पूरी सावधानी, उपयुक्त उपकरण और उत्तम मार्गदर्शक आवश्यक है।

साबर=दे. शाबर; तन्त्र के ४ भेद हैं—कौल, सिद्धान्त, चीन, साबर; कौलाचार मुक्तिमार्ग है, सिद्धान्ताचार उसकी पूर्वभूमिका है; चीनाचार और साबर उसकी प्रादेशिक विधाएँ हैं; गोरखनाथ को साबर तन्त्र का जनक माना जाता है, यह ज्ञान की उच्च भूमिका प्रदान नहीं करता, इसमें केवल काम्य प्रयोग हैं।

सिज्झि=सिद्धि; दे. सिद्धि।

सिद्धि=मन्त्र में गर्भित शक्ति पर अधिकार प्राप्त होने की स्थिति; ये ८ हैं– अणिमा, महिमा, गरिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशत्व, वशित्व; योग-साधना से प्राप्त अलौकिक शक्ति

सुषुम्ना=मध्य नाड़ी, मध्य दशा, मध्य धाम।

सूतक=अशौच; जन्म अथवा मृत्यु से होने वाली अशुचिता।

सूफी=अ. अध्यात्मवादी; तसव्वुफ़ का अनुयायी; ब्रह्मज्ञानी (सूफ़=विज्ञान, हिकमत)।

सोऽहं='मैं वही हूँ' (सो=श्वास लेते समय, ऽहं=श्वास छोड़ते समय); अजपा जप; 'ओम्' के जप-ध्यान और उसकी साधना की पूर्वावस्था।

सौर=सूर्य-संबन्धी; सूर्य का उपासक या भक्त।

स्तम्भन=कीलन; रोकना; – कर्म=अग्नि, जल, वायु, वाहन, व्यक्ति, पशु, शस्त्र आदि की क्रियाशीलता को रोक कर उसे निष्क्रिय कर देना।

स्तोत्र=गुणानुवाद, प्रशंसा, विरुदावली; स्तोत्र और मन्त्र में मूलभूत अन्तर यह है कि स्तोत्र पाठ्य होता है और मन्त्र जाप्य। स्तोत्र में प्रायः एक ही भाव भिन्न-भिन्न शब्दों में प्रस्तुत किया जाता है, जबकि मन्त्र में ऐसा संभव नहीं है।

स्थापना=किसी देवता, मन्त्र; व्यक्ति आदि का आह्‌वान के बाद स्थापन; स्थापित करने की क्रिया।

स्नान=शुद्ध जल से अधोवस्त्र पहिन कर काया की शुद्धि; यह ७ प्रकार का है–मान्त्र (मंत्रों द्वारा मार्जन/शुद्धि), भौम (उबटन आदि से रगड़ कर स्नान), आग्नेय (भस्म मलना), दिव्य (धूप/वर्षा से स्नान), वायव्य (गायों के खुर से उड़ी धूलि से स्नान), वारुण (नदी, जलाशय आदि में अवगाहन), मानस (भवगत् स्मरण में निमग्नता)।

स्वधा=एक मन्त्र जिसका उच्चारण पितरों या देवताओं को हवि देने के क्षणों में किया जाता है।

स्वप्न=शयनावस्था की विचार-क्रिया।

स्वर=वे मुखोच्चरित ध्वनियाँ जिनका स्वतन्त्र/अबाध उच्चारण होता है। स्वर शक्ति के जीवन्त प्रतीक हैं। स्वरहीन वर्ण बीज हैं, जिनमें शक्ति के संयोग से ही पूर्णता आती है। अ से ह् तक के वर्ण मातृक हैं।

स्वाहा=शान्तिबीज; अग्नि-पत्नी; नाद शब्द में अग्नि निहित है – न=प्राण, द=अग्नि; परम्परा से मन्त्र स्वाहाकार से रहित होते हैं, जिसके अन्त में स्वाहाकार हो वह विद्या है; 'स्वाहा' अर्थात् देवोद्देश्य से द्रव्य चढ़ाना।

हंस=हकार और सकार की युति। सकार प्राण और प्रकाश (सूर्य/दिन) तथा हकार जीव (अपान) तथा क्षपा (रात्रि) का प्रतिनिधित्व करते हैं। प्राण निरन्तर अनाहत रूप अनच्क हकार का उच्चारण (हंसोच्चार) करता रहता है, हंस (अहं+सः) की संक्षिप्ति है। यह अजपाजाप है। प्रत्येक व्यक्ति प्रतिदिन २१,६०० अजपाजाप करता है।

हवन=अग्नि में हविष्य डालना; इसका क्रम पूजन और बलि (दे. बलि) के बाद आता है।

हाकिनी=डाकिनी की तरह की एक प्रचण्ड देवी।

हाज़िरात=अ. 'हाज़िर' का बहुवचन; जिनों तथा भूतों को बुलाने का अमल, जिससे वे किसी पर बुलाये जाते हैं और सवालों का जवाब देते हैं। हाज़िराती=ओझा, सयाना, जादू-टोना जानने वाला; जिनों या प्रेतों को बुलाने की क्रिया।

हाथाजोड़ी=एक वनस्पति, जिसकी जड़ खोदने पर उसमें से मानव-भुजा जैसी दो शाखाएँ दीख पड़ती हैं। यह मध्यप्रदेश में होती है।

हिरण्यगर्भ=भगवान् आदिनाथ; ब्रह्मा; आत्मा; विष्णु। □

तन्त्र शब्द-कोश

(अंग्रेजी; शब्द-संख्या ३३)

Alchemy	अल्केमी = कीमिया
Amulet	एम्युलिट = तावीज़, जन्तर, कवच
Apparition	एपेरिशन = प्रेत, भूत
Astral Body	एस्ट्रलबॉडी = सूक्ष्म शरीर
Aura	ऑरा = आभा-चक्र या आभा-मण्डल
Black Art	ब्लेक आर्ट = अभिचार, वशीकरण, काला जादू
Conjuration	कॉन्ज्युरेशन = मन्त्रोच्चार, तन्त्र-मन्त्र
Coven	कॉवेन = सामान्यत: १३ तान्त्रिकों की समिति
Divination	डिवीनेशन = शकुन-विद्या, शकुन-विचार
Evocation	इवोकेशन = आह्वान
Exorcism	एक्झार्सिज्म = झाड़-फूंक, भूत-अपसारण
Fascination	फैसीनेशन = आकर्षण, सम्मोहन, वशीकरण
Ghost	घोस्ट = भूत, प्रेत, प्रेतात्मा, छाया
Hallucination	हेलूसिनेशन = विभ्रम, मतिभ्रम, निर्मूल भ्रम
Incubus	इन्कुबस = दु:स्वप्न
Invocation	इन्वोकेशन = आह्वान, झाड़-फूंक
Levitation	लेविटेशन = आकाशगामिता, आकाश-गमन
Magic	मैज़िक = जादू, अभिचार
Medium	मीडियम = माध्यम, साधन
Meditation	मेडिटेशन = ध्यान, मनन, चिन्तन
Mesmerism	मेस्मेरिज्म = मूर्च्छन, सम्मोहन, दृष्टिबंध
Occult	ऑकल्ट = गुह्यविद्या, तन्त्र
Possession	पजेशन = भूतबाधा, आवेश
Reincarnation	रीइन्कार्नेशन = पुनर्जन्म
Sabbat	सेबेत = कॉवेन की साल में चार बार होने वाली बैठकें
Sorcery	सॉर्सरी = जादू-टोना, अभिचार
Spell	स्पेल = मन्त्र, तन्त्र-मन्त्र
Succubus	सेक्यूबस = सुप्त पुरुषों के साथ मैथुन करने वाली पिशाची, दु:स्वप्न
Telepathy	टेलीपैथी = दूरसंवेदन
Trance	ट्रान्स = आत्म-विस्मृति, भाव-समाधि; मूर्च्छा
White Magic	व्हाइट मैज़िक = शुभाभिचार, सात्त्विक तन्त्र
Witch	विच = डाइन, तान्त्रिक
Witchcraft	विचक्राफ्ट = जादू-टोना, जंतर-मंतर

□

With Best Compliments

Bharat General Textile Industries (P.) Ltd.

Manufacturer of

EPONY RESIN

27, Bentick Street,

CALCUTTA-700 069

मुस्लिम समाज में जादू-टोना

इस्लाम में जादू-टोना, जन्तर-मन्तर नाजायज़ है, बुरा माना गया है; बल्कि इन्हें 'शिर्क' ठहराया गया है। शिर्क यानी अल्लाह की ज़ात, अस्तित्व या सत्ता के समान किसी दूसरे की ज़ात को स्वीकृति देना। पैगम्बर हज़रत मुहम्मद तो 'तावीज़' को पहनना अच्छा नहीं समझते थे; मगर आज तावीज़, कड़ा, छल्ला सब का प्रयोग किया जाता है।

–डॉ. निजामउद्दीन

अरबी भाषा में जादू को 'सह्‌र' कहा गया है और 'सह्‌र' को 'बरहक़', यानी सच माना गया है। यन्त्र-मन्त्र, जादू-टोना न्यूनाधिक सभी धर्मावलम्बियों और सम्प्रदायों में आदिकाल से प्रचलित है। हज़रत मूसा के पास एक 'असा'–डण्डा था, जिसे वे हमेशा अपने हाथ में रखते थे वह ज़मीन पर रखने से सर्प का रूप धारण कर शत्रु पर झपट पड़ता था। बहती नदी, झील आदि में डालने से पानी बीच में से फट जाता था, पार होने के लिए मार्ग बन जाता था। कहने का अर्थ यह है कि जादू-टोना इस्लाम में प्राचीन काल में भी देखा जाता है और हज़रत मूसा के जादुई चमत्कारों का उल्लेख कुरआन मजीद में अंकित है।

इस्लाम में जादू-टोना, यन्त्र-मन्त्र नाजायज़ है, इन्हें बुरा माना गया है, बल्कि 'शिर्क' ठहराया गया है। शिर्क यानी अल्लाह की ज़ात–अस्तित्व या सत्ता के समान दूसरे की ज़ात को स्वीकृति देना। पैगम्बर हज़रत मुहम्मद 'तावीज़' को पहनना अच्छा नहीं समझते थे। एक बार दस व्यक्ति उनके पास धर्म-दीक्षा के लिए आये तो उन्होंने नौ को दीक्षित कर दिया और उस एक को छोड़ दिया जो तावीज़ पहने था; तावीज़ के तोड़े जाने पर उसे दीक्षा दी। उन्होंने फरमाया जिसने तावीज़ लटकाया उसने 'शिर्क' किया। 'सुननि अबूदाऊद' के अनुसार रोग, बला, संकट को दूर करने के लिए तावीज़ का प्रयोग बिल्कुल वर्जित है, न कड़े-छल्ले पहनने की इजाज़त है; मगर आज तावीज़ कड़ा, छल्ला सब का प्रयोग किया जाता है। कुरआनी आयतें पढ़ कर फूंक मारने, दम करने की आज्ञा दी गयी है; लेकिन खाने-पीने की चीज़ पर फूंक मारना नाजायज़ माना है। चढ़ावा आदि को भी मान्यता नहीं दी। मुसलमानों में सिद्धों-नाथपंथियों के प्रभाव से जादू-टोना आ गया। सूफ़ी-साधना में यह देखने को मिलता है। पैर में रस्सी बाँध कर कुए में उलटे लटक कर इबादत करना सूफ़ियों में 'नमाज़े माक़ूसा' कहलाता है। चिश्तिया सम्प्रदाय में इसे मान्यता है।

अपने विद्यार्थी-जीवन का एक प्रसंग बताना चाहूँगा। एक दिन किसी व्यक्ति को साँप ने डस लिया था। हमारे एक अध्यापक थे ज़रग़ाम अब्बास। वे शिया-सम्प्रदाय के थे। वे साँप-के-काटे का विष उतारते थे। इसका हमने साक्षात् दर्शन किया। साँप द्वारा काटे व्यक्ति को मास्टरजी के पास लाया गया। बेचारा बड़ा ही हताश था, अर्द्धमूर्च्छित था। उसका कुर्ता उतरवाया गया। एक टब पानी से भरा गया, उस व्यक्ति को सामने खड़ा किया गया और मास्टरजी चुल्लू भर-भर पानी उस व्यक्ति के माथे पर मारने लगे, साथ में कुछ पढ़ते भी जाते थे। जब टब (नाँद) खाली होने वाला था तो उस व्यक्ति ने थूकना शुरू किया। थूक का रंग नीला था। दूसरा टब भरा गया और उसी प्रकार कुछ पढ़-पढ़ कर मास्टरजी छींटे मारते रहे। नीले रंग का थूक बराबर निकलता रहा – धीरे-धीरे थूक का रंग बदलने लगा और जब तक तीसरा टब खाली हुआ वह व्यक्ति स्वस्थ-सा हो गया, उसके थूक का रंग भी सफ़ेद हो गया। ज़हर पूरी तरह उतर गया।

ऐसे अनेक उदाहरण देखने-सुनने को मिले हैं कि किसी लड़की को 'जिन' लिपट गया है। मौलवी तावीज़ जलाते हैं और धीरे-धीरे उस जिन को वश में करते हैं। जिस लड़की या लड़के को जिन लिपटता है उसकी दशा बहुत ही कष्टमय देखी गयी है। वह भागती है, मूर्च्छित होती है, अनाप-शनाप बकती है; लेकिन तावीज़ों द्वारा उस 'जिन' को वश में कर लिया जाता है; ऐसा कितने ही व्यक्तियों के साथ हुआ है। कुरआन की सूराओं (अध्यायों) आयतों (वाक्यों) के आधार पर कुछ तावीज़ बनाये गये हैं। नीचे कुछ ऐसे तावीज़ों और उनके लाभ का विवरण देखिये–

١٣٨٥٣٤	١٣٨٥٣٠	١٣٨٥٣٣	١٣٨٥١٩
١٣٨٥٣٢	١٣٨٥٢٠	١٣٨٥٢٥	١٣٨٥٣١
١٣٨٥٢١	١٣٨٥٣٥	١٣٨٥٢٨	١٣٨٥٢٧
١٣٨٥٢٩	١٣٨٥٢٣	١٣٨٥٢٢	١٣٨٥٣٦

यह 'सूर:यूनुस' का तावीज़ है। इसे गले में डालने से व्यक्ति आसेब (भूत-प्रेत) से सुरक्षित रहेगा। बच्चे को बुरी नज़र न लगेगी; कठिन आपदा में १३ बार पढ़ने से आपदा दूर होगी।

۱۲۴۳۷۹	۱۲۴۳۸۲	۱۲۴۳۸۵	۱۲۴۳۷۱
۱۲۴۳۸۶	۱۲۴۳۷۲	۱۲۴۳۷۸	۱۲۴۳۸۳
۱۲۴۳۷۳	۱۲۴۳۸۷	۱۲۴۳۸۰	۱۲۴۲۷۷
۱۲۴۳۸۱	۱۲۴۳۷۴	۱۲۴۳۷۶	۱۲۴۳۸۴

यह दूसरा तावीज़ 'सूरःकहफ्' का है। इसे पढ़ने से ऋण-से-मुक्ति मिले, रोज़ी कुशादा (जीविका-वृद्धि) हो, गुनाह क्षमा हों। नीचे दिया नक्श 'सूरःयासीन' का है–

۴۴۲	۴۵۴	۴۴۰	۴۵۱	۴۴۴	۴۴۹
۴۴۳	۴۴۸	۴۳۵	۴۴۴	۴۳۵	۴۴۷
۴۴۰	۴۳۰	۴۴۳	۴۴۱	۴۳۱	۴۳۷
۴۳۴	۴۳۵	۴۳۹	۴۴۸	۴۳۳	۴۲۴
۴۴۲	۴۴۴	۴۴۴	۴۲۹	۴۲۳	۴۲۷
۴۵۳	۴۲۲	۴۵۵	۴۳۶	۴۳۱	۴۴۸

क़ुरआन शरीफ़ को देख कर 'फ़ाल (शकुन-निर्णय) निकालना' भी मुसलमानों में, विशेष कर शियावर्ग में अधिक प्रचलित है। एक व्यक्ति हैं श्रीनगर में, 'ख़ादिमुल-क़ौम' कहते हैं अपने-आपको। वह हाथ की कलाई पर कई बार ज़ोर से नोकदार छुरी-चाकू मारते हैं, छुरी को आँख के अन्दर दे कर उसे ऊपर उठाते हैं, लेकिन

ऐसा करने से व्यक्ति/रोगी पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। वह क़ुरआन खोल कर उसमें से शीघ्रता से सोना निकालते हैं, काग़ज़ जला कर उसे फिर पूर्ववत् कर देते हैं, वह ऐसे चमत्कार करते हैं अपने जादू से।

यदि किसी के दाँत में दर्द हो, दाढ़ चीसती हो तो उसके लिए क़ुरआन की एक आयत पढ़ी जाती है साथ में साफ़-पाक लकड़ी की तख़्ती पर, टुकड़े पर भुने हुई–जली हुई रेत या राख पर कुछ लिखा जाता है और उस लिखे हुए पर–एक-एक अक्षर पर कील रख कर क़ुरआन की आयत पढ़ी जाती है, जिस व्यक्ति के दाँत में दर्द होता है वह मुँह के अन्दर उसी दाँत पर आदेशानुसार उँगली रखता है। ५–७ बार की क्रिया से दर्द दूर हो जाता है। यह मन्त्र मुझे अभी तक याद है। बचपन में वालिद साहब ने बताया था और इसके द्वारा कितने ही लोगों को आराम मिल चुका है।

जादू-टोनों को झुठलाया नहीं जा सकता। मुसलमान, सूफी लोग चिल्लाकशी (चालीस दिन का व्रत) करते हैं, अमल का रात्रि में चालीस दिन तक जाप करते हैं, कभी आधी रात को नदी में खड़े हो कर अमल किया जाता है। अमल पूर्ण होने पर वह व्यक्ति 'आमिल' (जादू-टोना करने वाला) बन जाता है। □

शेख सादी की सूक्तियाँ

– जिस पौधे ने अभी जड़ पकड़ी है, उसे तो कोई भी आसानी से उखाड़ सकता है; यदि उसे छोड़ दिया जाए तो वह बहुत बड़ा पेड़ बन जाएगा और फिर उसे औज़ारों की मदद से भी उखाड़ना मुश्किल हो जाएगा।

–निकास पर नदी को केवल एक सलाई से रोका जा सकता है; किन्तु वही जब बढ़ कर फैलाव पा जाती है तब हाथी-की-पीठ पर सवार हो कर भी उसे पार करना कठिन है।

–क्या आपने यह बात नहीं सुनी, जो एक दुबले-पतले विद्वान् ने एक मोटे-ताजे मूर्ख से कभी कही थी? उसने कहा था – 'अरबी घोड़ा चाहे दुबला ही क्यों न हो, वह झुंड-के-झुंड गधों से कहीं अधिक उपयोगी होता है।'

–दुष्ट व्यक्ति को सुधारना ऐसा ही है जैसे गोल गुम्बद पर अखरोट को रोकने की कोशिश करना।

जन्तर-मन्तर : एक अनुचिन्तन

झाड़-फूंक, जन्तर-मन्तर, जादू-टोना, बलि, और टोटकों के इर्दगिर्द मिथ्या ज्ञान की आग धधकती रहती है, जो सभ्यता और शालीनता की दुनिया में एक कलंक है। ये सारे तर्क-के-पथ पर असफल रहे हैं आज तक। व्यक्ति इनसे अपना हित तो नहीं ही कर सका है, दूसरों का अहित करने की संकल्प-मुद्रा में वह अवश्य देखा गया है; किन्तु असलियत यह है कि वह उसमें भी असफल रहा है – कलई खुलने पर उसे कलंक-का-टीका स्वीकारना पड़ा है सो अलग। आप ही सोचें, जो दूसरों का अहित विचारेंगे, उनका अपना हित भला कैसे होगा ?

– सुरेश सरल

प्रकृति के प्रहारों से बचने के लिए आदिवासी, कहा जाता है, जन्तर-मन्तर की शरण में चले जाते थे। महामारी फैली हो गाँव में, कोई बच्चा कई महीनों से बीमार चल रहा हो, उसे सूखा हो गया हो, अथवा किसी स्त्री को क्षय रोग हो गया हो, या किसी को हिस्टीरिया, किसी व्यक्ति को मिर्गी आती हो, किसी को चक्कर आते हों, किसी का ब्लडप्रेसर बढ़ता-घटता हो, तो उचित ज्ञान एवं सही वैद्य/डॉक्टर के अभाव में वे इसे 'हवा' मान बैठते थे। उनकी बोली में तब कहा जाता था – कुछ 'भीतरी-बाहरी' है। इस भीतरी-बाहरी को/हवा को, दूर करने के लिए वे भोले-भाले लोग गाँव के ही किसी गुनिया/ओझा/गारुड़ी के पास जाते और उसकी कपोल-कल्पित गल्पों में आ कर उसके चक्कर काटते रहने पर विवश हो जाते थे। अपने सौभाग्य से रोगी बच गया तो गुनिया के जन्तर-मन्तर, टोना-टोटका 'जबरजस्त' प्रचार पा जाते और नहीं बचता तो रोगी के पारिवारिक लोगों को फतवा दिया जाता कि रोगी को देर से ले जाया गया था गुनिया की शरण में। दुःख को बात तो यह है कि सभ्य समाजों में भी पिछड़ी क़िस्म के ऐसे लोग मिल जाते हैं जो वस्त्रों-अलंकारों से तो प्रगतिशील दीखते हैं, पर अपने विचार/सोच को ले कर वे उतने ही पीछे हैं जितने हमारे अशिक्षित आदिवासी भाई।

यह जन्तर-मन्तर/टोना-टोटका है क्या? सहज भाषा में सरल उत्तर – मंत्रों के बल पर उलट-पुलट कर देने के तथाकथित प्रयास या विधि को जन्तर-मन्तर कहा जाता है। बीमार पुरुष/स्त्री बच्चे को मन्तर मारने का अर्थ है उसे झाड़-फूंक कर स्वस्थ करना। पर ऐसा होता कभी नहीं। जब गुनिया/ओझा अपने मन्त्रों से किसी को ४-६ माह में स्वस्थ नहीं कर पाता तब वह एक और हथकंडा अपनाता है – वह टोने-टोटके का सहारा ले कर एक रोगी/पीड़ित की व्याधि दूसरे पर उतार देने की सलाह देता है। ऐसे उपक्रमों से मूढ़ लोग प्रभावित होते हैं, पर विद्वान्-जन इसे अन्धविश्वास की संज्ञा देते हैं। मगर क्या कहा जाए उन नागरिकों को जो सुबह इक्कीसवीं सदी और कम्प्यूटर की बात करते हैं तो शाम को टोटके का प्रभाव समाप्त करने ओझाओं को खोजते फिरते हैं।

मुझे उन लोगों पर तरस आता है जो अपने-आपको आध्यात्मिक बतलाते हैं, परन्तु बाँह पर या गले में काला धागा और तावीज पहिने रहते हैं। तब लगा कि जहाँ धार्मिक विश्वास की कमी है, वहाँ यह जंतर-मंतर कूड़ा-कर्कट की तरह भरा पड़ा मिल जाता है। विश्वास और अन्धविश्वास में भारी अन्तर है; जो जन परस्पर विश्वासों में जीते/चलते हैं वे निर्मल बुद्धि के होते हैं; किन्तु जो अपनी हृदय-रूपी बामी में अन्धविश्वास का विषधर पाले हैं वे पूर्णरूपेण दिग्भ्रमित और झगड़ालू होते हैं। ऐसे ही व्यक्ति अक्सर हिंसा पर उतर आते हैं और बलि के नाम पर बकरे तक कटवा डालते हैं कुगुरु और कुदेवों की वेदी के समक्ष। झाड़-फूंक/जंतर-मंतर, जादू-टोना/बलि-टोटके के पार्श्व में मिथ्यात्व की आग धधकती रहती है जो सभ्यता और शालीनता की दुनिया में एक कलंक है। ये सब तर्क के पथ पर असफल रहे हैं आज तक। इनसे व्यक्ति अपना हित तो नहीं ही कर सका; दूसरों का अहित करने की रौ में अवश्य देखा गया है; पर वास्तविकता यह है कि वह उसमें भी असफल रहा है; कलई खुलने पर कलंक का टीका स्वीकारना पड़ा सो अलग। जो दूसरों का अहित विचारेंगे उनका हित भला कैसे होगा?

सामान्य मानसिकता वाले व्यक्ति टोटका मान्य कर रहे हैं, खुन्स तो तब हो आती है जब तपसी लोग भी वहाँ सम्मिलित मिल जाते हैं। उनकी धार्मिक शिक्षा-दीक्षा का तब क्या अर्थ रह जाता है? मैं ऐसे-ऐसे दिगम्बर साधुओं को जानता हूँ जो पुरुषों और महिलाओं की हस्त-रेखाएँ बाँचते थे और संभावित शुभाशुभ की कपोल-कल्पित घोषणाएँ करते थे। यह बात जुदा है कि जब वे अपनी इस हरकत से बाज नहीं आये तब उनके आचार्य द्वारा उन्हें संघ से निष्कासित कर दिया गया। अब वे सवस्त्र अन्यत्र रह रहे हैं।

जिन्होंने 'णमोकार' की गरिमा नहीं समझी वे हो तन्त्र-मन्त्र की दुनिया में भटकते मिलते हैं। कहें, जिन्हें अपने धर्म और अपनी चर्या पर विश्वास नहीं है, वे टोना-टोटका जंतर-मंतर और मिथ्यात्व पर विश्वास कर बैठते हैं।

कुछ सज्जन राजनीति में इच्छित महत्त्व न पाने की स्थिति में जन्तर-मन्तर के व्यूह में धँस जाते हैं, तो कुछ गृह-कलह के निवारण के लिए गले में तावीज धारण करते हैं। भूत-बलाय से मुक्ति पाने के लिए प्रचलित झाड़-फूंक/जन्तर-मन्तर/टोना-टोटका/गंडा-तावीज़ देख-देख आँखें पथरा गयीं, पर कोई इन क्रियाओं से नजात न दिला सका, क्योंकि जो जन भूत-बलाय पर विश्वास करते हैं वे ही तो जन्तर-मन्तर से चिपके पाये जाते हैं। ज़रूरत है लोगों के ग़लत विश्वासों को चकनाचूर कर डालने की; पर यह करे कौन? जो भूत-बलाय पर विश्वास नहीं करते, वे भी उससे डरते हैं; जो नहीं डरते, उन्हें उनके विरुद्ध कुछ करने/कहने का वक्त नहीं है।

कोर्ट-कचहरी में सफलता पाने या पराई स्त्री को वश में करने या अपने ही मर्द को वश में करने या पुत्र को रोग-राई से मुक्त करने जो जन ओझा/-गुनिया/गारुड़ी से तावीज़ या गंडा प्राप्त करते हैं, वे अत्यधिक मूर्ख और पिछड़े हुए होते हैं। ऐसे लोगों से सद् पुरुष/शिक्षित पुरुष घृणा न करें, न क्रोध करें, बल्कि उन्हें अन्धविश्वास की कारा से उबारने का कोई ठोस प्रयत्न करें तो बात बने। ऐसे स्त्री-पुरुष भी हैं जो शादी के बीस वर्ष बाद तक सन्तान-सुख न देख सके, इस बीच चोरी-छुपे उन्होंने वह सब किया जो मूढ़ जन करते हैं और अन्त में थक कर शान्त हो जाते हैं। पुत्र का मुँह देखने की लालसा में वे धीरे-धीरे इतने गिर गये कि खुद का मुंह दिखाने लायक न रह गये। बाद में महामारी के जाल में फँस गये। स्त्री को टी. बी. हो गया, या पुरुष को सिफलिस। जन्तर-मन्तर/टोने-टोटके से कार्य सिद्धि/सफलता चाहने वाले कभी सफल नहीं होते।

टोना-टोटका दूसरों की राह में कंटक बिछा देने जैसा तुच्छ कार्य है; जिसके करने से दूसरों को भले ही नुकसान न हो, पर बिछाने वाले के हाथ लहू-लुहान अवश्य होते देखे गये हैं।

दीवाली की रात, श्मशान की शान्ति में जन्तर-मन्तर सिद्ध करने वालों की चर्चा किसी-न-किसी गाँव/घाट पर सुनने अवश्य मिलती रही है; पर उनकी सिद्धि से कोई अच्छे/शुभ कार्य संपन्न होते नहीं देखे जा सके हैं। मन्त्रों के प्रहार से किसी को भयग्रस्त कर देना, या किसी के प्राण हर लेना सुनने में तो आता रहा है, पर विश्वास आज भी नहीं होता।

अपने बीमार शिशु की स्वास्थ्य-रक्षा के लिए पड़ोसी के स्वस्थ शिशु पर टोटका करना भी चर्चा में आता रहा है। बुंदेलखण्ड में टोटके का मंत्र जो हो; सामग्री अक्सर यह देखने मिली है – लाल मिर्च, नींबू, नीला धागा, तावीज़, नारियल, मिट्टी का दीया, कोरा सफेद कपड़ा, आटे का चौक (मंडल), जूठी खाद्य सामग्री, गुलगुले या जलेबी आदि। उक्त में से कोई पाँच वस्तुएँ एक साथ रखी जाती हैं। अन्धविश्वासी लोग भले यह मान लें कि टोटका करने से उनका बीमार बच्चा ठीक हो पड़ेगा और उसका रोग पड़ोसी के बच्चे पर चला जाएगा पर ऐसा होता नहीं है; न धर्म में, न विज्ञान में।

कुछ लोग अपने शत्रु को समाप्त करने के लिए टोटका या 'मूठ' का उपयोग करते हैं। गोंडवाने में यह उपक्रम होता रहा है। हरे बाँस की बनी दौरिया (एक क़िस्म की टोकनी) में जलता हुआ मिट्टी का दीप, धारदार हँसिया, काला कपड़ा, उड़द के दाने आदि रख कर उसे मन्त्रों के द्वारा आकाश में उड़ाया जाता था। इस दीपक-सहित उड़ती हुई वस्तु को 'मूठ' कहा जाता था। इसे बड़ा शक्तिशाली और अचूक माना जाता था। हज़ारों मील दूर छिपे दुश्मन का सिर काट

कर ही 'मूठ' वापिस होती थी (लगा न आश्चर्यजनक!!)। गुनिया बतलाते हैं कि शत्रु सात तालों के भीतर छिपा हो तो भी नहीं बच पाता था – मूठ के प्रयोग से। कोई मूठ चला कर प्राण ले सकता है तो सीमा पर लड़ रहे शत्रु पर प्रयोग करके बतलाये; तभी यह सत्य मैं स्वीकार कर सकूँगा।

पिछड़ी जातियों के असभ्य और अशिक्षित लोगों में टोना-टोटका/जन्तर-मन्तर का चमत्कार जीवित ज़रूर है; पर धीरे-धीरे वे भी सत्य को जान लेंगे। आवश्यकता है उनमें उनकी नयी पीढ़ियों में ज्ञान और विज्ञान की किरणों के संचार की। ज्यों-ज्यों व्यक्ति पढ़-लिख कर योग्य बनते जाएँगे, जन्तर-मन्तर-जैसी क्रियाओं का चलन समाप्त होता जाएगा। यह उक्ति सत्य भी है; क्योंकि ५० वर्ष पहले 'बंगाल-का-काला-जादू' दैवी शक्ति का चमत्कार माना जाता था, वही अब – मानव के शिक्षित होने के बाद – 'हाथ-की-सफाई' कहलाने लगा; अतः वह दिन दूर नहीं जब टोटके आदि का भ्रम-जाल छिन्न-भिन्न हो जाएगा और ज्ञान का झण्डा हर दिल में फहराता मिलेगा। □□

'तीर्थंकर' के संबन्ध में तथ्य-संबन्धी घोषणा

प्रकाशन-स्थान	**६५ पत्रकार कॉलोनी** **कनाड़िया रोड, इन्दौर ४५२ ००१ (म. प्र.)**
प्रकाशन-अवधि	**मासिक**
मुद्रक-प्रकाशक	**प्रेमचन्द जैन**
राष्ट्रीयता	**भारतीय**
पता	**६५, पत्रकार कॉलोनी** **कनाड़िया रोड, इन्दौर ४५२ ००१ (म. प्र.)**
संपादक	**डॉ. नेमीचन्द जैन**
राष्ट्रीयता	**भारतीय**
पता	**६५, पत्रकार कॉलोनी** **कनाड़िया रोड, इन्दौर ४५२ ००१ (म. प्र.)**
स्वामित्व	**हीरा-भैया-प्रकाशन** **६५, पत्रकार कॉलोनी** **कनाड़िया रोड, इन्दौर ४५२ ००१ (म. प्र.)**

मैं, प्रेमचन्द जैन, एतद् द्वारा घोषित करता हूँ कि मेरी अधिकतम जानकारी एवं विश्वास के अनुसार उपर्युक्त विवरण सत्य है।

प्रेमचन्द जैन
प्रकाशक

२५-२-१९८७

जंतर-मंतर : लग गया तो तीर, नहीं तो तुक्का

···शक्ति होती है आत्मा की । जो स्वयं पर विश्वास नहीं कर सकता, वही जंतर-मंतर की शरण लेता है । धागा, तावीज़, अँगूठी पहन कर अपने को सुरक्षित रखने का जो प्रयास करता है, वह कायर है; पर खेद है : जैनधर्म आज कायरों-का-धर्म हो कर रह गया है । महावीर का सच्चा अनुयायी तो मुझे कोई दीखता ही नहीं है ।

सम्पादकजी,

नहीं जानता आपने क्या समझ कर 'तीर्थंकर' के अक्टूबर अंक के आवरण-पृष्ठ पर तीन बन्दरों की छवि छाप डाली । मुझे लगता है 'तीन बन्दरों वाली' स्थिति ही हमारे समाज की है ।

कई लोग मुझसे पूछ बैठते हैं तुम तो समाज में जागृति लाने को बहुत कुछ लिखते हो, क्या परिणाम हुआ उसका ? संपादकजी, निराशावादी नहीं हूँ । मुझे विश्वास है कि आज नहीं तो कल, कल नहीं तो दस साल बाद समाज को करवट बदलनी पड़ेगी । पर···आज तो समाज की हालत उन बहरे-अन्धे-गूंगे बन्दरों सी-ही है । हमने अपनी आँखों और कानों को बन्द कर रखा है । जब बन्द कर रखा है इन्हें, तब बोलने का तो प्रश्न ही कहाँ ?

कुछ मित्रों के आग्रह पर मैं गणधर गौतम स्वामी के २५००वें निर्वाणोत्सव पर पावापुरी गया था । दीपावली का अवसर था और भगवान् महावीर के जल-मन्दिर में निर्वाण के लड्डू चढ़ाये जा रहे थे । बोलियाँ बोली जा रही थीं – ऐसा अवसर फिर नहीं आयेगा साहब, आगे बढ़िये···तीन हज़ार एक···। जो बेचारे समस्त रात्रि जाग कर माला फेरते रहे उन्हें हटाया जा रहा था ताकि प्रबन्धकों के आत्मीय परिजन एवं श्रीमन्तों को आगे सुरक्षापूर्वक लाया जा सके। आक्रोश की आवाज़ें उठ रही थीं और मैं जल-मन्दिर के बहिर्प्रांगण में खड़ा-खड़ा यह सब तमाशा देख रहा था और सोच रहा था कि इन सब में धर्म कहाँ है ?

निर्वाण-के-लड्डू चढ़ाना अपने-आप-में कोई धर्म नहीं हो सकता और न ही इससे निर्वाण-की-प्राप्ति हो सकती है । यह तो है एक परम्परा । परम्परा कभी धर्म हो नहीं सकती । विशेषतः निवृत्तिवादी धर्म तो परम्परा को मानता ही नहीं । उसके पास तो धर्म की स्वतन्त्र परिभाषा है; उस पर उसका निजी चिन्तन-मनन है । उसका 'धर्म' परम्पराओं में क़ैद नहीं है। भगवान् महावीर क्या परम्पराओं से बद्ध थे ? नहीं। वे तो थे क्रान्तिकारी । और उन्हीं के अनुयायी हम हैं विभिन्न परम्पराओं में बद्ध : बस आँख-कान बन्द कर एक मृतक का जीवन जी रहे हैं ।

टोना-टोटका, जंतर-मंतर इसी मृतक जीवन का लक्षण है । जब हम आत्म-विश्वास खो देते हैं, स्वावलम्बन गँवा कर पराश्रयी बन जाते हैं, तभी टोना-टोटका, जंतर-मंतर हम पर हावी हो जाते हैं और प्रारम्भ हो जाती है सुदेव-सुगुरु को भूल कर कुदेव-कुगुरु की आराधना। आज हमारे यहाँ तीर्थंकर भगवान् का उतना बोलबाला नहीं है, जितना ज्वालामालिनी, चक्रेश्वरी, पद्मावती, भोमिया, भैरों आदि का है । आप शिखरजी जाएँ या नाकोड़ा जी। तीर्थंकरों के मूल गम्भारे में तो दीए टिमटिमाते हैं, सभा-मण्डप में दिखायी पड़ेंगे कुछेक ही; किन्तु क्षेत्रपालों का मन्दिर जगमगाता रहेगा, रोशनियों से, भरा रहेगा भक्तों की भीड़ से । कहाँ से आये आत्म-प्रधान जैनधर्म में ये देवी-देवता ? ये आये हैं हिन्दू धर्म से । पूजन, महापूजन माँडता, आँगी, धुन सभी तो आये हैं हिन्दू धर्म से ही। एक ओर हम कहते हैं हिन्दुओं के देव कुदेव हैं, गुरु कुगुरु हैं सराग हैं । मैं पूछता हूँ आप जिन देवी-देवताओं की आराधना करते हैं वे कौन से वीतराग हैं ? मुझे तो लगता है हमारे क्षेत्रपालों का-सा बोलबाला तो हिन्दू धर्म में भी क्षेत्रपालों का नहीं है । कितना आश्चर्य है !!

हमारे सुगुरु कुगुरु कैसे बने ? इसके लिए हम ही हैं उत्तरदायी । हम उनके पास इसलिए नहीं जाते कि वे हमें मोक्ष-मार्ग दिखायें बल्कि इसलिए जाते हैं कि हमारा सिरदर्द मिट जाए, बुखार उतर जाए, तिजोरी धन से भर जाए, पुत्र की प्राप्ति हो जाए; तभी तो हमारे साधु-समाज का एक वर्ग जो कभी 'यति' कहलाता था; डोरा-तावीज, दवा-पानी, जन्तर-मन्तर, झाड़-फूँक का प्रयोग करता-कराता पाँच महाव्रत तो दूर किसी एक व्रत का धारी भी नहीं रहा । साधु-समाज की स्थिति कम दयनीय नहीं है। वह भी किसी एक देवी की आराधना कर, सिद्धि प्राप्त कर लेता है और श्रावकों की तिजोरी वर्द्धित करने का उपाय बताता रहता है ।

इस प्रकार चल निकलती है उनकी दुकानदारी। बात बड़ी कटुक है, पर सत्य भी है । हम उन्हों के पीछे दौड़ते हैं जिनके पास चमत्कार है : आत्म-साधक के पास कोई नहीं दौड़ता ।

टोना-टोटका यह सब है क्या ? कुछ सार नहीं है इसमें । है केवल बुराई, तीर लग गया तो तीर नहीं तो तुक्का ।

एक सच्ची घटना आपको सुना रहा हूँ संपादकजी, जो कि संबन्धित है मेरे एक बंगाली मित्र से । उनके एक तांत्रिक अवधूत मित्र थे । एक दिन ऑफिस में आये और बोले ग्रह-शान्ति करने के लिए एक मारवाड़ी के घर जा रहा था। राह में पड़ा तुम्हारा ऑफिस । सोचा, तुमसे मिलता चलूँ । बंगालियों के यहाँ तो कुछ मिलता-मिलाता नहीं । ये लोग जानते हो कितना देते हैं ? दो टीन देशी घी, एक बोरा गेहूँ, बीस जोड़ा धोती और दक्षिणा भी कुछ मोटी ही मिलेगी; किन्तु अजित

(शेष पृष्ठ १९९ पर)

कृत्यात्मक कलाओं पर विचारोत्तेजक संगोष्ठी[1]

आलोच्य प्रकाशन 'नेशनल सेंटर फॉर द परफॉर्मिंग आर्ट्स' के तत्त्वावधान में अप्रैल १९८६ में आयोजित संगोष्ठी 'जैन कल्चर एंड परफॉर्मिंग आर्ट्स' में प्रस्तुत ५ शोधपत्रों का एक उत्कृष्ट संकलन है। कहा गया है कि जैन साहित्य विशाल और विपुल है तथा लगभग ढाई हज़ार वर्षों से लगातार ८-९ भाषाओं में भारतीय जीवन-मूल्यों से संबन्धित सामग्री को पेश करता आ रहा है। उसमें कृत्यात्मक कलाओं पर भी प्रचुर सामग्री है ऐसी सामग्री जो लोक-जीवन से जुड़ी हुई है और यथार्थ से बिम्ब-प्रतिबिम्ब है। संकलित शोधलेखों में परम्परित श्रव्य-दृश्य साधनों द्वारा प्रस्तुत कृत्यात्मक कलाओं, नाट्य कृतियों, गीत-संगीत आदि से संबन्धित वृत्तान्तों, तथा जैन सौंदर्य अवधारणा को अनुसंधान के स्तर पर सामने रखा गया है। उन लोगों के लिए संभवतया यह सुखद आश्चर्य का विषय होगा जो जैन धर्म/दर्शन को मात्र वीतरागपरक मानते हैं और यह नहीं जानते कि कृत्यात्मक कलाओं (परफॉर्मिंग आर्ट्स) का अध्यात्म के क्षेत्र में भी व्यापक उपयोग हुआ है/हो सकता है। हमें श्री कीर्तिलाल डोशी का वैयक्तिक आभार मानना चाहिये जिन्होंने इसे चक्रटंकित शक्ल में उपलब्ध कराया है। आशा की जानी चाहिये कि ये पाँचों शोधलेख जल्दी ही सुसंपादित रूपाकार में पुस्तक का रूप ग्रहण कर लेंगे।

निष्कर्ष : अमल में आयें; आम आदमी के द्वार तक पहुँचें[2]

विगत दो दशकों में जैनविद्या पर कई संगोष्ठियाँ हुई हैं; किन्तु समीक्ष्य संगोष्ठी की शख्सियत उन सबसे अलग और निराली है। इसकी कुछ विशेषताएँ हैं–१/ इसमें जैनविद्या के मूर्द्धन्य विद्वान् सम्मिलित हुए और यह अखिल भारतीय स्तर पर संपन्न हुई; २/ इसमें पर्यावरण-जैसी ज्वलन्त समस्या पर धार्मिक दृष्टिकोण को पूरी निष्ठा और ईमानदारी के साथ पेश करने का प्रयत्न किया गया; ३/ यह मध्ययुग (७००-१५०० ई.) से संबन्धित थी; ४/ इसमें विचारोत्तेजक सामग्री प्रस्तुत

१. जैन कल्चर एंड परफॉर्मिंग आर्ट्स ('नेशनल सेंटर फॉर द परफॉर्मिंग आर्ट्स' द्वारा अप्रैल १९८६ में आयोजित संगोष्ठी में प्रस्तुत शोधपत्रों का संकलन); संकलयिता–कीर्तिलाल डोशी, श्रेणुज एंड कं., धरम पेलेस, एन.एम. पटकर मार्ग, बम्बई-४०० ००७; १९८६.

२. जैन विद्या स्मारिका (जैनविद्या एवं प्राकृत विभाग; सामाजिक विज्ञान एवं मानविकी महाविद्यालय, सुखाड़िया विश्वविद्यालय, उदयपुर द्वारा जनवरी १९८७ में आयोजित संगोष्ठी में प्रस्तुत शोधलेखों का सार-संलकन); एम. आर. मिंडा चेरिटेबल ट्रस्ट, १३२, बड़ा बाज़ार, उदयपुर-३१३ ००१; १९८७.

हुई और ऐसी संभावनाएँ सामने आयीं जिन्हें, यदि चाहा गया तो, अमल में लाया जा सकता है प्रश्न सातत्य के लिए आरंभिक उत्साह को बनाये रखने का है; ५/ अहिंसा की शक्ति को एक नया आयाम देने का अभिनव अनुष्ठान हुआ ।

संगोष्ठी में पढ़े गये ४२ शोधलेखों का सार समीक्ष्य संकलन में प्रकाशित हुआ है। संगोष्ठी परिणामोन्मुख लगती है, अत: आशा की जानी चाहिये कि संगोष्ठी-संयोजक मीडिया का भरपूर उपयोग करेंगे और प्राप्त निष्कर्षों को आम आदमी के दरवाजे तक ले जाने की कोशिश करेंगे । हमें विश्वास है जिन लेखों के सार-संक्षेप स्मारिका में छापे गये हैं उन्हें, तथा जो सम्मिलित होने से बच रहे हैं उन्हें, जल्दी ही पुस्तकाकार प्रकाशित किया जाएगा ताकि अभिव्यक्त विचारों को राष्ट्रीय स्तर पर मूल्यांकन का अवसर प्राप्त हो । यह भी शक्य है कि कुछ लेखों को (मसलन; डॉ. रामजीसिंह, भागलपुर/पृ., ३१-३२) मोनोग्राफ्स की शक्ल में भी प्रकाशित किया जाए। बहरहाल यह तय है कि संगोष्ठी उपयोगी थी और उसके आयोजक सार्वजनिक साधुवाद के अधिकारी हैं ।

मुकुट काँटों का, मुकुट मुस्कराहट का[3]

समीक्ष्य लघुपुस्तिकाएँ वाणिज्य के एक प्राध्यापक के क्रमशः देशाटन (१९८५) तथा नगराटन (१९८६) के विचारोत्तेजक यात्रा-वृत्तान्त हैं, जिन्हें कहने को वृत्तान्त कह दिया गया है, किन्तु असल में वे देश या नगर दर्शन के साथ ही आत्मदर्शन भी हैं । इनके हर्फ-हर्फ में एक प्राध्यापक अकेले में अपने छात्रों के साथ बिम्ब-प्रतिबिम्ब खड़ा हो सका है (वैसे आज के अध्यापक ने इस तरह खड़े होने का सामर्थ्य और साहस खो दिया है और उसका व्यक्तित्व निपट व्यापारिक/औपचारिक रह गया है)। प्रश्न है : क्या कोई प्राध्यापक एकान्त में भी अपने छात्रों के साथ बना रह सकता है; उसके व्यक्तित्व से संवादरत हो सकता है और क्या एक छात्र जीवन-भर किसी अध्यापक को अपने परिपार्श्व में खड़ी रोशनी की तरह महसूस कर सकता है? ऐसी कई चुनौतियाँ हैं, जो मन्त्र-सी लघु इन पुस्तिकाओं में अलथी-पलथी मारे बैठी हैं– बैठ गयी हैं । पूरे दक्षिण पर से गुज़रते हुए लेखक ने काव्य और यथार्थ की संधियों में कई ज्वलन्त समस्याएँ सामने रख दी हैं; संभव है कृतियों के लाघव के कारण पाठकों का ध्यान उन पर न जाए; किन्तु ऐसा होने से उसकी गुणवत्ता, प्रहारकता, और अस्मिता पर कोई असर नहीं पड़ता । ध्यान से देखने पर अहसास होता है कि लेखक की संवेदनशीलता इतनी तीव्र और प्रखर है कि कहीं-कहीं शब्द भी उसे ठीक से झेल नहीं पाये हैं । दोनों पुस्तिकाओं की

३. शिलाओं पर संदेश; विक्रमकुमार; ६५ पत्रकार कालोनी, इन्दौर-४५२ ००१; मूल्य दो रुपये; पृष्ठ १२; १९८५; बूँद-बूँद बादल; वही; मूल्य एक रुपया; १९८६.

अपनी-अपनी विशिष्टताएँ हैं, जिन्हें इतनी कम जगह में कह पाना संभव नहीं है। कई वाक्य तो ऐसे हैं जो जेहन पर लगातार झंकृत रहते हैं ; यथा–'पराई पीर जानने वालों को नहीं होती घावों की परवाह', 'शाम उतर रही थी घाटी से, रात चढ़ रही थी घाटे पर', 'वह प्राध्यापक कुछ इस क़िस्म के निगेटिव्ह् बना रहा है', 'मुकुट काँटों का, मुकुट मुस्कराहट का भी', 'असहयोग इस युग का सबसे बड़ा मन्त्रयोग है', 'शिक्षा क्या होटलों से पटी कालोनी। होटल बैरा के पद पर वह प्राध्यापक।'

इस तरह उक्त दो पुस्तिकाओं को देख कर प्राचीन काल में प्राकृत की ८-८/१०-१० पन्नों की हस्तलिखित पोथियों की याद आ जाती है, जो अपनी प्रस्तुति में कलात्मक होती थीं और सामग्री में विपुल।

हमें विश्वास है : लेखक पूरा देश घूमेगा और इस तरह के लघुयात्रा-वृत्तान्त पेश करेगा। हम वस्तुतः इन पुस्तिकाओं को बिहारी-के-दोहों की तरह संक्षिप्त, किन्तु सारभूत; या पाणिनी के व्याकरण-सूत्रों की तरह कम-से-कम शब्दों में अधिकतम अर्थवान् अर्थात् गागर में महासागर समेटे पाते हैं।

साधनों के आपराधिक अपव्यय का दस्तावेज[४]

दो संगोष्ठी-संकलनों की चर्चा करते हुए हमारा ध्यान बरबस एक ऐसी 'संस्मारिका' पर चला गया है, जिसके प्रकाशन में आयोजकों ने विज्ञापन-प्रकाशन के उन्माद में विचार को गौण कर दिया है। आलोच्य संस्मारिका में कुल २६८ पृष्ठ हैं (एक चौथाई आर्ट) जिनमें-से सिर्फ ८ पृष्ठों में पठनीय सामग्री दी गयी है। सर्वविदित है कि ऐसे मौकों पर कोई विज्ञापन-दाता व्यापारिक या वाणिज्यिक लाभ के लिए विज्ञापन नहीं देता है वरन् वह यह सब एक धार्मिक कर्तव्य के रूप में करता है–यदि ऐसा है तो उनसे 'स्थानदान' ही लिया जाना था, विज्ञापन को तो एक बहाना-मानना था; किन्तु इसके विपरीत सिर्फ अर्थ-संचय के लिए संस्मारिका-के-आयोजकों ने सर्वोत्कृष्ट साधनों का उद्देश्यहीन इस्तेमाल किया है। अच्छा होता यदि वे विज्ञापनों को एक-चौथाई पृष्ठों में सीमित कर लेते और भारतीय संस्कृति अथवा श्रमण संस्कृति अथवा जैन धर्म और दर्शन पर विशेष पठनीय सामग्री उपलब्ध

४. स्वागत-संस्मारिका (श्री १००८ श्रीमज्जिनेन्द्र पंचकल्याणक प्रतिष्ठा एवं गजरथ महोत्सव, मई १९८६); महावीर जैन यूथ क्लब, हैदराबाद; कुल पृष्ठ २६८ सामग्री-पृष्ठ ८, विज्ञापन-पृष्ठ २६०; क्राउन/१९८६.

कराते; किन्तु कोई भी क्या करे? आज हमारी उत्सव-प्रियता ने इतना सस्ता और खतरनाक मोड़ ले लिया है कि हम आँखों-पर-पट्टी-बाँधे अपने साधनों का नितान्त विवेकशून्य उपयोग करते जा रहे हैं। वस्तुतः यदि पंचकल्याणकों और गजरथ-महोत्सवों का स्वरूप इस क़दर निकम्मा और अर्थहीन हो गया है तो हमें चाहिये कि पूरी तरह से बर्बाद होने से पहले हम इनसे अपना पिंड छुड़ा लें। हम आश्चर्य चकित इसलिए भी हैं कि यह संस्मारिका उन महानुभावों द्वारा आयोजित है जिनका संबन्ध सीधे या टेढ़े गुरुकुल-शिक्षण-पद्धति से है। जहाँ तक हमारी जानकारी है, गुरुकुलों का अर्थ एक ऐसी जीवन-दृष्टि प्रदान करना है जो न्यूनतम साधनों के भरपूर सार्थक उपयोग द्वारा अधिकतम उपलब्ध कराती है/करा सकती है। हमें विश्वास है भविष्य में इस तरह की आपराधिक फिजूलखर्जी दोहरायी नहीं जाएगी और इस तरह का अनर्थ जहाँ भी होगा समाज उसकी भर्त्सना करेगा।

—नेमीचन्द जैन

(पृष्ठ १९४ का शेष)

इन सब में है कुछ भी नहीं। सब झूठ है। मेरे मित्र यह सुनते ही क्रोध से उबल पड़े। बोले – तब तुम यह सब यह सब, क्यों करते हो? तांत्रिक ने कहा – पैसों के लिए। अजित बाबू ने कहा – तब तो तुम इस प्रकार पाखण्ड फैला कर शास्त्रों की अवमानना कर रहे हो। मन करता है लात मार कर तुम्हें रास्ते पर गिरा दूँ। बात ने बढ़ते-बढ़ते महाभारत का रूप ले लिया; अन्ततः हाथ के त्रिशूल को जमीन पर ठोंकते हुए उस तांत्रिक ने कहा – अच्छा, मैं तुम्हें देख लूँगा।

कुछ ही दिन बीते होंगे कि अजित बाबू के एक परिचित उनके घर पहुँचे। उन्हें देखते ही बोले – अरे, आप अभी तक जीवित हैं अजित बाबू? वह अवधूत तो आपको मारने के लिए एक यज्ञ कर रहा है। अजित बाबू बोले – मैं इन पाखण्डियों के मारण-यज्ञ से मरने वाला नहीं हूँ ...। अजित बाबू आज भी ज़िन्दा हैं। सही सलामत हैं।

संपादकजी, शक्ति होती है आत्मा की। जो स्वयं पर विश्वास नहीं कर सकता वही जंतर-मंतर का आश्रय लेता है। धागा, तावीज, अँगूठी पहन कर अपने को सुरक्षित रखने का जो प्रयास करता है वह कायर है। पर खेद है जैनधर्म आज कायरों का धर्म हो कर रह गया है। महावीर का सच्चा अनुयायी तो मुझे कोई दीखता ही नहीं

—गणेश ललवानी

With Best Compliments From :

SUREKA ENTERPRISES

P--16 Bentick Street,
CALCUTTA - 700 069

With Best Compliments from :

EASTERN PLASTICS
&
PACKAGING INDUSTRIES

9, Gurusaday Road.
CALCUTTA - 700 019

पत्र : आचार्य तुलसी

'साधुवाद' के लिए साधुवाद

जनवरी १९८७ का 'तीर्थंकर' देखा। उसका संपादकीय पढ़ा। वह मन को छू गया। उसकी ठोस सुझावात्मक शैली निर्भीक पत्रकारिता का सूचक है। उसमें कहीं अतिवाद की झलक भी हो सकती है, फिर भी यह तो निर्विवाद है कि 'तीर्थंकर' एक ऐसा पत्र है, जो निरन्तर धाराप्रवाह रूप में समकालीन विसंगतियों की सही-सही समीक्षा कर रहा है। इसके लिए 'तीर्थंकर' के संपादक साधुवाद के पात्र हैं।

कोई भी क्षेत्र हो, धार्मिक, सामाजिक या राजनैतिक उसकी मीमांसा करना और उसमें उचित सुधार का परामर्श देना एक बार पाठक को आन्दोलित कर देता है, पर इससे बीमारी का सही उपचार नहीं हो सकता। हमारे समाज की जैसी स्थिति है, उसमें विचारों के उत्तेजन मात्र से न तो कोई क्रान्ति घटित हो सकती है और न ही किसी बड़े परिणाम की संभावना की जा सकती है। इसके लिए चिन्तन की ज़मीन को उपजाऊ बना कर उसमें सकारात्मक दृष्टि के बीज बोने की अपेक्षा है।

किसी भी प्रसंग पर विचार करने के दो तरीक हैं – सकारात्मक और नकारात्मक। जहाँ ग़लत मूल्यों को मान्य करने का प्रश्न हो, वहाँ नकारात्मक दृष्टिकोण का अपना महत्त्व है। अस्वीकार की शक्ति ही व्यक्ति को प्रवाहपतिता में जाने से रोक सकती है; किन्तु इसके द्वारा कोई सृजनात्मक उपलब्धि नहीं हो सकती। सृजनधर्मिता को विकसित करने के लिए सकारात्मक ढंग से देखने और सोचने की ज़रूरत है। मेरा निजी अनुभव है कि सकारात्मक नज़रिया व्यक्ति, समाज और राष्ट्र में नयी चेतना भर सकता है।

सम्पादक महोदय ने जो कुछ लिखा है, किसी सम्प्रदाय विशेष को लक्षित करके लिखा है, ऐसा प्रतीत नहीं होता। वास्तव में पत्रकार किसी सम्प्रदाय के होते भी नहीं हैं। उन्होंने जैन साधु-संस्थाओं में प्रवेश पा रहीं अथवा पनप रहीं विकृतियों की ओर अंगुलि-निर्देश करके जागरूक वफ़ादारी का परिचय दिया है। उनके विचारों को पढ़ कर जो प्रतिक्रियाएँ उभरीं, उन्हें यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है–

परिवर्तन का जहाँ तक सवाल है, सवा दो सौ वर्षों की अवधि में तेरापंथ में जितने भी परिवर्तन-संशोधन हुए हैं, मर्यादाओं की मौलिकता को अक्षुण्ण रख कर ही हुए हैं। कोई साधु-साध्वी तो क्या, आचार्य भी अपनी मानसिकता या सुविधा के आधार पर प्राचीन मर्यादा को छोड़ कर नयी परम्परा स्थापित नहीं कर सकते। शास्त्रीय मर्यादाएँ ही तो वे शलाकाएँ हैं, जिनके आधार पर साधुता का मापन किया जा सकता है।

तेरापंथ में किसी नये परिवर्तन की गुंजाइश नहीं है, या यहाँ किसी प्रकार का प्रमाद नहीं होता है, ऐसा मिथ्या अहं कतई वांछनीय नहीं होगा। हमारे दृष्टिकोण में न तो कोई पूर्वग्रह है और न ही है किसी प्रकार की निराशा। जहाँ कहीं हमें परिवर्तन की अपेक्षा अनुभव होती है, गंभीर चिन्तन के साथ हम एक निर्णय पर पहुँच जाते हैं। वह निर्णय पूरे धर्मसंघ पर लागू हो जाता है। एक आचार्य का नेतृत्व होने के कारण संघ को एकरूपता देना और एक-सूत्रता में बाँध कर रखना हमारे लिए सहज संभव है।

दीक्षा को ले कर तेरापंथ में कोई समस्या नहीं है। पारमार्थिक शिक्षण संस्था के अस्तित्व में आने के बाद तो शिक्षा एवं साधना-संबन्धी परिपक्वता की बात भी सहज फलित हो गयी। दीक्षा की जैसी संतुलित, व्यवस्थित और प्रायोगिक पद्धति हमारे यहाँ प्रचलित है, उससे मुझे पूरा सन्तोष है। युगीन परिस्थितियों को देखते हुए हमने दीक्षा के क्षेत्र में एक नया प्रयोग किया। यह प्रयोग है 'समणश्रेणी'। इस श्रेणी में दीक्षित 'समण-समणियों' की क्षमता एवं उपयोगिता ने अच्छे-अच्छे विद्वानों को प्रभावित किया है।

धर्म को बुद्धिजीवियों से जोड़ने के लिए हमने धर्म को नये सन्दर्भों में व्याख्यायित किया। अणुव्रत इसका स्पष्ट निदर्शन है। इसके द्वारा धार्मिकों को सही अर्थ में धार्मिक बनाने अथवा इन्सान को सच्चा इन्सान बनाने का हमारा कार्यक्रम लोकप्रिय ही नहीं, काफी प्रभावी बना है।

धर्म और राजनीति के संबन्ध में भी हमारा चिन्तन बहुत साफ है। राजनीति के लोग धर्म के मंच से जुड़ें ही नहीं, इस अलगाव की नीति से मैं सहमत नहीं हूँ। वे लोग भी धर्मगुरुओं के पास आ कर नीति एवं चरित्र की सीख लें तो इसमें किसे आपत्ति हो सकती है? धार्मिक आयोजन की सफलता उनके आने से ही हो, यह मानना दृष्टिकोण का मिथ्यात्व है। हमें धर्म में राजनीति को नहीं घुसने देना है, पर धर्म के द्वारा राजनीति के चरित्र को निर्मल बनाने का प्रयत्न अवश्य करना है।

बौद्धिक लोगों के साथ सम्पर्क-सूत्र जोड़ने के साथ ही हमने अपने साधु-साध्वियों को दर्शन और विज्ञान के आधुनिकतम अध्ययन के लिए प्रेरित किया। यदि हम जैनत्व को लोकजीवन में प्रतिष्ठित करना चाहते हैं तो उसके अध्ययन-अध्यापन पर

पत्र

पत्रांश

बल देना ही होगा। ज्ञान-विज्ञान की युगीन शाखाओं से परिचित हुए बिना आज की प्रबुद्ध पीढ़ी को बोध देना संभव ही नहीं है। इसी दृष्टि से साधु-साध्वी तुलनात्मक अध्ययन में संलग्न हो गये।

अध्ययन-अध्यापन का मूलभूत आधार है स्वाध्याय। स्वाध्याय के बिना न तो नया ज्ञान प्राप्त होता है और न ही पूर्व प्राप्त ज्ञान का सम्यक् उपयोग ही हो सकता है। ध्यान भी साधना का एक महत्त्वपूर्ण अंग है। ध्यान-स्वाध्याय की प्रवृत्ति को बल देने के लिए हमने काफी प्रयत्न किये हैं। हमारा साहित्य, और प्रेक्षाध्यान की हमारी परम्परा इसके स्वयंभू साक्ष्य हैं। स्वाध्याय की प्रवृत्ति को बढ़ाने के लिए ही हमने मर्यादा महोत्सव के अवसर पर इस वर्ष को स्वाध्याय वर्ष के रूप में मनाने की घोषणा की। स्वाध्याय-योग का यह क्रम साधुता को समझने और जीने में भी पूरा कार्यकारी बन सकता है।

विश्वविद्यालयीन डिग्रियों को ले कर हमारे यहाँ कोई प्रतिस्पर्धा नहीं है। साधुओं के लिए उनका कोई मूल्य भी नहीं है। इसी दृष्टि से हमने अपना पूरा पाठ्यक्रम स्वतन्त्र रूप से निर्धारित किया है।

पुस्तक-प्रकाशन की आकांक्षा, या स्पर्धा साधुओं में न जगे, यह उचित है; पर इसका अर्थ यह नहीं है कि वे अपनी सृजनधर्मिता को कुंठित कर दें। साहित्य समाज की जरूरत है। धार्मिक और आध्यात्मिक साहित्य नहीं होगा तो समाज के

युवा एवं किशोर पढ़ेंगे क्या? प्रतिभा को स्फुरणा मिले और समाज को सत्साहित्य मिले, इस दृष्टि से साहित्यकार साधु-साध्वियों को सलक्ष्य सृजन करना चाहिये।

हमने अपने साधु-साध्वियों को लिखने के लिए उत्प्रेरित किया। यह जरूर है कि उनके लेखन के साथ प्रकाशन की प्रतिबद्धता नहीं है। हमारे यहाँ एक 'साहित्य-समिति' है। साधु और साध्वियाँ दोनों का उसमें प्रतिनिधित्व है। समिति द्वारा निर्धारित मानकों पर सही उतरने और उससे मान्यता मिलने के बाद ही कोई साहित्य बाहर आ सकता है। इस क्रम के दो फलित हैं— साहित्यिक प्रतिभाओं को निखरने का पूरा अवकाश मिलता है और साहित्य-प्रकाशन पर पूरा नियन्त्रण रहता है।

तेरापंथ धर्मसंघ में कुछ पारम्परिक उत्सव मनाये जाते हैं और कुछ नये महोत्सव भी आयोजित होते हैं। इनके पीछे हमारा दृष्टिकोण नितान्त सृजनात्मक रहता है। छह वर्ष पहले हमने 'जयाचार्य निर्वाण शताब्दी' मनायी। उस बहाने साहित्य का बहुत बड़ा काम हो गया। 'निज पर शासन, फिर अनुशासन' यह नारा भी उसी वर्ष लोकप्रिय बना। इससे लोक-चेतना में अनुशासन के प्रति आस्था जगाने का प्रयत्न किया गया। पिछले वर्ष हमने 'अमृत महोत्सव' मनाना स्वीकृत किया। उसे निमित्त बना कर जप, तप, और राष्ट्रीय चरित्र-निर्माण के पाँच संकल्पों का जो विस्तार हुआ, वह हमारी आध्यात्मिक और चारित्रिक निष्ठा का संवाहक बन गया। शिक्षा में 'जीवन-विज्ञान' का प्रयोग करने की दृष्टि से भी उस अवसर पर एक ठोस अभियान चलाया गया।

अब हमारे सामने एक नयी योजना आयी है। हमारे पचहत्तरवें वर्ष को बहाना बना कर वह योजना बनी है। उसका मुख्य लक्ष्य है—धर्मसंघ का आन्तरिक निर्माण। १९८९ के उस वर्ष को हम एक प्रशिक्षण/प्रयोग वर्ष के रूप में मनाने की सोच रहे हैं। यदि उस समय से हम अपने साधु-साध्वियों को आध्यात्मिक दृष्टि से अधिक तेजस्वी बना सके और श्रावक-समाज में अहिंसक जीवन-शैली विकसित कर सके तो वह आने वाली शताब्दी के लिए एक स्मरणीय उपलब्धि हो सकेगी। आचारगत उज्ज्वलता और आहार-शुद्धि तो उस जीवन-शैली की सहज निष्पत्तियाँ हो सकेंगी।

साध्य-साधन की पवित्रता के संबन्ध में जो विचार आये हैं, वे काफी गंभीर हैं। साधु-जीवन के लिए उपयोगी अनेक धर्मोपकरणों का निर्माण साधु-साध्वियाँ स्वयं कर सकते हैं, करते भी हैं। इस सन्दर्भ में पूरे सोच-विचार के साथ कुछ नयी परम्पराओं को स्थापित किया जा सकता है।

साधु-जीवन के लिए एक निश्चित 'आचार-संहिता' का निर्धारण मेरा दीर्घकालिक सपना है। भगवान् महावीर के पच्चीस सौवें निर्वाण महोत्सव के अवसर पर दिल्ली में सब सम्प्रदायों के प्रतिनिधि आचार्य और साधु-साध्वियाँ मिले थे। वहाँ एक प्रयत्न हुआ था, जिसके परिणाम-स्वरूप जैनधर्म का 'एक ग्रन्थ, एक ध्वज और एक प्रतीक' मान्य हो गया। पर एक संवत्सरी और एक आचार-संहिता की बात छूट गयी, जो अब तक पूरी नहीं हो सकी है।

जैन समाज की एकता के लिए मेरे मन में गहरी बेचैनी है। गत वर्ष उदयपुर में मैंने जैन समाज के वरिष्ठ लोगों की उपस्थिति में अपनी बेचैनी प्रकट भी की थी। मैं चाहता हूँ कि प्राथमिक रूप में हम तीन बिन्दुओं पर विचार करें—(१) जैनों का एक सर्वमान्य मंच; (२) संवत्सरी महापर्व की एकता; (३) जैन मुनियों की एक निश्चित आचार-संहिता।

'तीर्थंकर' के संपादक महोदय से ही मेरा यह सीधा सवाल है कि जैनत्व की अस्मिता को सुरक्षित रखने के लिए क्या इन विचारों के साथ आपकी सहमति है ? यदि आप सकारात्मक रूप से इस विचार-यात्रा में सहयात्री हैं तो हमें आप-जैसे निर्भीक कार्यकर्ताओं की ज़रूरत है। केवल आप ही नहीं, आपकी पूरी टीम एक-दो वर्ष के लिए पूरे मन से और योजनाबद्ध ढंग से इस काम में जुट जाए तो बड़ा काम हो सकता है। यह आवश्यक नहीं है कि आपके सब विचार हमें मान्य हों और हमारे सब विचारों से आप सहमत हों; किन्तु यह तो आवश्यक है कि हम एक-ऐसा सामूहिक प्रयत्न करें, जो साधु-समाज और श्रावक-समाज की जर्जर आस्थाओं को हिला कर/उखाड़ कर ऐसी आस्था का निर्माण कर दे जो जैनत्व की सच्ची पहचान बन सके और समाज के चरित्र को उज्ज्वलता दे सके। □□

'तीर्थंकर' और 'अर्हन्त' में भेद है

'तीर्थंकर' (अंक १८७, नवम्बर १९८६) में पृष्ठ २७ पर 'जैनधर्म की विशेषताएँ' लेख छपा है, जिसे हिन्दी भाषा के सुप्रसिद्ध सुकवि रामधारीसिंह 'दिनकर' ने लिखा है। इस निर्दोष निबन्ध में चन्द्र के क्षीण कलंक-सा लघु दोष यह है कि 'अर्हन्त' और 'तीर्थंकर' में भेद नहीं किया गया; बल्कि अर्हन्त को ही तीर्थंकर समझ-समझा दिया गया, जैसा कि निम्नलिखित पंक्तियों से सुस्पष्ट है–'सिद्ध वह है जिसने शरीर को छोड़ कर मोक्ष प्राप्त कर लिया है, और अर्हन्त तीर्थंकरों को कहते हैं, अर्हन्त तो चौबीस ही हुए हैं; किन्तु सिद्ध कोई भी जीव हो सकता है।'

तीर्थंकर वह व्यक्ति होता है, जिसने पूर्व जन्मों में तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध किया हो; जिसके गर्भ, जन्म, तप, ज्ञान और मोक्ष पाँच कल्याणक हुए हों, जिसने धर्म-तीर्थ की स्थापना की हो, जिसने धर्म और समाज की दिशा में आगत विसंगतियों/असंगतियों को दूर किया हो, और जिसने धर्म-सभा या समवसरण में आसीन हो कर दिव्य-ध्वनि की हित-मित-प्रिय भाषा में स्वर्णोपदेश दिया हो। तीर्थंकर चौबीस ही होते हैं भरत और ऐरावत क्षेत्र में, पर विदेह क्षेत्र में बीस तीर्थंकर सर्वदा विद्यमान रहते हैं।

अर्हन्त वह व्यक्ति होता है, जिसने चार घातिया कर्मों का (ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, अन्तराय) नाश किया हो और जो केवलज्ञान पाने के पश्चात् सभी से पूजित हुआ हो, वन्दनीय हुआ हो; जिसने गन्धकुटी में आसीन हो कर अल्पसंख्यक लोगों को अपने अपूर्व ज्ञान से लाभान्वित किया हो तथा जिसके ज्ञान-मोक्ष दो कल्याणक हुए हों।

यद्यपि 'भगवान' शब्द से तीर्थंकर और अर्हन्त दोनों का बोध होता है और सामान्यतया जैन समाज तथा जैनेतर विद्वान् भी दोनों को एक समझ लेते हैं, पर दोनों में सिद्धान्ततः सूक्ष्म किन्तु सुस्पष्ट भेद है, जिसे समझने या समझाने का प्रयास लगभग नहीं किया जाता है। इसका ज्वलन्त उदाहरण गोमटेश्वर बाहुबली की प्रतिमा के सहस्राब्दी समारोह पर प्रस्तुत हुआ। 'सरिता' (दिल्ली) के एक अंक में प्रश्न के रूप में आक्षेप किया गया कि एक ओर बाहुबली को भगवान् मानते हैं और दूसरी ओर उन्हें तीर्थंकर नहीं मानते हैं। प्रस्तुत आक्षेप का सुस्पष्ट उत्तर यह है कि भगवान् बाहुबली ने केवलज्ञान प्राप्त किया था, इसलिए वे अर्हन्त थे, भगवान् सदृश पूज्य थे और अपने पिताश्री तीर्थंकर आदिनाथ से पहले मुक्तिश्री का वरण भी उन्होंने कर लिया था, फिर भी वे तीर्थंकर नहीं

थे न उनके लिए समवसरण बना था और न उनके पाँच कल्याणक ही कभी हुए थे। तीर्थंकर और अर्हन्त, दोनों केवलज्ञानी होते हैं, अतएव दोनों भगवान् हैं।

तीर्थंकर और अर्हन्त में जो भेद है, उसे संक्षेप में यों समझें –

(१) तीर्थंकर के पाँच कल्याणक होते हैं, अर्हन्त के दो।

(२) तीर्थंकर चौबीस होते हैं, अर्हन्त अनेक।

(३) तीर्थंकर अर्हन्त हो सकता है, पर अर्हन्त तीर्थंकर नहीं।

(४) तीर्थंकर समवसरण में उपदेश देते हैं, अर्हन्त गन्धकुटी में।

(५) समवसरण में गन्धकुटी होती है पर गन्धकुटी में समवसरण नहीं होता।

(६) तीर्थंकर और अर्हन्त, दोनों केवलज्ञान पा कर नियमत: सिद्ध होते हैं।

(७) अनन्तानन्त सिद्धों में अधिकांश अर्हन्त ही होते हैं, तीर्थंकर नहीं।

(८) आचार्य कुन्दकुन्द ने 'पुण्यफला अरहंता' जो गाथा लिखी उसका सुदृढ़ सम्पूर्ण संबन्ध विशेषतया तीर्थंकर से ही है, अर्हन्त से अल्प।

(९) आठ कर्मों का नाश करके आठ गुण प्राप्त करने वाले सिद्ध भी तीर्थंकर अर्हन्त होते हैं, जो सशरीरी से अशरीरी या ज्ञान-शरीरी होते हैं।

(१०) सामान्यतया आठ कर्मों को नष्ट करने की दृष्टि से सभी सिद्ध समान हैं; पर धर्माचार्यों ने सूक्ष्म दृष्टि लिये सिद्धों में भी भेद स्वीकारे हैं।

(११) जैसे बीज में वृक्ष बनने की क्षमता है वैसे ही जीव में भी सिद्ध बनने की शक्ति है, पर जैसे प्रत्येक बीज वृक्ष नहीं बन पाता है, वैसे ही प्रत्येक जीव भी सिद्ध नहीं बन पाता है।

जैनेतर बन्धु जैनधर्म के विषय में जैन लेखकों से भी बढ़िया लिखते हैं। यदि वे संदिग्ध सूक्ष्म विषय में जैन विद्वानों से परामर्श लेंगे तो उनके लेखन में और अधिक निखार आयेगा।

—लक्ष्मीचन्द्र 'सरोज', जावरा

संगीति से सहमत हूँ

जनवरी का 'तीर्थंकर' मिला। संपादकीय पढ़ा। मेरे प्रश्नों का उत्तर स्पष्ट रूप से नहीं मिला। पहले प्रश्न, बाद में उत्तर रखा गया होता तो सभी बातें स्पष्ट हो जातीं। यहाँ सभी बातें सेलभेल हो गयी हैं। मुझे प्रश्नों को पास में रख कर उत्तर ढूँढ़ना पड़ा। यह उलझन में डालने वाला विरोधाभास है।

तीसरे पैरेग्राफ़ में आपने लिखा है : जैन साधु की मर्यादाएँ निश्चित हैं। उसे 'क्या करना चाहिये' और 'क्या नहीं' इसे भलीभाँति परिभाषित किया गया है। यह सब इतना सुचिन्तित है कि इसमें अधिक सोच-विचार के लिए गुंजाइश नहीं है। इस बात से आप क्या कहने जा रहे हैं वह स्पष्ट नहीं होता; क्योंकि आगे लिखा गया है कि 'वस्तुत: आधुनिकता के जितने अंश को साधुवर्ग ने ग्रहण किया है/कर लिया है उसका उसे पुनरवलोकन करना चाहिये और एक सुनियोजित संगीति में बैठ कर उस पर अन्तिम मुहर लगानी चाहिये।' यह विरोधाभास क्यों? संगीति की बात से मैं सहमत हूँ। इसके बाद आपने सतत् नयी-नयी बातें कहीं हैं, जो ठीक हैं।

लेकिन मेरा प्रश्न यह था कि समाज के बुद्धिमान, साधुओं से क्या अपेक्षा रखते है? मैंने यह नहीं पूछा कि शास्त्रों से क्या अपेक्षा रखते हैं? क्योंकि शास्त्र के आधार पर पेश किया हुआ आदर्श या कोई भी आदर्श अलग बात है; स्वप्न अलग है; वास्तविकताएँ अलग हैं। आदर्श सामने ही

रखे जाते हैं और वास्तविकताएँ जीवन के साथ बहती हैं; अतः ऐसे आदर्श तक पहुँचने की बात, केवल आध्यात्मिक जीवन जीने की बात इस समाज में रह कर, आज के संदर्भ में कैसे हो सकती है ? इसीलिए यह बात स्वप्नवत् लगती है । यदि किसी को केवल आध्यात्मिक जीवन जीना है तो उसे समाज से और साथ में अतीव और सतत जनसंपर्क से दूर भाग जाना होगा ।

इनकी शक्यता कितनी है ? तब जब कि आज सारा साधु-समाज जन-समाज पर निर्भर है, उसकी हरएक आवश्यकता की पूर्ति करता है । फिर क्या साधु का फर्ज़ नहीं है कि वह जन-समाज को अपना जीवन सुख-शान्तिमय, प्रसन्नतामय जीने में सहायता करे ?

आपने 'सूत-कताई', 'डिटर्जेंट पाउडर', 'अनीति-धन स्वीकार' आदि की जो बातें की हैं, वे भी आदर्शवाद की बातें लगती हैं; क्योंकि आज हमारे पास इन समस्याओं का कोई समाधान नहीं है । नीति-अनीति की व्याख्या अब नयी तरह से करनी होगी; साथ में साधुओं को शास्त्र-सम्मत मर्यादाओं का पालन तो करना है । यह कैसे ? शास्त्र-सम्मत मर्यादाओं की कोई निश्चित व्याख्या है क्या ? वैसे ही 'जब कोई आत्मकल्याण की दिशा में पग उठाता है तो लोकहित की दिशा में उसके पग आपोआप उठ जाते हैं । लोक और आत्महित एक ही नदी के दो किनारे हैं ।' यह बात शब्दों में ही सुन्दर लगती है, यानी आज के लिए इसे शाब्दिक आडम्बर मात्र कहा जाएगा । क्या इसका कोई समाधान है ? यह तो भगवान् महावीर-जैसे महामनीषियों के लिए संभव था । आज नहीं ।

उपर्युक्त बातों के अलावा आपकी अन्य बातों से, अन्य विचारों से मैं पूरी तरह सहमत हूँ ।

—मुनि भुवनहर्षविजय, पालीताणा

सांवत्सरिक महापर्व : 'प्रतिक्रिया' का समाधान

'तीर्थंकर' अक्टूबर ८६ में प्रकाशित सांवत्सरिक महापर्व : गणितीय खोज़बीन' लेख पर मुनि श्रीचंदजी 'कमल' ने 'तीर्थंकर' दिसम्बर ८६ में प्रतिक्रिया दी है । समाधान है : २९.५१ दिनों का चंद्रमास ले कर ६० मासों के १७७० दिन इसलिए लिये हैं कि गणितीय सूत्र में ७० दिन अवशिष्ट से १८९० दिन मिले हैं, उनका विभाजन पूर्णांक में करने से गणन सहज होता है । १७७०.६० लेने से भी लेख की मध्यवर्ती कल्पना पर कोई असर नहीं होता । १७७०.६० दिन लेने से ग्रीष्म ऋतु के ६५.३८ दिन शेष रहते हैं । १७७०.६० में १२० दिन मिलाने से १८९०.६० होते हैं । यहाँ भी आषाढ़ पूर्णिमा से ४९.७८ दिन यानी ५०वें दिन महापर्व निश्चित होता है ।

अब पृष्ठ ४५ पर पूछे गये प्रश्नों के उसी क्रम से समाधान दिये जाते हैं ।

(१) 'चंद्रप्रज्ञप्ति सूत्र' में कहा है : 'चंदो एकूणतीसं। बासट्ठीया भाग बत्तीसं।।' इसलिए स्थूलरूप से चन्द्रमास के २९.५१ दिन लिये ।

(२) ४ माह के वर्षावास को पर्याय रूप में क्यों लिया गया, इसका स्पष्टीकरण लेख में दिया गया है । अधिकमास को केवल मूल गणन में टाला है, वह उपेक्षित नहीं है। अधिकमास का जन्म तभी हुआ जब चन्द्र के भ्रमण की तुलना सूर्य के भ्रमण से की गयी । १८३० दिन के एक युग में कितने चन्द्रमास और कितने सूर्यमास, इस दृष्टि से अधिक चन्द्रमास आते हैं । ६० चन्द्रमास मूल गणन में लिये गये; क्योंकि 'ता पंच संवछरिएणं जुगे·····संवच्छरस्स बारसमासा पण्णत्ता' । अगर अधिकमास सहित ६२ चन्द्रमास लेने हैं, तो भी ४९ वाँ दिन मिलता है । यही बात मैंने तीर्थंकर' के पृष्ठ २९

पर स्पष्ट की है, जहाँ लिखा है कि '६२ चन्द्रमास लेने पर भी ५० के आसपास की संख्या मिलती है' । तो यहाँ 'अपने पक्ष' का प्रश्न क्यों उपस्थित किया गया ?

(३) जैन ज्योतिष से वर्षावास में श्रावण या भाद्रपद बढ़ते ही नहीं, तो फिर गणना के आधार का प्रश्न ही नहीं हो सकता । आषाढ़ पूर्णिमा से शुरू के चार महीनों का वर्षावास होना चाहिये, ऐसा अनुमान कर सकते हैं ।

(४) पाँच वर्षावासों की स्थिति का प्रश्न भी वृत्तीय क्रम में नहीं रहता, क्योंकि प्रतिवर्ष आषाढ़ पूर्णिमा को ६० अथवा ६२ चन्द्रमास पूर्ण हो चुके होते हैं ।

(५) वर्षाऋतु के ४ माह पर्याय रूप में लिये हैं और यह 'पज्जोसवेई' से स्पष्ट है । चन्द्रयुग आषाढ़ पूर्णिमा में पूर्ण होता है, इसीलिए ग्रीष्मऋतु में महापर्व निश्चित हो सकता था; लेकिन उस समय के भारतीय पर्जन्यमान को देखते हुये जीवयत्ना तथा वर्षावास आदि की दृष्टि से वर्षाऋतु में महापर्व निश्चित करना था और जब कोई सामान्य नियम बनता है, तो हरेक प्रदेश अथवा विदेश का विचार नहीं किया जाता । मुनिजी ने पर्याय को 'खींच-तान' कहा है । १.१० मीटर जितना कपड़ा गिनना, इकाई के रूप में मान्य 'एक मीटर' के माप पर अन्याय है ?

(६) यदि हमारा प्रयास रहे, तो शायद हम जैन पंचांग बना भी सकते हैं; क्योंकि जैन शास्त्रों में १८३० दिन के युग की तथा सूर्य और चन्द्र के अपने-अपने मण्डलों में भ्रमण की जानकारी से आते हुए अधिकमास तथा प्रचलित पंचांगों में आते हुए अधिकमासों में गणितीय दृष्टि से समानता दिखायी देती है । आध्यात्मिक साधना में फलज्योतिष का कोई महत्त्व नहीं होता; लेकिन केवल महत्त्वपूर्ण तिथियाँ निश्चित करने के लिए प्रचलित पंचांगों से भी अच्छी तरह काम चल सकता है ।

११८ दिनों का चातुर्मास होने पर-
१. 'तीर्थंकर' (अक्टूबर) के पृष्ठ २९ पर लिखा है कि 'चन्द्रसंवत्सर लेने पर ५० के आसपास की संख्या मिलती है' : गणन करने पर १७७०.६० में ११८.०६ मिलाने से क़रीब ४८ अथवा ४९ वाँ दिन मिलता है । मैंने मूल गणन दिया है, सभी गणन मैं कैसे दे पाता ? तथा इतना विस्तृत लेख छपता भी कैसे ? २. दूसरी पद्धति से ११८ दिन का वर्षावास होने पर उसका ५:७ इस अनुपात में विभाजन करके आये हुए ४९.१६ दिन पृष्ठ ३० पर 'सारणी' में दर्शाये गये हैं । यहाँ वर्षावास के दिन बदलने पर भी ७० दिन शेष कैसे रहेंगे ?

(७) मूल गणन में चन्द्र के भ्रमण का विचार किया गया ऐसा अनुमान है, तथा वर्ष का आधार ऋतु होने से ऋतु-संवत्सर ३६० दिनों का ले कर वर्षाऋतु के १२०० दिन जोड़े गये । फिर भी यदि १८०० दिन तथा १२० दिन वर्षावास के लेने ही हैं, तो भी ४९ वें दिन महापर्व निश्चित होता है ।

प्रतिक्रिया में कहा है : 'एक दिन का भी अन्तर उसे सत्य-बिन्दु तक पहुँचने में बाधक बन जाता है' । एक मास-सहित बीसवीं रात्रि को महापर्व निश्चित होता है, जब कि सौर मास तथा चन्द्रमस में ही क़रीब एक दिन का अन्तर है । नक्षत्रमास से तो और भी अन्तर हो जाता है । और मुनिजी तो एक ही सत्य-बिन्दु चाहते हैं ? आपको १२० के बजाय ११८ दिन वर्षाऋतु के लेने हैं, १७७० दिन के बजाय १८०० दिन लेने हैं, ६२ चन्द्रमास (अधिकमास के लिए) भी लेने हैं, और एक ही बिन्दु मिलाना है; यह कैसे संभव है ? साधारणतया ४९ अथवा ५० वें दिन महापर्व निश्चित होता है ।

मनुष्य की आयु जघन्य अन्तर्मुहूर्त ही है, हरेक की आयु अलग-अलग होने के साथ ही वह अज्ञात है; इसलिए चन्द्र तथा सूर्य अपने मण्डलों में जो भ्रमण पूर्ण करते हैं, उस अवधि को आधार माना है। एक वर्ष को आधार मानने पर महापर्व निश्चित नहीं होता; लेकिन महत्त्वपूर्ण समय लेख में दर्शाया गया है।

आत्मिक शुद्धिकरण कोई भी, कभी भी कर सकता है, लेकिन आम साधकों के लिए महापर्व निश्चित किया गया है। इस गणितीय खोज़बीन का मुख्य हेतु महापर्व की स्थापना का उद्देश्य जानना था।

—बन्सीलाल मुणोत, रालेगाँव

सशक्त शल्यक्रिया

'साधुवाद' संपादकीय बहुत सशक्त शल्यक्रिया है नामधारी साधुओं की। वाद, प्रवाद, संवाद, और परिवाद से ये साधु कब आज़ाद होंगे ?

'श्रमण-संस्था और समाज' लेख में श्रमण महावीर के विषय में कहा गया है कि 'वे परम्परा के अनुगामी न थे' यह कथन अप्रामाणिक है। महावीर परम्परा को अग्रसर करते हुए आवश्यक कालिक नवीनता के उद्घोषक थे।

डॉ. ए. सी. एस जैन के साथ आपकी प्रश्नोत्तरी बहुत पुरजोर है। पत्रिका 'रीडर्स डायजेस्ट' बनती जा रही है।

—डॉ. रवीन्द्रकुमार जैन, मद्रास

स्वयंपूर्ण रेखाचित्र

कर्मवीर भाऊराव पाटील का स्वयंपूर्ण/प्रभावशील रेखाचित्र अच्छा लगा।

—गोविन्दजी जैन, परभणी

सहज : सार्थक : उपादेय

भौतिकतावाद के इस युग में जैनत्व के अहिंसक बुनियादी उसूलों/मान्यताओं/सिद्धान्तों की नितान्त सार्थकता और उपादेयता के ठोस धरातल को समझाने एवं व्यावहारिक आचरण में अपनाने के लिए जो अनूठा प्रयोग प्रश्नोत्तर/बातचीत का पिछले दो अंकों में परिलक्षित हुआ है वह सहज और स्तुत्य ही नहीं बल्कि समस्याग्रस्त जन-मानस को गहराई से झकझारने तथा उसे विचारोन्मुख कर देने वाला है। जनवरी ८७ के अंक में अपने-अपने विषयों के दो विशेषज्ञों की 'शाकाहार : पौष्टिक, प्राकृतिक, सस्ता, स्वास्थ्यप्रद' रुचिकर और मार्मिक बातचीत स्वयं अपनी सार्थकता को सिद्ध करती है। यह प्रयोग निरन्तर रखने योग्य है।

—एस. सी. लूणावत, भोपाल

सचमुच साहस की बात

इन दिनों 'तीर्थंकर' के संपादकीय बेहद मौलिक, प्रखर, क्रान्तिकारी तथा निर्भीक गर्जना की ताकत रखने वाले आ रहे हैं। जैन समाज की कुरीतियों, आडम्बरों, और रूढ़ियों पर इतनी निष्पक्षता से लिखना सचमुच साहस की बात है। पता नहीं, कोई बड़ा परिवर्तन आयेगा या नहीं; मगर चिन्तन को गति तो मिलती ही है और परिवर्तन की दिशा में एक माहौल तो बनता ही है। कर्मवीर, क्रान्तिदृष्टा, निःस्वार्थ साधक भाऊराव पाटील के बारे में आपका व्यक्तित्व-दर्शन गद्यकाव्य की ऊँचाई और गहराई लिये हुए है। अब तक मैं उनके व्यक्तित्व एवं कृतित्व से सर्वथा अपरिचित था। उनके मराठी-लेखन में, या उन पर लिखे मराठी-साहित्य में कुछ अनुवाद-योग्य हो, तो भिजवाइये। मैं अनूदित करना चाहता हूँ।

—दिनकर सोनवलकर, जावरा

तभी अस्तित्व संभव

जनवरी ८७ के अंक में 'साधुवाद' के बारे में स्पष्ट एवं विचारोत्तेजक संपादकीय पढ़ने को मिला। 'तख्त एवं वक्त' की युक्ति

साधुओं, आचार्यों एवं श्रावकों सभी पर लागू होती है। वक्त का तकाज़ा है—सोचें, समझें तभी अपना अस्तित्व रह सकेगा।

—बाबूलाल एम. सुराना, बम्बई

संपादकीय : अमृत संदेश

युवाचार्य महाप्रज्ञ, रामधारीसिंह 'दिनकर,' सौभाग्यमल जैन तथा डॉ. नेमीचन्द जैन ने अपने लेखों, बातचीत, यात्रा-प्रसंग तथा कर्मवीर भाऊराव पाटील पर सोद्देश्य शैक्षिक टिप्पणी द्वारा साथ ही शाकाहार पर विशेष ज़ोर दे कर 'तीर्थंकर' के सेवा-स्वर को अधिक उज्ज्वलता प्रदान की है। संपादकीयों को यदि अमृत संदेश कहा जाए तो कम है। इसे कोई अन्य संबोधन देना पड़ेगा।

—श्रीमती विमला जैन, कटनी

तभी क्रान्ति आ सकती है

कर्मवीर भाऊराव पाटील की साधना और शिक्षण-पद्धति को यदि भारत सरकार मान ले तो शिक्षा-जगत् में एक नयी क्रान्ति आ सकती है। इससे विद्यार्थियों में उच्छृंखलता कम होगी, स्वयं पर अनुशासन की भावना जागेगी, और आपने वाले युग के लिए आवश्यक भूमिका बनेगी। डॉ. ए. सी. एस. जैन और आपके बीच हुए प्रश्नोत्तर पाठकों के लिए उपयोगी हैं, उन्हें 'शाकाहार कितना उपयोगी है' इसकी जानकारी देते हैं। दोनों को साधुवाद। 'श्रमण-संस्था और सामाजिक परिवर्तन' लेख विचारोत्तेजक है। सौभाग्यमल जैन स्पष्टवक्ता, गहरे, और विचारवान् लेखक हैं। उन्होंने जो मुद्दे उठाये हैं, वे विचारणीय हैं।

—मानव मुनि, इन्दौर

नये घाटों, मार्गों, विचारों का निर्माण

'तीर्थंकर, की सार्थकता आपने सिद्ध कर दी। जो नये घाटों, मार्गों, और विचारों का निर्माण करे—वही तो कहलाता है 'तीर्थंकर'। आपको बहुत-बहुत साधुवाद है; क्योंकि आपने 'साधुवाद' पर सामयिक सामग्री प्रस्तुत की है। अभी-अभी यहाँ से एक बृहत् मुनि-संघ गया है; जो नानाविध तान्त्रिक मान्यताओं से सुसज्जित है। ऐसे कर्मकाण्ड को देख कर हम-जैसे प्रतिष्ठाचार्य भी शर्मा जाते हैं। निर्ग्रन्थ साधु के साथ ५ आधुनिक मोटर गाड़ियाँ गृहस्थी का बोझा लादे पीछे-पीछे चल रही हैं। ये वे गाड़ियाँ हैं जिनका दान काली कमाई वाले लोगों ने किया है; जिन पर सद्वृत्ति साधु और असद्वृत्ति असाधु के नाम अंकित हैं। बहुत बड़ी विडम्बना/विचित्रता है इस मुनिसंघ की।

इसी अँक में प्रकाशित 'श्रमण-संस्था और सामाजिक परिवर्तन' के विचारवान् लेखक सौभाग्यमलजी को शतशः बधाई है। आयु में पुराने, विचारों में तरोताज़ा उन-जैसे मनीषी जनों से ही 'तीर्थंकर' में चार चाँद लगेंगे।

—डॉ. जिनेन्द्रकुमार जैन, सासनी

यह आप निरन्तर देते रहें

'जैन भौतिकी विशेषांक' तो अद्वितीय है ही 'तीर्थंकर' के समग्र विशेषांक नये-नये ढंग से प्रस्तुत हो कर असाधारण सामग्री प्रबुद्ध जनों के समक्ष बिखेरते हैं। विषय, भाषा, और पद्धति सभी स्तुत्य हैं। कभी-कभी तो आपकी प्रतिभा से मेरा ज्ञान बौना प्रतीत होने लगता है। अच्छा है प्रबुद्धों को अच्छे स्तर की ज्ञानराशि आप दे रहे हैं। मेरी हार्दिक मंगल कामना है कि वह आप निरन्तर देते रहें।

—डॉ. दरबारीलाल कोठिया, बीना

जिसे हम अजैन भी

'तीर्थंकर' अपनी क़िस्म का अकेला पत्र है, जिसे हम अजैन लोग भी रुचि और मनोयोग से पढ़ते हैं। वैसे आपकी सशक्त

लेखनी से जब भी/जो कुछ भी लिखा जाता है – सारगर्भित और सटीक होता है; किन्तु इस बार जनवरी ८७ के संपादकीय की जितनी सराहना की जाए कम है ।

—केशवप्रसाद शर्मा, चूरू

सभी ऐसे हैं जो

साधुओं का भेदभाव, साम्प्रदायिकता, श्रेष्टिवर्ग से लगाव-कभी समाप्त नहीं हो सकते । दो-चार साधुओं को छोड़ कर, सभी ऐसे हैं जो भीतर-ही-भीतर बिल बना कर एकता, साम्प्रदायिकता, और समता की जड़ काटते रहते हैं । इसी में उनकी तपस्या निहित है, अतः आप संपादकीय-लेखन का कीमती समय और श्रम आदमियों पर दें, साधुओं पर नहीं । साधु यदि आपकी बात मान लेंगे तो उनका साधुत्व खतरे में पड़ जाएगा । 'भीड़-में-जय' बोलने आप तो जाएँगे नहीं ?

—सुरेश 'सरल' जबलपुर

साधु आत्म-मंथन करें

जनवरी, ८७ के अंक में आपका संपादकीय (साधुवाद) पढ़ कर प्रसन्नता हुई । यह साधु-समाज के लिए आत्म-मंथन के लिए है । मेरी पूर्व प्रकाशित पुस्तकें/रचनाओं में आपके इन विचारों का पूर्ण समर्थन मिलता है ।

—मुनि अमरेन्द्र विजय, नारगोल (गुजरात)

इसी तरह यदि –

शाकाहार : पौष्टिक, प्राकृतिक, सस्ता, स्वास्थ्यप्रद (बातचात; जनवरी, ८७) पढ़ कर बहुत अच्छा लगा । इसी तरह की बहस आप आयुर्वेद, प्राकृतिक चिकित्सा, योग और होम्योपैथी के विशेषज्ञों से चर्चा कर छापें, तो लोगों को लाभ होगा ।

—धर्मचन्द सरावगी, कलकत्ता

हमारी शुभ कामनाओं सहित–

सुप्रसिद्ध सुवासित

घृतकुमारी केश तेल के निर्माता

सूर्य केमिकल. वर्क्स, कलकत्ता

हमारी शुभ कामनाओं सहित–

नथमल लूणिया एण्ड सन्स

३५, आरमेनियन स्ट्रीट, कलकत्ता - ७०० ००१

'तीर्थंकर' के दुर्लभ और संकलनीय विशेषांक

१.	मुनिश्री विद्यानन्द (अप्रैल, ७४)	१०.००
२.	श्रीमद् विजयराजेन्द्रसूरीश्वर (जून-जुलाई, ७५)	१०.००
	(दोनों विशेषांक सजिल्द सुलभ)	१०.००
३.	मुनिश्री चौथमल जन्म-शताब्दि (नव.-दिस., ७७)	१०.००
४.	आचार्यश्री विद्यासागर (नव.-दिस., ७८)	१०.००
५.	साध्वीश्री विचक्षणश्री (फर.-मार्च, ७८)	१५.००
६.	पं. नाथूलाल शास्त्री (जून, ७८)	१०.००
७.	गोम्मटेश्वर (महामस्ताभिषेक, फर., ८१)	१०.००
८.	जैन पत्र-पत्रिकाएँ (अग.-सित., ७७)	२०.००
९.	वीर निर्वाण-चयनिका (दिस., ७६)	१०.००
१०.	णमोकार मन्त्र खण्ड-१ (नव.-दिस., ८०)	१०.००
११.	णमोकार मन्त्र खण्ड-२ (जनवरी, ८१)	१०.००
	(णमोकार के दोनों विशेषांक सजिल्द सुलभ)	२५.००
१२.	भक्तामर स्तोत्र (जनवरी, ८२)	२१.००
१३.	जैन भूगोल (अगस्त, ८२)	५.००
१४.	श्रीमहावीर-तीर्थ (नवम्बर, ८२)	१०.००
१५.	जैन ध्यान/जैन योग (अप्रैल, ८३)	१५.००
१६.	समाज-सेवा (नव. दिस., ८३)	१५.००
१७.	प्रतिक्रमण/सामायिक (अक्टू.-नव., ८४)	२०.००
१८.	प्रतिक्रमण शेषांक (दिसम्बर, ८४)	५.००
१९.	सामायिक शेषांक (जनवरी, ८५)	५.००
२०.	श्रावकाचार-विशेषांक (मार्च-अप्रैल, ८५)	१५.००
२१.	आहार-अंक (जून-जुलाई, ८५)	४.००
२२.	पूजा-विशेषांक (अगस्त-सितम्बर, ८५)	१०.००
२३.	जैन जैविकी विशेषांक (फरवरी-मार्च, ८६)	१०.००
२४.	उपवास-अंक (मई, ८६)	३.००
२५.	जैन भौतिकी विशेषांक (अगस्त-सितम्बर, ८६)	१०.००
२६.	टोना-टोटका/जंतर-मंतर विशेषांक (फरवरी-अप्रैल, ८७)	१५.००

☐ विशेषांकों के संपूर्ण सेट का रियायती मूल्य रु. २७५.०० है ☐ रजिस्ट्री चार्ज एक विशेषांक पर रु. ५/- अतिरिक्त विशेषांक पर रु. १/- ☐ वी.पी.पी. नहीं की जाएगी। अग्रिम मूल्य मनीऑर्डर/बैंक ड्राफ्ट से ही भेजिये।

संपर्क **प्रबन्ध सपादक, तीर्थंकर;** ६५ पत्रकार कॉलोनी,

कनाड़िया रोड, इन्दौर-४५२००१ (म. प्र.)

—बड़ौत (उ. प्र.) में भगवान् पार्श्वनाथ सहस्राब्दि समारोह और भगवान् ऋषभदेव पंचकल्याणक महोत्सव के संदर्भ में गत १५ मार्च को एलाचार्य मुनिश्री विद्यानन्दजी के सान्निध्य में आयोजित श्रावक-संगम में घोषणा की गयी कि देश और विश्व में हिंसा का वातावरण अहिंसा की स्थापना से ही दूर हो सकता है। संयुक्त राष्ट्रसंघ ने भी आज मानवमात्र के जीवन के अधिकार को स्वीकार किया है। भगवान् महावीर ने ढाई हजार वर्ष पूर्व 'जीओ और जीने दो' का यही सिद्धान्त प्रतिपादित किया था।

आदर्श प्राचीन परम्परा की चर्चा करते हुए एलाचार्य मुनिश्री विद्यानन्दजी ने कहा कि भारतीय संस्कृति के समस्त गायकों ने हमेशा प्रार्थना में सम्पूर्ण राष्ट्र की समृद्धि और अखण्डता की कामना की है।

मुख्य अतिथि केन्द्रीय खान मंत्री श्री कृष्णचन्द पंत ने कहा कि जैन समाज ने हमेशा राष्ट्रीय उत्थान एवं जन-कल्याण के कार्यों में सहयोग दिया है। अध्यक्ष साहू श्री अशोककुमार जैन ने सामाजिक संगठन पर बल देते हुए घोषणा की कि राष्ट्रहित के किसी भी काम में जैन समाज पीछे नहीं रहेगा। श्रीमती सरयू दफ्तरी ने कहा कि हमें वैचारिक हिंसा का भी त्याग करना होगा। श्री बाबूलाल पाटोदी ने कहा कि शास्त्रों में कहीं भी जातिवाद की व्यवस्था नहीं है :

—रेशंदीगिरि (नैनागिरि, म. प्र.) में आचार्यश्री विद्यासागरजी के सान्निध्य में पंचदिवसीय (८ से १३ फरवरी, ८७) पंचकल्याणक के प्रतिष्ठा/गजरथ महोत्सव के अन्तर्गत ११ फरवरी को जैनविद्या/साहित्य पर शोध-कार्य एवं सार्थक लेखन करने वाले पाँच साहित्यकारों का सम्मान सागर विश्वविद्यालयके कुलपति डॉ. के. के. दवे से करवाया गया और उन्हीं के द्वारा स्मृति-चिह्न तथा सम्मान-राशि भी भेंट करवायी गयी। वरिष्ठ पण्डित डॉ. पन्नालालजी जैन को आचार्य ज्ञानसागरजी द्वारा रचित संस्कृत-कृति 'जयोदय काव्य' के हिन्दी अनुवाद पर, युवा साहित्यकार श्री सुरेश 'सरल' को आचार्य विद्यासागरजी की जीवनी के प्रथम खण्ड 'विद्याधर से विद्यासागर' पर, डॉ. (श्रीमती) आशा मलैया को 'शतक-परम्परा एवं आचार्य विद्यासागर के शतक' शोध-ग्रन्थ पर, डॉ. कैलाशपति पांडे को 'आचार्य ज्ञानसागर के जयोदय महाकाव्य का समीक्षात्मक अध्ययन' शोध-ग्रन्थ पर और डॉ. किरण टण्डन को उनके शोध-ग्रन्थ 'महाकवि ज्ञानसागर के काव्य : एक अध्ययन' पर सम्मानित किया गया। कुल मिलाकर यह महोत्सव धर्म के साथ-साथ संस्कृति और साहित्य का भी उल्लेखनीय आयोजन था।

—देहरा तिजारा (राजस्थान) में गत २२ मार्च को आयोजित भारतवर्षीय दि. जैन तीर्थक्षेत्र कमेटी के वार्षिक अधिवेशन में सर्वसम्मति से साहू श्री अशोककुमार जैन को आगामी पाँच वर्ष के लिए कमेटी का अध्यक्ष चुन लिया गया। निवर्तमान अध्यक्ष साहू श्री श्रेयांसप्रसाद जैन कमेटी के 'परम संरक्षक' के रूप में संस्था और समाज को दिशा-निर्देश देते रहेंगे।

—जम्बूद्वीप-स्थल (हस्तिनापुर) पर भगवान् पार्श्वनाथ पंचकल्याणक प्रतिष्ठा के समापन के अवसर पर आचार्यश्री विमलसागरजी और आर्यिकाश्री ज्ञानमतजी के सान्निध्य में 'श्री विमल ध्यान केन्द्र' का शिलान्यास गत १७ मार्च को किया गया।

समाचार - परिशिष्ट

—जम्बूद्वीप-हस्तिनापुर में आचार्यश्री विमलसागरजी द्वारा श्री मोतीचन्द को ८ मार्च को क्षुल्लक-दीक्षा प्रदान की गयी। इस अवसर पर श्री मोतीचन्द की मातुश्री की प्रेरणा से उनके अनुज श्री प्रकाशचन्द जैन सर्राफ ने रु. २५००० के दान की घोषणा करते हुए कहा कि इस राशि से दि. जैन त्रिलोक शोध-संस्थान के अन्तर्गत 'मोतीचन्द जैन पारमार्थिक ट्रस्ट' की स्थापना की जाए।

—भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा नई पीढ़ी के लिए प्रारंभ किये गये वार्षिक प्रतियोगिता-क्रम में इस वर्ष प्रतियोगिता व्यंग्य-लेखन (गद्य) में होगी। इस प्रतियोगिता की विशेषता यह होगी कि इसमें रचना विशेष पर नहीं सम्पूर्ण अप्रकाशित व्यंग्य-कृति – लेख-संग्रह, उपन्यास अथवा कथा-कहानी पर विचार किया जाएगा। निर्णायकों द्वारा सर्वश्रेष्ठ घोषित पाण्डुलिपि का प्रकाशन-दायित्व भारतीय ज्ञानपीठ स्वीकार करेगा।

व्यंग्य-लेखन प्रतियोगिता के नियम एवं शर्तों के अन्तर्गत केवल वे ही लेखक भाग ले पायेंगे जिनकी आयु १ जनवरी, १९८७ को ४० वर्ष से अधिक न हो और जिनकी अभी तक कोई व्यंग्य-कृति प्रकाशित न हुई हो। केवल हिन्दी की मौलिक व्यंग्य-कृतियों पर विचार किया जाएगा। पाण्डुलिपि की दो टंकित अथवा सुलिखित प्रतियाँ अपेक्षित हैं। वह १५०-२०० पृष्ठों की होनी चाहिये। पाण्डुलिपि १ मई, १९८७ तक भारतीय ज्ञानपीठ कार्यालय में पहुँच जानी चाहिये। अधिकृत एवं अपेक्षित जानकारी के लिए १८, इंस्टीट्यूशनल एरिया, लोदी रोड, नई दिल्ली ११० ००३ से संपर्क कर सकते हैं।

—स्व. पं. देवकीनंदन सिद्धान्तशास्त्री की पुण्य स्मृति में ग्रन्थ का प्रकाशन किया जा रहा है। प्रकाशन-समिति के मानद मन्त्री ने निवेदन किया है कि पं. जी से संबन्धित सामग्री श्री महावीर ब्रह्मचर्याश्रम, पो. कारंजा ४४४१०५, जि. आकोला (महाराष्ट्र) के पते पर यथाशीघ्र भेजें, ताकि उनका समावेश स्मृति ग्रन्थ में किया जा सके।

—अ. भा. जैन विद्वत्-परिषद् द्वारा प्रारंभ की गयी 'ज्ञान प्रसार पुस्तक-माला' के अन्तर्गत अब तक ३२ पुस्तकें प्रकाशित की जा चुकी हैं। कुल १०८ पुस्तकें प्रकाशित करने की योजना है। प्रत्येक पुस्तक का फुटकर मूल्य दो रुपए है, पर जो व्यक्ति या संस्था रु. १०१ भेजकर साहित्य का सदस्य बन जाएँगे, उन्हें १०८ पुस्तकें निःशुल्क प्रदान की जाएँगी। जयन्ती, पुण्यतिथि, विवाह आदि के विशेष अवसर पर वितरित करने के लिए १०० या अधिक पुस्तकें खरीदने पर २५ प्रतिशत कमीशन दिया जाएगा। रु. १०१ मनीआर्डर या ड्राफ्ट द्वारा 'अखिल भारतीय जैन विद्वत् परिषद्' के नाम सी-२३५, तिलकनगर, जयपुर ३०२००४ के पते पर भेज सकते हैं।

—श्री दि. जैनधर्म शिक्षण संयोजन समिति, इन्दौर के तत्वावधान में कविवर बनारसीदास के ४०० वें जयन्ती-समारोह के अन्तर्गत गत ९ फरवरी को रात्रि में 'कविवर बनारसीदास : व्यक्तित्व और कर्तृत्व' विषयक चर्चा-सभा डॉ. नेमीचन्द जैन की अध्यक्षता में आयोजित की गयी, जिसका संचालन प्रो. जमनालाल जैन ने किया। नाटक समयसार (तत्त्वगोष्ठी), निमित्त उपादान की चिट्ठी (परिचर्चा), बनारसीदासजी की काव्य-रचनाओं का व्याख्यात्मक, सस्वर, संगीतमय गान आदि कार्यक्रम भी आयोजित किये गये।

—श्रवणबेलगोला के भट्टारक श्री चारुकीर्ति गत १४ मार्च की रात्रि में ६५, पत्रकार कॉलोनी, इन्दौर-स्थित 'तीर्थंकर' के कार्यालय में दि. जैन महासमिति के महामंत्री श्री बाबूलाल पाटोदी के साथ पधारे। यहाँ उन्होंने डॉ. नेमीचन्द जैन के साथ विविध विषयों पर चर्चा की और 'तीर्थंकर सन्दर्भ ग्रन्थालय' का अवलोकन भी किया।

—इन्दौर में नवोदित जैन तीर्थ गोम्मटगिरि पर वार्षिक मेले के अवसर पर गत १५ मार्च को भ. बाहुबली का महामस्तकाभिषेक श्रवणबेलगोला के भट्टारक स्वामी श्री चारुकीर्ति के सान्निध्य में संपन्न हुआ।

—पद्मश्री पं. सुमतिबाई शहा अमृत महोत्सव के अन्तर्गत गौरव ग्रन्थ प्रकाशन समारोह गत २१ फरवरी को श्राविका संस्था नगर, सोलापुर में सम्पन्न हुआ।

—अखिल भारतीय जैन युवा मंच, जबलपुर विगत चार वर्षों से श्रमण संस्कृति के अग्रदूत, कर्मभूमि के प्रथम तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव का निर्वाण-महोत्सव सम्पूर्ण देश में आयोजित करवाने के लिए प्रयासरत है। मंच के कार्यालय को प्राप्त जानकारी के अनुसार इस वर्ष २८ जनवरी को मध्यप्रदेश, उत्तरप्रदेश, राजस्थान, बिहार, महाराष्ट्र, हरियाणा और दिल्ली के लगभग १५० महानगरों, शहरों और कस्बों में यह महोत्सव आयोजित किया गया। इसके राष्ट्रीय संयोजक श्री राजेश वत्सल, जबलपुर हैं।

—राजश्री पिक्चर्स, बम्बई के संगीत विभाग द्वारा प्रस्तुत संगीतकार श्री अशोकचन्द्र आलासे (कोल्हापुर) कृत भगवान् महावीर के जीवन-चरित्र और पंचकल्याणक पर आधारित जैन गीतों के नवीनतम संगीत कैसेट 'नमो वीतरागा' का विमोचन गत ८ फरवरी को तीन मूर्ति पोदनपुर, बोरीवली, बम्बई में मुनिश्री कुन्थुसागरजी द्वारा सम्पन्न हुआ।

शुल्क में वृद्धि

कागज, छपाई, ब्लॉक्स, पोस्टेज आदि में अप्रत्याशित बढ़ोतरी के कारण 'तीर्थंकर' के शुल्क में वृद्धि करना पड़ रहा है। १ मई, १९८७ से 'तीर्थंकर' का आजीवन सदस्यता-शुल्क रु. ३००-०० और वार्षिक सदस्यता-शुल्क रु. ३५-०० रहेगा, जिसे मनीऑर्डर/बैंक ड्राफ्ट से भेजने का निवेदन है।

—प्रबंध संपादक

—श्रवणबेलगोला (कर्नाटक) में ९ से १७ अप्रैल, ८७ तक लघु पंचकल्याणकपूर्वक वार्षिक मेले का आयोजन स्वस्तिश्री चारुकीर्ति स्वामीजी के सान्निध्य में किया गया।

—अर्हत जैन संघ की अहिंसा विहार, अहिंसा भवन, नई दिल्ली में २८-२९ मार्च को आयोजित विचार-परिषद् में जैन सम्प्रदायों के प्रबुद्ध सन्त-साध्वी, श्रावक-श्राविका आमन्त्रित किये गये।

—सतना (म.प्र.) में जैन क्लब परिसंघ का एक नैमित्तिक अधिवेशन शाकाहार-सम्मेलन के रूप में १३ अप्रैल, ८७ को आयोजित किया गया। अधिवेशन के अवसर पर शाकाहार प्रदर्शिनी और वीडियो प्रदर्शन का कार्यक्रम भी रखा गया।

—प्रोजेक्ट भगवान् महावीर, नईदिल्ली नामक संस्था ने भजन के दो ओडियो कैसेट (दानराशि रु. १०१), भजन का एक वीडियो कैसेट (दानराशि रु. ५०१), चन्दनबाला टेलिफिल्म का वीडियो कैसेट (दानराशि रु. ५०१) और भगवान् महावीर फीचर फिल्म का वीडियो कैसेट (दानराशि रु. ५०१) तैयार किया है। जिन्हें प्रोजेक्ट भगवान् महावीर, ए-२५२ (दूसरी मंजिल) शाहपुर-जाट (पंचशील शॉपिंग सेंटर के सामने) नई दिल्ली-१७, से संपर्क कर प्राप्त किया जा सकता है।

नये आजीवन सदस्य रु. २५१

९६०. श्री धरमचन्द श्री श्रीमाल
गाँधी चौक
पो. महासमुन्द (रायपुर) ४९३४४५

९६१. सौ. कल्पना सुरेश संचेती
१५, गोपाल टेरेस
कस्तुर पार्क, शिपोली रोड
बोरीवली (पश्चम)
पो. बम्बई ४०० ०९२

९६२. श्री अशोककुमार जैन
पी-२२९, रामकृष्ण समाधि रोड
कांकुडगाछी
पो. कलकत्ता ७०० ०५४

९६३. श्री विनोद जैन
बी-८००, झवेरी स्ट्रीट
चकला के पास
पो. भड़ौंच ३९२ ००१ (गुज.)

९६४. श्री जयकुमार जैन
११४, पुराना वार्ड नं. १
पो. दमोह ४७० ६६१ (म.प्र.)

९६५. श्री पदमचन्द्र जैन हल्दीवाले
पुराने थाने के पीछे, पुराना बाजार
पो. दमोह ४७० ६६१ (म.प्र.)

९६६. श्री एम. सी. जैन
जैन धर्मशाला के पास
पो. दमोह ४७० ६६१ (म. प्र.)

९६७. श्री सुरेन्द्रकुमार नायक
द्वारा : नायक ब्रदर्स, गाँधी चौक
पो. दमोह ४७० ६६१ (म. प्र.)

९६८. डॉ. ए. सी. एस. जैन
१५, लाड कॉलोनी
पो. इन्दौर ४५२ ००३ (म. प्र.)

९६९. श्री ओरोबिन्दो पब्लिकेशन
२८, जैन नगर
न्यू शारदा मन्दिर रोड, पालडी
पो. अहमदाबाद ३८० ००७ (गुज.)

९७०. श्री युवराज गढ़ावाल
म. नं. ३१७, मंगली बजरिया
हनुमान ताल
पो. जबलपुर ४८२ ००१ (म.प्र.)

९७१. श्री देवकुमार उजियामूरी
म. नं. ४३४, नन्हें जैन मन्दिर के
पास, हनुमान ताल
पो. जबलपुर ४८२००१ (म.प्र.)

९७२. श्री जीतयशाश्री फाउण्डेशन
९-सी, एस्प्लेनेड रो (ईस्ट)
पो. कलकत्ता ७०० ०६९

९७३. श्री वीरचन्द प्रदीपकुमार जैन
श्री घनश्यामदास शर्मा का मकान
२२, न्यू तिलकनगर
पो. फीरोजाबाद २८३ २०३ (उ.प्र.)

९७४. श्री जयचन्दलाल डागा
यूनाइटेड इण्डस्ट्रीज
३०/१३ वाँ क्रॉस
विल्सन गार्डन
पो. बंगलौर ५६० ०२७ (कर्नाटक)

९७४. श्री श्वेताम्बर स्थानकवासी जैन
पुस्तकालय
द्वारा : श्री कीर्तिकान्त के. कापडिया
जिम्टी, त्रण दरवाजा के पास
पो. खंभात ३८८ ६२० (गुज.)

९७६. साध्वी श्री रमणीककुँवरजी
श्री वर्धमान स्थानकवासी
उपासना-गृह, बड़ी पाती, राजवाड़े
के पास, मुक्ति मार्ग
पो. देवास ४५५ ००१ (म.प्र.)

९७७. श्री भँवरलाल सेठिया
द्वारा : सेठिया प्लास्टिक वर्क्स
१० , ओल्ड चायना बाजार
पो. कलकत्ता ७०० ००१

तीर्थंकर : सोलहवाँ वर्ष (मई १९८६-अप्रैल ८७)*

लेखानुक्रम

अण्डा शाकाहार नहीं है : नवम्बर, आवरण पृष्ठ २।

'अण्डे सबको भायें' : दूरदर्शन या अ-दूरदर्शन : डॉ. नेमीचन्द जैन, जुलाई, पृ. ७।

अध्यात्म और विज्ञान : युवाचार्य महाप्रज्ञ, दिसम्बर, पृ. ७।

अनासक्ति : पा सकते हैं इसे हम क्या ? : अभिलाषकुमार, मई, पृ. १९।

अपरिग्रह : ममत्व-विसर्जन की कला : डॉ. नेमीचन्द जैन, नवम्बर, पृ. ३४।

असंभव है उन्हें जगाना (कविता) : डॉ. रघुनन्दन चिले, दिसम्बर, पृ. २३।

अस्तित्व और व्यक्तित्व : युवाचार्य महाप्रज्ञ, अक्टूबर, पृ. ९।

अहिंसा : सैद्धान्तिक/व्यावहारिक (प्रतिक्रिया) : डॉ. प्रद्युम्नकुमार जैन, जून, पृ. ४१।

आँख मिला सकेंगे क्या ? : संपादकीय, नवम्बर, पृ. ३।

आत्मा/पुद्गल-परमाणु : अगस्त-सितम्बर, आवरण पृ. ४।

आस्तिक कौन ?, नास्तिक कौन ? : डॉ. एम. पी. पटैरिया, जून, पृ. १९।

इसीलिए (कविता) : साध्वी अक्षयश्री 'आखा', अग.-सित., पृ. १३९।

उपवास : संपादकीय, मई, पृ. ३।

* चूंकि प्रस्तुत विशेषांक अप्रैल '८७ का संयुक्तांक है, अतः सम्बन्धित सामग्री यहाँ अनुक्रमित नहीं है, इसे पृष्ठ ३ पर देखिये।

उपवास करें, लंघन नहीं : मई, आवरण पृ. ४।

उपवास तो कर रही हैं मदर टेरेसा : डॉ. नेमीचन्द जैन, मई, पृ. १३।

उपवास : प्रकृति, परिभाषा, प्रयोग, प्रयोजन : प्रलयंकर, मई, पृ. ७।

उपवास शब्द-कोश : संपा.- डॉ. नेमीचन्द जैन, मई, पृ. ३५।

उपवास से होती है निर्जरा : डॉ. आदित्य प्रचण्डिया 'दीति', मई, पृ. १७।

ऐसा कोई जादू-टोना नहीं है : दिस., आवरण पृ. ४।

ओरसों न कबहू प्रगट (पद) : बनारसीदास, अग.-सित., पृ. ३२।

कर्मवीर स्व. भाऊराव पाटील : डॉ. नेमीचन्द जैन, जनवरी, पृ. ११।

क्रान्ति : अर्थ और प्रयोजन : डॉ. उम्मेदमल मुनोत, दिस., पृ. १९।

कैसी होगी शिष्य-परम्परा ? : डॉ. एम. पी. पटैरिया, अक्टूबर, पृ. १७।

कैसे सोचें ? : युवाचार्य महाप्रज्ञ, समीक्षा, अग.-सित., पृ. १३४।

कोउ न टरत है (पद) : बनारसीदास, अग.-सित., पृ. ३१।

ख़त; जो अन्तिम नहीं है (आखिर, करेंगे क्या डिग्रियाँ लेकर ?) : अग.-सित., पृ. १३७; आवास पर भोज, क्या शोषण हिंसा नहीं है ?, मई, पृ. २९;—कितने महँगे हुए हैं हमारे साधु ?, जुलाई, पृ. ३९; दिस., पृ. ४१ : गणेश ललवानी।

खायें : क्या, क्या नहीं; करें : क्या, क्या नहीं : संपादकीय, दिस., पृ. ३।

घोड़ा मन – लगाम संयम : जनवरी, आवरण पृ. ४।

चलो क्रोध करें : संपादकीय, जून, पृ. ३।

जगदीशचन्द्र बसु और जीव-जड़-प्रतिक्रिया : देवेन्द्रनाथ बसु, अक्टू., पृ. २१।

जीने की कला : दस चरण (कविता) : मुनि चन्द्रप्रभसागर, जु., पृ. १८।

'जैन' कोई जाति है या महज धर्म???: डॉ. अनिलकुमार जैन, जु., पृ. ११।

जैन पत्र-पत्रिकाएँ : खोजें, प्रयोग करें, पहरा दें (बातचीत) : अक्षयकुमार जैन/डॉ. नेमीचन्द जैन, जून, पृ. ११।

जैनिज्म (सम एस्सेज़; अंग्रेजी; : पं. दलसुखभाई मालवणिया, समीक्षा, अग.-सित., पृ. १३३।

जैनधर्म की विशेषताएँ : रामधारीसिंह 'दिनकर', नव., पृ. २७।

जैन डायजेस्ट (क्वार्टरली न्यूज़ मैग्ज़ीन, अंग्रेजी, वर्ष ६, अंक ४) : समीक्षा, जनवरी, पृ. ३९।

जैन डायरेक्टरी १९८७ (अंग्रेजी; अमेरिका और कनाडा में रहने वाले जैनों की निर्देशिका), समीक्षा, जनवरी, पृ. ३७।

जैन भौतिकी शब्द-कोश : संपा.-डॉ. नेमीचन्द जैन, अग.-सित., पृ. १०९।

जैन विद्या (अर्द्धवार्षिक शोध-पत्रिका; अप्रैल १९८६) : समीक्षा, अक्टू. पृ. ३६।

जैन साहित्य : तकादे और चुनौतियाँ : डॉ. अनिलकुमार जैन, जून, पृ. २७।

तत्त्वार्थसूत्र : पाँचवाँ अध्याय : अनु.-डॉ. नेमीचन्द जैन, अग.-सित., पृ. ८९।

तिनका ही सही किन्तु ससम्मान : जुलाई, आवरण पृ. ४।

तीन क्षण (कविताएँ) : डॉ. आदित्य प्रचण्डिया 'दीति', नव., पृ. १८।

दुहूँ माहि दोर-धूप (पद) : बनारसीदास, मई, पृ. २४।

धम्मु ण पोत्थापिच्छियइँ : जून, आवरण पृ. ४।

धर्म/ईथर : नाम दो, स्वरूप एक : डॉ. एम. पी. पटैरिया, अग.-सित., पृ. १०५।

नयन पथगामी भवतु मे (महावीराष्टक का राजस्थानी अनुवाद) : अनु.-विपिन जारोली, जु., पृ. १५।

णमोकार और गणित : बाबूभाई गिरधरलाल काडीवाला संघवी; भावानुवाद-डॉ. नेमीचन्द जैन, जून, आवरण पृ. २।

पँखुरी-से झरो (कविता) : मिश्रीलाल जैन, अक्टू., पृ. ७।

प्रतिक्रमण सूत्र (अंग्रेजी) निर्वाणसागर, समीक्षा, अग.-सित., पृ. १३३।

प्रवास एक : यात्राएँ दो (यात्रा-वृत्तान्त) : डॉ. नेमीचन्द जैन, दिस., पृ. ३६।

पदार्थ का अन्तिम कण : डॉ. अनिलकुमार जैन, अग.-सित., पृ. २५।

पढ़ : लिखा हुआ नहीं, लखा हुआ (पद) : बनारसीदास, अक्टू., पृ. १६।

पढ़ें : जब कभी; इसमें-से आगे और : संपा.-डॉ. नेमीचन्द जैन, अग.-सित, पृ. ५५।

परमाणु-कथा : संपादकीय, अग.-सित. पृ. ५।

परमाणु का अवबोध : युवाचार्य महाप्रज्ञ, अग.-सित., पृ. ५१।

परमाणु : क्षितिज-के-बाद-क्षितिज : चक्रेशकुमार जैन, अग.-सित. आवरण पृ. २।

परिवर्तन के सूत्र : युवाचार्य महाप्रज्ञ नव., पृ. १९।

पुद्गल : क ख ग से क्ष त्र ज्ञ : जिनेन्द्र वर्णी, अग.-सित., पृ. ३९।

पुद्‌गल के करतब : पुद्‌गल के चमत्कार : कन्हैयालाल सरावगी, अग.-सित., पृ. १२५।

पुद्‌गल : जैन दर्शन और आधुनिक विज्ञान : डॉ. दुलीचन्द्र जैन, अग.-सित., पृ. १७।

पुद्‌गल : दर्शन और विज्ञान के झरोखे से : गोपीलाल 'अमर', अग.-सित., पृ. ५७।

पुद्‌गल नृत्य करे अति भारी (पद) : बनारसीदास, अग.-सित., पृ. ३१।

पुरुषार्थ यानी खुद की तथा दूसरों की सही समझ : कन्हैयालाल सरावगी, जु., पृ. १९।

प्रेस कानून और पत्रकारिता : संजीव भानावत, समीक्षा, जून, पृ. ३८।

फिर देखेंगे (कविता) : डॉ. रघुनन्दन चिले, अक्टू., पृ. ८।

बढ़ा चला आता है प्रलय (कविता) : दिनकर सोनवलकर, जन., पृ. ९।

बिजली-की कौंध-सा क्रोध पाषाण-रेखा-सी मैत्री : अक्टू., आवरण पृ. ४।

भक्तिमार्गनी आराधना (गुजराती) : आत्मानन्दजी (डॉ. सोनेजी), समीक्षा, जून, पृ. ३९।

भगवान् पार्श्वनाथ : खोज जारी रखें : डॉ. मंगल मेहता, जु., पृ. ३१।

भारतीय समाज पर जैनधर्म का स्थायी प्रभाव : आर. वेंकटरामण, अग.-सित., पृ. १४५।

भिन्न लखे लखि के निरवारे (पद) : बनारसीदास, अग.-सित., पृ. ३२।

भीतर कोलाहल है (कविता) : मिश्रीलाल जैन, अक्टू., पृ. ७।

मन्त्र और मन्त्र-विज्ञान : डॉ. रवीन्द्र-कुमार जैन, नव., पृ. ७।

मृत्युञ्जय बन जाओ (कविता) : मगनलाल 'कमल', अक्टू., पृ. ६।

मौलिक कण की खोज-यात्रा : अशोक-कुमार सक्सेना, अग.-सित., पृ. ११७।

यह है जीने की कला : मुनि सुखलाल, समीक्षा, अग.-सित., पृ. १३३।

'यहाँ' और 'वहाँ' : एक अमेरिका-प्रवासी का पत्र : डॉ. दुलीचन्द्र जैन, अक्टू., पृ. ३१।

यादों के आईने में : श्रीमती राजकुमारी बेगानी, मई, पृ. २५।

यात्रा : मर्म तक (कविता) : डॉ. रवीन्द्रकुमार जैन, दिस., पृ. २४।

रेशम : खून से लथपथ हैं आपः प्रलयंकर, जु., पृ. २४।

वृक्ष-वध (कविता) : डॉ. देवेन्द्र दीपक, जून, पृ. ९।

वज्जालग्गं : अनु.-विश्वनाथ पाठक, समीक्षा, अग.-सित., पृ. १३४।

श्रमण-संस्था और सामाजिक परिवर्तन : सौभाग्यमल जैन, जन., पृ. २१।

श्रीमद् राजचन्द्र अने गांधीजी : एक अन्वय (गुजराती) : नेमचंद एम. गाला, समीक्षा, जून, पृ. ३७।

शरीर-में-मस्तक; वृक्ष-में-जड़; साधना-में-ध्यान : नव., आवरण पृ. ४।

शाकाहार : पौष्टिक, प्राकृतिक, सस्ता, स्वास्थ्यप्रद (बातचीत : आहार-विज्ञान) : डॉ. ए.सी.एस. जैन/डॉ. नेमीचन्द जैन, जन., पृ. २५।

शाकाहार : रात्रि-भोजन : मद्य-धूम्रपान : मृत्यु (बातचीत : चिकित्सा-विज्ञान) : डॉ. माणकचन्द अजमेरा/डॉ. डॉ. नेमीचन्द जैन, दिस., पृ. २५।

स्पर्शन-इन्द्रिय का स्थान प्रथम क्यों ? : मुनि धनंजय, दिस., पृ. १५।

स्व. अण्णा साहेब लट्ठे : जीवन व कार्य (मराठी) : यशवन्त दादा मद्वाण, समीक्षा, अक्टू., पृ. ३७।

सतवाणी (कविता) : कन्हैयालाल सेठिया, अक्टू., पृ. ५।

सदियों बाद बदलते युग थे, अब तो रोज बदलते हैं (कविता) : नथमल लूणिया, नव., पृ. १७।

सांवत्सरिक महापर्व : गणितीय खोजबीन : बसन्तीलाल मुणोत, अक्टू., पृ. २६।

सांवत्सरिक महापर्व (प्रतिक्रिया) : मुनि श्रीचंद 'कमल', दिस., पृ. ४४।

साधना का सोना; मुनि सुखलाल, समीक्षा, अक्टू., पृ. ३८।

साधुवाद : संपादकीय, जन., पृ. ३।

साक्षेपतावाद और अनेकान्तवाद : डॉ. नेमीचन्द जैन, अग.-सित., पृ. २३।

सुमतिबाई-अमृत महोत्सव : उप-संपादकीय, जन., पृ. ४०।

हम अन्धे/पाँच अन्धे : संपादकीय, अक्टू., पृ. ३।

हाथ मिला सकते हैं धर्म और विज्ञान : प्रलयंकर, अग.-सित., पृ. ११।

हिंसानन्द : संपादकीय, जु., पृ. ३।

लेखकानुक्रम

अनिलकुमार जैन, डॉ. : अहिंसा : सैद्धान्तिक/व्यावहारिक, जून, पृ. ४१;—'जैन' कोई जाति है या महज धर्म ???, जु., पृ. ११;—जैन साहित्य : तकादे और चुनौतियाँ, जून, पृ. २७;—पदार्थ का अन्तिम कण, अग.-सित., पृ. २५।

अभिलाषकुमार : अनासक्ति : पा सकते हैं इसे हम क्या ? मई, पृ. १९।

अक्षयकुमार जैन : जैन पत्र-पत्रिकाएँ : खोजें, प्रयोग करें, पहरा दें (बातचीत) डॉ. नेमीचन्द जैन के साथ, जून, पृ. ११।

अक्षयश्री 'आखा', साध्वी : इसीलिए (कविता) : अग.-सित., पृ. १३९

अशोककुमार सक्सेना : मौलिक कण की खोज-यात्रा, अग.-सित., पृ. ११७।

आदित्य प्रचण्डिया 'दीति', डॉ. : उपवास से होती है निर्जरा, मई, पृ. १७;—तीन क्षण (कविताएँ), नव., पृ. १८।

आर. वेंकटरामन : भारतीय समाज पर जैनधर्म का स्थायी प्रभाव, अग.-सित., पृ. १४५।

उम्मेदमल मुनोत, डॉ. : क्रान्ति : अर्थ और प्रयोग, दिस., पृ. १९।

एम. पी. पटैरिया, डॉ. : आस्तिक कौन ?, नास्तिक कौन ?, जून, पृ. १९;—कैसी होगी शिष्य-परम्परा, अक्टू., पृ. १७;-धर्म/ईथर : नाम दो, स्वरूप एक, अग.-सित., पृ. १०५।

ए. सी. एस. जैन, डॉ. : शाकाहार : पौष्टिक, प्राकृतिक, सस्ता, स्वास्थ्यप्रद (बातचीत) डॉ. नेमीचन्द जैन के साथ, जन., पृ. २५।

कन्हैयालाल सरावगी : पुद्गल के करतब : पुद्गल के चमत्कार, अग.-सित., पृ. १२५;—पुरुषार्थ यानी खुद की तथा दूसरों की सही समझ, जु., पृ. १९।

कन्हैयालाल सेठिया : सतवाणी (कविता), अक्टू., पृ. ५।

गणेश ललवानी : खत, जो अन्तिम नहीं हैं (आखिर, करेंगे क्या डिग्रियाँ लेकर ?), अग.-सित., पृ. १३७;—आवास पर भोज, क्या शोषण हिंसा नहीं है ?,

मई, पृ. २९;–कितने महँगे हुए हैं हमारे साधु ?, ज., पृ. ३९;-दिस., पृ. ४१।

गोपीलाल 'अमर': पुद्गल: दर्शन और विज्ञान के झरोखे से, अग.-सित., पृ. ५७।

चक्रेशकुमार जैन: परमाणु: क्षितिज-के-बाद-क्षितिज, अग.-सित., आवरण पृ. २।

चन्द्रप्रभसागर, मुनि: जीने की कला: दस चरण (कविता): जु., पृ. १८।

जिनेन्द्र वर्णी: पुद्गल: क ख ग से क्ष त्र ज्ञ, अग.-सित., पृ. ३९।

दिनकर सोनवलकर: बढ़ा चला आता है प्रलय (कविता), जन., पृ. ९।

दुलीचन्द्र जैन, डॉ.: पुद्गल: जैन दर्शन और आधुनिक विज्ञान, अग.-सित., पृ. १७;–'यहाँ' और 'वहाँ': एक अमेरिका-प्रवासी का पत्र, अक्टू., पृ. ३१।

देवेन्द्र दीपक, डॉ.: वृक्ष-वध (कविता), जून, पृ. ९।

देवेन्द्रनाथ बसु: जगदीशचन्द्र बसु और जीव-जड़-प्रतिक्रिया, अक्टू., पृ. २१।

धनंजय, मुनि: स्पर्शन-इन्द्रिय का स्थान प्रथम क्यों ?, दिस., पृ. १५।

नथमल लूणिया: सदियों बाद बदलते युग थे, अब तो रोज बदलते हैं (कविता), नव., पृ. १७।

नेमीचन्द जैन, डॉ.: 'अण्डे सब को भावें': दूरदर्शन या अ-दूरदर्शन, जु., पृ. ७;–अपरिग्रह: ममत्व-विसर्जन की कला, नव., पृ. ३४;–आँख मिला सकेंगे क्या ? (संपा.), नव., पृ. ३;–आत्मा / पुद्गल परमाणु (संक.) अग.-सित., आवरण पृ. ४;–उपवास (संपा.), मई, पृ. ३;–उपवास कर रही हैं मदर टेरेसा, मई, पृ. १३;-उपवास करें, लंघन नहीं (संक.) मई, आवरण पृ. ४;-उपवास शब्द-कोश (संपा.), मई, पृ. ३५; ऐसा कोई जादू-टोना नहीं है (संक.), दिस; आवरण पृ. ४;-कर्मवीर स्व. भाऊराव पाटील, जन., पृ.११; –खायें: क्या, क्या नहीं; करें: क्या, क्या नहीं (संपा.), दिस., पृ. ३;-घोड़ा मन – लगाम संयम (संक.), जन., आवरण पृ. ४;-चलो क्रोध करें (संपा.), जून, पृ. ३;-जैन पत्र-पत्रिकाएँ: खोजें, प्रयोग करें, पहरा दें (बातचीत) अक्षयकुमार जैन के साथ, जून, पृ. ११;-जैन भौतिकी शब्द-कोश (संपा.), अग.-सित., पृ. १०९;-तत्वार्थसूत्र: पाँचवाँ अध्याय (अनु.), अग.-सित., पृ. ८९;-तिनका ही सही किन्तु ससम्मान (संक.), जु., आवरण पृ. ४;-धम्मु ण पोत्थापिच्छियइँ (संक.), जून, आवरण पृ. ४;-प्रवास एक: यात्राएँ दो (यात्रा-वृतान्त), दिस., पृ. २६;-पढ़ें: जब कभी, इसमें से, आगे और (संक.), अग.-सित., पृ. ५५;-परमाणु-कथा (संपा.), अग.-सित., पृ. ५;-बिजली की कौंध-सा क्रोध पाषाण-रेखा-सी मैत्री (संक), अक्टू; आवरण पृ. ४;-शरीर-में-मस्तक; वृक्ष-में-जड़; साधना-में-ध्यान (संक.), नव., आवरण पृ. ४;–शाकाहार: पौष्टिक, प्राकृतिक, सस्ता, स्वास्थ्यप्रद (बातचीत) डॉ. ए. सी. एस. जैन के साथ, जन., पृ. २५;-शाकाहार: रात्रि-भोजन: मद्य-धूम्रपान: मृत्यु (बातचीत) डॉ. माणकचन्द अजमेरा के साथ, दिस., पृ. २५;-साधुवाद (संपा.), जन., पृ. ३;-साक्षेपतावाद और अनेकान्त-वाद, अग.-सित., पृ. ३३;-सुमतिबाई-अमृत महोत्सव (उप संपा.), जन., पृ. ३०;-हम अन्धे/पाँच अन्धे (संपा.), अक्टू., पृ. ३;-हिंसानन्द (संपा.), जु., पृ. ३।

प्रलयंकर: उपवास; प्रकृति, परि-भाषा, प्रयोग, प्रयोजन, मई, पृ. ७;

-खून से लथपथ हैं आप, जु., पृ. २४;-हाथ मिला सकते हैं धर्म और विज्ञान, अग.-सित., पृ. ११ ।

बाबूलाल गिरधरलाल कादीवाला संघवी : णमोकार और गणित, जून, आवरण पृ. २ ।

बनारसीदास, कविवर; ओरसों न कबहू (पद), अग.-सित., पृ. ३२;-कोउ न टरत है (पद), अग.-सित., पृ. ३१;-दुहूँ माहि दोर-धूप (पद), मई, पृ. २४;- पढ़ : लिखा हुआ नहीं, लखा हुआ (पद), अक्टू., पृ. १६;-पुद्गल नृत्य करे अति भारो। (पद), अग.-सित., पृ. ३१;-भिन्न लेखे लखि के निरवारे (पद), अग.-सित., पृ. ३२ ।

बन्सीलाल मुणोत : सांवत्सरिक महापर्व : गणितीय खोजबीन, अक्टू., पृ. २६ ।

मंगल मेहता, डॉ. : भगवान् पार्श्वनाथ : खोज जारी रखें, जु., पृ. ३१ ।

मगनलाल 'कमल' : मृत्युंजय बन जाओ (कविता), अक्टू., पृ. ६ ।

महाप्रज्ञ, युवाचार्य : अध्यात्म और विज्ञान, दिस., पृ. ७;-अस्तित्व और व्यक्तित्व, अक्टू., पृ. ९;-परमाणु का अवबोध, अग.-सित., पृ. ५१;-परिवर्तन के सूत्र, नव., पृ. १९ ।

माणकचन्द अजमेरा (एम. सी. अजमेरा), डॉ. : शाकाहार : रात्रि-भोजन : मद्य-धूम्रपान : मृत्यु (बातचीत : चिकित्सा-विज्ञान) डॉ. नेमीचन्द जैन के साथ, दिस., पृ. २५ ।

मिश्रीलाल जैन : पंखुरी से झरो (कविता), अक्टू., पृ. ७;-भीतर का कोलाहल है (कविता), अक्टू., पृ. ७ ।

रघुनन्दन चिले, डॉ. : असंभव है उन्हें जगाना (कविता), दिस., पृ. २३;-फिर देखोगे (कविता), अक्टू., पृ. ८ ।

रवीन्द्रकुमार जैन, डॉ. : मन्त्र और मन्त्र-विज्ञान, नव., पृ. ७;-यात्रा : मर्म तक (कविता), दिस., पृ. २४ ।

राजकुमारी बेगानी श्रीमती : यादों के आईने में, मई, पृ. २५ ।

रामधारीसिंह 'दिनकर' : जैनधर्म की विशेषताएँ, नव., पृ. २७ ।

विपिन जारोली : नयन पथगामी भवतु मे (महावीराष्टक का राजस्थानी अनुवाद), जु., पृ. १५ ।

श्रीचंद 'कमल', मुनि : सांवत्सरिक महापर्व (प्रतिक्रिया), दिस., पृ. ४४ ।

सौभाग्यमल जैन : श्रमण-संस्था और सामाजिक परिवर्तन, जन., पृ. २१ ।

□□

तीर्थंकर **के गत सोलह वर्षों की सजिल्द फाइलें उपलब्ध**

वर्ष १, २ (अपूर्ण); प्रत्येक का मूल्य रु. २०-००; वर्ष ३ से १६ प्रत्येक का मूल्य रु. ४०-००

- फाइलों के संपूर्ण सेट का मूल्य रु. ५००-००
- रजिस्ट्री चार्ज एक फाइल का रु. १०-००, इसके बाद हर फाइल पर रु. २-०० अधिक। रेल्वे पार्सल से भेजने पर रेल्वे-भाड़ा और पेकिंग चार्ज रु. ३०-०० ।
- वी. पी. पी. नहीं की जाएगी । अग्रिम मूल्य मनीआर्डर/बैंक ड्राफ्ट से ही भेजिये ।

संपर्क : **प्रबंध संपादक, 'तीर्थंकर'**; ६५, पत्रकार कालोनी, कनाड़िया रोड, इन्दौर-४५२००१ (म. प्र.)

A Trusted Name in

'TERENE' & 'TERENE' BLENDED
SUITINGS ○ SHIRTINGS ○ SAREES

Phone : 29 84 32 / 31 58 33
Grams : 'Ashokamills', Bombay 400 026
Telex : 011-2952

Registered Office :

S. KUMARS

"NIRANJAN"

99, Marine Drive, BOMBAY-400 002

भारतीय ज्ञानपीठ

गौरवशाली प्रकाशन परम्परा में नये कीर्तिमान

○ **गूंगे सुर बाँसुरी के** (कहानी संग्रह)—पन्नालाल पटेल

ज्ञानपीठ पुरस्कार विजेता गुजराती के विख्यात कथाकार पन्नालाल पटेल की चुनी गई श्रेष्ठ कहानियों का संग्रह। 45/-

○ **महाभारती** (उपन्यास)—डॉ. चित्रा चतुर्वेदी "कार्तिका"

महाभारत की प्रमुख नारी पात्र द्रौपदी के ओजस्वी व्यक्तित्व को उजागर करने वाली एक सशक्त कृति। 50/-

○ **शान्तला** (उपन्यास) चार भागों में—सी. के. नागराजराव

कर्नाटक के होयसल राजवंश की तीन पीढ़ियों का समूचा जीवन-परिवेश प्रस्तुत करने वाला विशाल ऐतिहासिक उपन्यास। 45/-, 55/-, 55/-, 55/-

○ **भारतीय कहानियाँ** : 1984—संपादन : बालस्वरूप राही

भारतीय भाषाओं में वर्ष 1984 में प्रकाशित कहानियों में-से अग्रणी कथा-मर्मज्ञों द्वारा चुनी गई विशिष्ट कहानियाँ। कथाकारों के सचित्र परिचय-सहित। 55/-

○ **भारतीय कविताएँ** : 1984— संपादन : बालस्वरूप राही

भारतीय भाषाओं में वर्ष 1984 में प्रकाशित कविताओं में-से अग्रणी काव्य-मर्मज्ञों द्वारा चुनी गई 75 विशिष्ट कविताएँ। कवियों के सचित्र परिचय-सहित। 55/-

○ **खिलाफ़ हवा से गुजरते हुए** (काव्य-संकलन)—विनोद दास

भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा आयोजित नयी पीढ़ी काव्य-प्रतियोगिता में सर्वश्रेष्ठ घोषित काव्य-संकलन। 25/-

○ **मुक्तिदूत** (पौराणिक उपन्यास)—वीरेन्द्रकुमार जैन

(मूर्तिदेवी साहित्य पुरस्कार, 1984 से सम्मानित)

अंजना और पवनंजय की प्रसिद्ध कथा पर आधारित उपन्यास का नया संस्करण, नयी साज-सज्जा के साथ। 30/-

जैन साहित्य : नये प्रकाशन

○ **Tiruvalluvar and his Tirukkural**

TIRUVALLUVAR, the author of the KURAL is said to have lived in the first century A.D. All religionists including the Christians claim Tiruvalluvar, but the internal evidence in the Kural—his definition of truth, his insistence on Ahimsa, his exhortations on non-killing and non-eating of meat and doing of no harm to living beings as well as his invocatory chapters on ascetics, householders etc., in addition as also his chapter of ten verses on Godhead—seems to speak out in no uncertain terms that by birth, and most certainly by conviction, he was Jain.

This book undertakes to spell out the implications of the tenets found in Kural and to relate them to Jaina doctrine as they should be.

Written by Ka Naa Subramanyam, a distinguished Tamil Writer. Price Rs. 45/-.

○ **षट्खण्डागम परिशीलन**

"षट्खण्डागम" 'जैन दर्शन और सिद्धान्त' का सर्वाधिक प्रामाणिक एवं महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। परम्परा से आचार्य-कुलों में, साधु-श्रावकों एवं विद्वन्-मण्डलियों में इसका उच्चस्तरीय अध्ययन-परिशीलन होता आया है। "षट्खण्डागम परिशीलन" इसी दिशा में एक ऐसे विद्वान् के चिन्तन-मनन का सुफल है जिसने मूल ग्रन्थ और उसकी टीकाओं का आलोड़न किया है, उनका सम्पादन किया है। षट्खण्डागम का अध्ययन उच्चतम एवं विशद स्तर पर जिन-जिन पहलुओं से किया जाना चाहिये वह सब प्रस्तुत परिशीलन में समाविष्ट है; जैसे—आगम-साहित्य की पृष्ठभूमि, ग्रन्थकारों और टीकाकारों की विवेचन-पद्धति, मूलग्रन्थ का विषय-परिचय, अन्य ग्रन्थों से तुलनात्मक अध्ययन, प्रमुख टीकाकार और टीकाएँ—इन सबका व्यापक परिप्रेक्ष्य में मूल्यांकन और इतिहास। सोलह जिल्दों में प्रकाशित षट्खण्डागम और उसकी टीकाओं में प्रयुक्त परिभाषिक शब्दों की वर्णानुक्रम से विस्तृत सूची भी इस ग्रन्थ में नियोजित है।

जैन दर्शन के अध्येताओं और शोधकर्ताओं के लिए एक अनुपम भेंट।

लेखक – पं. बालचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री। बड़ी साइज़ के लगभग एक हज़ार पृष्ठों में मूल्य 120/-।

भारतीय ज्ञानपीठ

१८, इन्स्टीट्यूशनल एरिया, लोदी रोड

नई दिल्ली - ११०००३

अहिंसा जीवन-धर्म है

अहिंसा, माता की गोद के समान, समस्त प्राणियों को अभय प्रदान करने वाली है। इस शब्द की मधुरता को चख कर प्राणियों के परस्पर वैरभाव का उपशम होता है। वैरभाव की निवृत्ति से हृदय में शान्ति की शीतल नदी प्रवाहित होती है। शान्ति की इस जलधारा में अवगाहन करने वाला विश्व ही तत्त्व-चिन्ता की ओर प्रवृत्त हो सकता है। इस प्रकार अहिंसा परम्परा-सम्बन्ध से तत्त्व-चिन्ता-परिणामी मोक्ष के लिए मुख्य साधन है।

—प. पू. एलाचार्य मुनिश्री विद्यानन्द

भारत रेडिएटर्स प्रा. लिमिटेड

मुख्य कार्यालय
८१, बजाज भवन
नरीमन पॉइंट
बम्बई-४०० ०२१
दूरध्वनि : २०२००८५, २०२१४९७
तार : स्मूथरन

कारखाना
विद्यानगरी मार्ग
कालिना, सांताक्रुझ
बम्बई-४०० ०९८
दूरध्वनि : ६१२२९६५, ६१२३४५७
तार : प्रेसवर्क

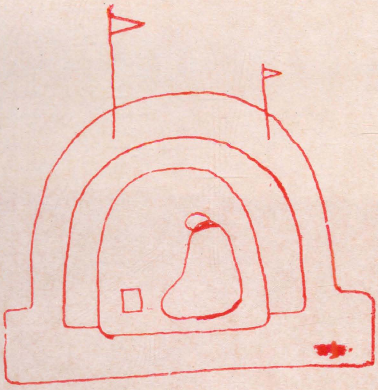

ज्ञान मल्लाह : ध्यान वायु : चारित्र नौका

- ☐ धीर, वैराग्य-में-कमर-कसे संयमी निश्चय ही थोड़ी भी शिक्षा पा कर फलीभूत हो जाते हैं; किन्तु वैराग्य-से-रिक्त मुनि सर्वशास्त्रों में पारंगत हो कर भी सफल नहीं हो पाते।
- ☐ जो चारित्र-से-परिपूर्ण है, वह तनिक भी शिक्षित होने पर बहुश्रुतधारी श्रमण को जीत लेता है; किन्तु जो चारित्र-से-खाली है, उसके बहुश्रुत/अधीत होने में भी कोई सार्थकता नहीं है।
- ☐ ज्ञान प्रकाशक है, तप शोधक है, और संयम रक्षक है – इन तीनों के संतुलित संयोग से ही जीवन की सार्थकता बनती है।
- ☐ क्रिया-रहित ज्ञान, संयम-रहित वेष-धारण और सम्यक्त्व-से-रीते तप जो भी करते हैं, वे पाषाण पर तीर चलाते हैं, या बालू की रेत पर मजबूत किला बनाना चाहते हैं।
- ☐ ज्ञान खेवटिया हो, ध्यान वायु हो, और संयम रक्षक हो तो फिर कोई भी भव्य जीव इन तीनों के सुखद संयोग से इस दुस्तर संसार-सागर को तिर सकता है।
- ☐ सम्यक्त्व से ज्ञान होता है, ज्ञान से पदार्थ-बोध होता है, और पदार्थ-बोध से अच्छे-बुरे-खरे-खोटे, तथा हित-अहित की स्पष्ट पहिचान बनती है।
- ☐ भली भाँति पढ़ा और भली भाँति गुना संपूर्ण ज्ञान भी किसी भ्रष्ट-चारित्र श्रमण को अपने गंतव्य तक नहीं ले जा सकता।
- ☐ यदि दीपक हाथ में लिये कोई आदमी गड्ढे में गिरता है, तो इसमें दीपक बेचारे का क्या दोष है? यदि कोई सुशिक्षित हो कर भी अनीति-की-राह पर चलता है, तो उसके लिए शिक्षा कैसे उत्तरदायी हो सकती है?
- ☐ वर्षों में मत गिनो – उदात्तता, श्रेष्ठता और सम्यक्त्व में गिनो; क्योंकि बहुत से निष्काम चित्त श्रमण सिर्फ तीन रातों में ही सिद्ध हुए हैं। "मैं बहुत काल से श्रमण हूँ", यह श्रेष्ठता की कसौटी नहीं है, श्रेष्ठता की है – "क्या मुझमें असली श्रमणत्व है?"

[श्री दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्रीमहावीरजी (राजस्थान) द्वारा प्रचारित]

आई.डी.सी./एम.बी./६२

फरवरी/अप्रैल १९८७